मातृदेवो भव



मातृदेवोभव

सम्पादक ◘ पं॰ अक्षयचन्द्र शर्मा

सहयोग ◘ श्रीकान्ता, शोभा, कृष्णा

परामर्श ◘ ओंकार शरद

प्रेरणा ◘ कृष्ण कुमार कनोई

उमा कनोई





दिवंगता माँ
के पावन चरणों में
उनकी जन्मतिथि पर
विनीत संतति की
श्रद्धाकुसुमाञ्जलि

मुरलीधर, ओमप्रकाश, कृष्णा, हरिकृष्ण,
श्रीकान्ता, उमा, कृष्णकुमार,
करुणा, शोभा, सरिता,
आदित्य

उपासनम्



कहते हैं—देवताओं और दानवों ने मिलकर समुद्र को मथा था और उसमें अमृत निकाला था। हम धरती के रहनेवाले अमृत को नहीं जानते और न उसके मिठास को; लेकिन, धरती के पास लगता है, अमृत से बढ़कर कुछ है, वह है 'माँ'। बेचारा स्वर्ग इससे वंचित है। यह पयस्विनी माँ धरती को स्वर्ग से भी बढ़कर बना देती है। 'स्वर्गादपि गरीयसी।'

ऐसी अमृतमयी माँ की प्यार भरी गोद में हम भाई-बहन बड़े होते गये, अचानक जब वह छाया गुम हो, गई तो हमने अपने को दुपहरी के खुले आसमान के नीचे बेसहारा पाया। चारों ओर अँधेरा, गहरा विषाद, व्याकुल बनानेवाली यादें और दूर-दूर तक फैला सूना आसमान। प्रकृति में जैसे पट-परिवर्तन होता है और अचानक क्षितिज पर कारे-कजरारे बादल छा जाते हैं, ऐसी ही कुछ हमारे साथ हुआ।

मेरे छोटे भाई मुन्ना ने जैसे हमारे मन के उमड़ते-घुमड़ते भावों को वाणी दी—"भैया! माँ तो ओंकार रूप हो गयीं, विश्वात्मा में विलीन हो गयीं।" इन शब्दों ने हमें चौंका दिया, जगा दिया। विषाद के भीतर भगवती का प्रसाद प्रकट होने लगा। उसी का यह सुफल है—'मातृदेवो भव' का प्रकाशन।

भावना तो थी, पर उसे रूपाकार कैसे मिले! हमारे आदरणीय पं० अक्षयचन्द्र शर्मा ने गुरु उत्तरदायित्व पूर्ण ग्रन्थ-सम्पादन के कार्य को अपने ऊपर लेकर हमारे स्वप्न को साकार बनाया, और उसे ठोस आधार प्रदान किया। ये हमारे परिवार के बहुत आत्मीय हैं, ये चाहे इसे पसन्द न करें, फिर भी इनके प्रति आभार प्रकट करते हुए मुझे हार्दिक सन्तोष का अनुभव हो रहा है। श्रम एवं प्रतिभासाध्य इस कार्य को इन्होंने निष्ठापूर्वक सम्पन्न किया है—यह ग्रन्थ इसका साक्षी है।

कभी-कभी ईश्वरीय अनुकम्पा से ऐसे सुयोग बैठ जाते हैं, जो अकल्पनीय होते हैं। प्रयाग निवासी साहित्यकार श्री ओंकार शरद का स्नेहभरा सहयोग हमें मिला है, इस ग्रन्थ के प्रकाशन के सिलसिले में ये दो बार हमारे यहाँ पधारे, उनके प्रति मैं किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ। भारत के सन्तों एवं विद्वानों ने इस अनुष्ठान को सफल बनाने में स्नेहभरा आशीर्वाद एवं विचार-सम्पदा से सहयोग दिया है, मैं, सभी के प्रति कृतज्ञ हूँ।

मन था—प्रकाशन सुष्ठु, सुरुचिपूर्ण हो। प्रयाग के विशिष्ट रूप सज्जाकार इम्पैक्ट के श्री राधेश्यामजी अग्रवाल ने हमारे ग्रन्थ के लिये भावानुरूप चित्र बनाकर, ग्रन्थ की शोभा बढ़ाई है। पुस्तक के आवरण-पृष्ठ को यशस्वी चित्रशिल्पी अरुण मॅल ने बनाया है। पुस्तक की

सौन्दर्य वृद्धि में एन० के० गोसाईं एण्ड कम्पनी के श्री देवी दा ने पथ-प्रदर्शन किया, ब्लाक आदि मुद्रित कर सक्रिय सहयोग दिया—उनके भद्र एवं स्नेहिल मधुर व्यवहार की हमारे हृदय पर गहरी छाप है।

श्री विमल सिंहजी श्रीमाल के उत्साहपूर्ण सहयोग के लिये मैं आभारी हूँ।

ग्रन्थ के प्रकाशन की समस्या सामने थी, मां की जन्म-तिथि पर इसके प्रकाशन की भावना थी। एक महीने के अन्दर-अन्दर श्री ज्ञानेन्द्र शर्मा ने व्यक्तिगत रुचि लेकर जनवाणी प्रिंटर्स द्वारा इसका मुद्रण कर हमें पूर्ण सहयोग दिया है। जनवाणी के मैनेजर श्री रामजी प्रसाद शर्मा एवं प्रेस के सभी कर्मचारियों के प्रति साधुवाद ज्ञापित करता हूँ।

हमारे कनोई परिवार ने, हमारे सगे-सम्बन्धियो ने, मां विषयक अपने-अपने स्नेह-भरे स्मरण भेजकर हमें अनुगृहीत किया है।

हमारे ऑफिस के एवं घर के कर्मचारियों ने भी इस कार्य में हार्दिक सहयोग दिया है, यह मेरे लिए उत्साहप्रद एव आनन्द का विषय है।

इस कार्य को मेरे भाई-बहनों, मेरी कुल-वधुओं एवं छोटे-बड़े—सभी ने धार्मिक अनुष्ठान की तरह समझा तथा इसे सुसम्पन्न करने में अपनी तन्मयता का परिचय दिया। यह मेरे लिये सुखद अनुभव है। यह मां की पुण्यप्रसादी है। मेरा परम प्रिय मित्र सहोदर समान श्याम माथुर ने परिवार के सदस्य के नाते मेरे भाई-बहनों के साथ मिलकर कार्यरत रहा, उसके लिये मैं भाव-विह्वल हूँ।

अनन्तश्री विभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर एवं द्वारका शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरुशंकराचार्य श्री स्वरूपानन्दजी सरस्वती महाराज के कर-कमलों द्वारा "मातृदेवो भव" ग्रन्थ का प्रकाश-समारोह सम्पन्न होने जा रहा है, महाराजश्री की हमारे पर महती कृपा है, हम उनके पादपद्मों में श्रद्धावनत हैं।

यह ग्रन्थ कैसा है, इसके लिये सुधीवृन्द प्रमाण है। मैं इतना अवश्य कहूँगा कि इसके पीछे हमारा उपासना का भाव है।

विनीत
मुरलीधर कनोई

१३/२, बालीगंज पार्क रोड,
कलकत्ता–७०००१९
दिनाक १४ जून, १९८५ ई०



पुरोवाक्



'मातृ' से 'मातृदेवो भव' तक की एक दीर्घ तप-यात्रा

शिशु मां का ही अवतार है, वह आत्मज है ; मां का सम्पूर्ण अस्तित्व दुग्ध-धारा में प्रवाहित होकर शिशु के संरक्षण, पोषण एवं संवर्धन में समर्पित हो जाता है। महामाया भगवती पराम्बा की यह मोहममतामयी लीला पशु-पक्षी से लेकर मानव-पर्यन्त एक-सी चलती है।

लेकिन, मनुष्य का एक उच्च-स्तर है—द्विजत्व पाने का, दूसरा जन्म पाने का। ब्रह्मचारी रूप में वह समित्पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के पास जाता है। दीर्घकालीन तपश्चर्या के बाद वह वेद-वदोङ्ग निष्णात स्नातक बनता है—

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति

आचार्य का समावर्तन-संस्कार के समय सर्वोपरि उद्घोष है—"मातृदेवो भव।" यह नया स्वर निनाद कैसा ? कहाँ गई—द्यावा, अन्तरिक्ष पृथिवी-स्थानीय देव-मण्डली ? लगता है—वेदोदधि मन्थन का यही अमृत कलश है। "मातृदेवो भव।"

कल्पना करता हूं, वह स्नातक अपने घर पहुंच रहा है। आरती उतारने, बलैया लेने, उसकी जराजीर्ण मां स्नेह-कम्पित खड़ी है। वत्स आज तेजस्वी तरुण है, उसके कर्ण-कुहरों में अंतिम उपदेश गूंज रहा है, 'मातृदेवो भव' मां अब उसके लिये साधारण मां मात्र नहीं है ; वह देवी है, उसके मुखमण्डल के चारों ओर आलोक का वृत्त है।

जिस परिवार में मा के ऐसे दिव्य रूप की अनुभूति होती है, वह घर स्वर्ग है। मैं जिस परिवार में मा का आदर-सत्कार एवं उसके प्रति सेवा-शुश्रूषा का भाव देखता हूं, तो मुझे लगता है—जैसे भारतीय संस्कृति-सुमन खिल रहा है।

स्व. लालचंदजी कनोई के परिवार में मैंने अनुभव किया कि यहां मां केन्द्र में रही है, इस परिवार की पुत्र-पुत्रियां, कुल-वधुएं पौत्र-पौत्रियां—मां की सेवा में निरन्तर रत रहीं। जैसे ही मां का स्नेहांचल हटा, तो सारे परिवार ने विषाद का, सूनेपन का अनुभव किया। परिवार की इस सेवा-भावना की चारों ओर से प्रशंसा हो रही थी कि मुझे मुन्ना (सबसे छोटा सुपुत्र) ने कहा—मां की हमने सेवा की, इसमें प्रशंसा की बात कैसी ? मा ने हमारे लिये कितना किया, प्रशंसा के योग्य मां है। फिर 'मातृदेवो भव' की रूपरेखा बनी। जब मुन्ना ने यह विचार सब के सामने रखा, तो सभी भाई-बहनों-भाभियों ने हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की, क्योंकि परिवार के सभी सदस्यों के मन में इस प्रकार के भाव उमड़-घुमड़ रहे थे।

'मातृदेवो भव' व्यक्ति मां के साथ-साथ सम्पूर्ण मातृत्व के चरणों में समर्पित स।

पुष्प पुंज है। प्रारंभ में यह छोटा उपक्रम था। जैसे ही ये विचार धर्माचार्यों, सन्तों, विद्वानों एवं सुधी मनीषियों के सामने रखे गये, तो सभी ने प्रेरक प्रोत्साहन दिया और वे सहयोग के लिये प्रतिश्रुत भी हुए। हमें मां के विविध रूपों को नये-नये परिप्रेक्ष्यों से देखने-समझने की नूतन दृष्टि-भंगी मिली।

लेखन एवं सम्पादन-कार्य में श्रीकान्ता (सुपुत्री) का कदम-कदम पर सहयोग रहा। मातृभक्ति खण्ड में मां के जीवन-वृत्त-लेखन में इसी को अधिकांश श्रेय है। कृष्णा (सुपुत्री) जो प्रयाग-विश्वविद्यालय में, राजनीति-विभाग में प्रवक्ता है, इसी ने भगीरथ प्रयत्न कर, अपने व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण-मातृतत्व के विविध आयामों से सम्बन्धित निबंध अधिकांश मनीषियों एवं विद्वान् लेखकों से प्राप्त किये, जिससे ग्रन्थ को सर्वाङ्गीण बनाने में हम सक्षम हो सके। शोभा (कुल-वधू) ने मां के जीवन वृत्त की रूप-रेखा तैयार की, लेखन में तन्मय हो सहयोग दिया और सम्पादन में गहरी रुचि ली।

सही बात तो यह है कि सभी सदस्यों का, इस ग्रन्थ की रूपरेखा से लेकर पूर्णता तक, प्रेमभरा सोल्लास सहयोग रहा। जिनसे जिस तरह के सहयोग की अपेक्षा की, वह तत्काल मिला। पुत्र-वधुएं—करुणा एवं सरिता, सुपुत्र—ओमप्रकाश, हरिकृष्ण, पौत्र—आदित्य के साथ-साथ सभी छोटे-छोटे पौत्र-पौत्रियां—सभी इस अनुष्ठान में सहभागी रहे हैं।

उमा (सुपुत्री) ने प्रेरणा को सदा जाग्रत रखा, जहां शैथिल्य देखा, वहां सचेत किया और सभी को शृंखलाबद्ध रखने में अपना प्रभावी सहयोग दिया।

'मातृदेवो भव' आपके सामने है। पांच खण्डों में यह विभाजित है—मातृ-शक्ति, मातृ-गरिमा, मातृ-महिमा, मातृ-भक्ति एवं मातृ नीराजना। ग्रन्थ के पीछे पूजा का विनम्र भाव है। सभी पृष्ठ भक्ति की कोमल-भावना से आर्द्र हैं, श्रद्धा से पुलकित हैं।

मातृप्रसाद ही समझिये कि साहित्यकार ओंकार शरद का परामर्श सहज-सुलभ हुआ। भारत के सन्तों ने एवं प्रयाग, वाराणसी, सागर तथा कलकत्ता के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों ने अपनी सुचिन्तित रचनाओं से इस ग्रन्थ की गरिमा बढ़ाई है—हम इसके लिये हृदय से आभारी हैं।

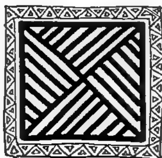
श्री ज्ञानेन्द्रजी शर्मा ने हमारे प्रेमानुरोध की रक्षा कर महीने भर में इस ग्रन्थ को जनवाणी प्रिंटर्स से मुद्रित करने की कृपा की, श्री धर्मराज शर्मा एवं श्री छेदीलाल गुप्त ने मुद्रण के समय रात-दिन एक कर इस ग्रन्थ को सुष्ठुरूप प्रदान किया है।

"मातृदेवो भव" ग्रन्थ के सम्पादन से लेकर प्रकाशन का सारा दायित्व जिस प्रेम, विश्वास और आत्मीयता से मुझे मुरलीधरजी कनोई ने, इनके सभी परिवार ने, सौंपा; इसके लिये मैं प्रशंसा का एक भी शब्द न कहकर मौन रहना पसन्द करूंगा। प्रेम तो अनुभवैक गम्य है।

मातृश्री पन्ना देवी की उपासना रूप से समर्पित यह ग्रन्थ व्यष्टि मां, विश्वात्मा मां एवं विश्वातीता मां के मर्मरूपों की एक झलक मात्र दे सके, तो हमारा प्रयास कृतार्थ है। अलमति विस्तरेण।

१०, चौरंगी रोड,
कलकत्ता-७०००१३

अक्षयचन्द्र शर्मा
(सम्पादक)



अर्घ्य

मातृ-शक्ति

मातृ-गरिमा

मातृ-महिमा

मातृ-भक्ति

मातृ-नीराजना

जननी, तोमार करुण चरणखानि
हेरिक आजि ए अरुण किरण रूपे।
जननी, तोमार मरण-हरण वाणी
नीरव गगने भरि भरि उठे चुपे-चुपे।

तोमारे नमि हे सकल भुवन माझे,
तोमारे नमि हे सकल जीवन काजे।
तनु मन धन करि निवेदन आजि
भक्ति पावन तोमार पूजार धूपे।

जननी, तोमार करुण चरणखानि,
हेरिनु आजि ए अरुण-किरण रूपे।

- रवीन्द्र नाथ टैगोर

(हिन्दी अनुवाद)

जननी, तेरे करुण चरण कल्याणी
देखे मैंने आज प्रभात किरण में,
जननी, तेरी मंजुल मनहर वाणी
झर-झर उठती चुप चुप मौन गगन में।

अखिल भुवन में माथा तुझे नवाऊँ
सब जीवन कर्मों में शीश झुकाऊँ,
तन मन धन सब आज निछावर कर दूँ
भक्ति धूप पावन पूजन-अर्चन में।

जननी, तेरे करुण चरण कल्याणी
देखे मैंने आज प्रभात किरण में।

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै। नमस्तस्यै। नमस्तस्यै नमो नमः॥



मातृ-शक्ति

शिवः शक्त्या युक्तो ननु भवति शक्तः प्रभवितुम्



अक्षयचन्द्र शर्मा

मातृदेवो भव

एक दिव्य दृश्य

सहस्राब्दों पूर्व का ; एक दिव्य दृश्य, तपोवन, सघन तरुच्छाया, आर्द्र वल्कलों के भार से झुकी शाखाएं, यज्ञ-धूम से धूमायित पल्लव-राजि, साम-गान से ध्वनित द्यावा-पृथिवी।

आज का वातावरण शान्त गम्भीर है ; ईषत् करुणार्द्र भी ; समावर्तन संस्कार है—अन्तेवासी आश्रम से विदा लेकर गृहस्थाश्रम की ओर प्रस्थान करने के लिए उद्युक्त हैं, आचार्य के पाद-पद्मों में श्रद्धावनत अन्तेवासी !

आचार्य का आज दीक्षान्त भाषण है। आचार्य अपने सम्पूर्ण ज्ञान को, सम्पूर्ण स्वानुभूतियों को, समाधिस्थ हो समेट रहे हैं। ध्यान स्तिमित अर्द्धोन्मीलित नेत्र—अपौरुषेय वाक् की प्रतीक्षा—सहसा ऋतम्भरा प्रज्ञा के प्रान्त से परावाक् का मेघ मन्द्र ध्वनि में स्फोट—

मातृदेवो भव

इस वाणी के इतस्ततः और भी वाक्य थे—वे सब समा गये और गूंज शेष रही—मातृदेवो भव।

हम नहीं जानते—ये दो अमृतपद किस ऋषि के मुखारविन्द से निःसृत

हुए ; हम यह भी नहीं जानते कि वह कौन भाग्यशाली स्नातक है, जिसे लक्ष्यीभूत कर—ये अक्षर (सचमुच अक्षर, अविनाशी) उच्चरित हुए।

मातृदेवो भव—यह हमारा सम्पूर्ण आर्यावर्त है, सप्त सिन्धु प्रदेश है, सारा भारत है। यह हमारा प्रथम संदेश है, अंतिम संदेश है—मध्य में है—विस्तार का अनन्त शब्द-सागर। यही श्रुति है, स्मृति है, आगम-निगम हैं, पुराण, शास्त्र, इतिहास, काव्य, कला, शिल्प—मानों इसी की धारावाहिक व्याख्याएँ हैं। 'मातृदेवो भव' में ही समाहित है—हमारा ऐहिक जीवन, आमुष्मिक जीवन, हमारा अभ्युदय-निःश्रेयस ; स्वार्थ-परमार्थ।

'मातृदेवो भव' फिर लघुतर हुआ—माता ; लघुतर से लघुतम हुआ मां'। अणु में विभु समा गया।

मां' शब्द का जब हम उच्चारण करते हैं, तो लगता है कोई शिशु अपनी तुतली अस्फुट वाणी में—सारी श्रद्धा को, कृतज्ञता को—भरकर पुकारता है—प्रभु को, आद्या शक्ति को, पृथिवी को—अपनी जननी को। यह पुकार अमोघ है—वह करुणामयी, वात्सल्यमयी—शक्ति-सौन्दर्यमयी-मां दौड़ पड़ती है। उसका स्नेहांचल तारक जटित नीलाम्बर के रूप मे छा जाता है, जिसकी शीतल छाया में श्रान्त-क्लान्त संसार विश्राम करता है।

"या देवी सर्व भूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै। नमस्तस्यै। नमस्तस्यै नमोनमः।"

हमारी वर्णमाला में वर्ण कण्ठ्य से प्रारम्भ होकर ओष्ठ्य में समाप्त हो जाते हैं—ओष्ठ से उच्चरित पवर्ग में 'म' अन्तिम वर्ण है—यानी हमारी वाक् का समापन। हमारे ओंकार की प्लुत ओ३म् ध्वनि के अन्त में भी अ–उ के बाद 'म' है—राम मे भी 'म' है। हमारा यही 'म' 'मां' मे है या 'मां' का ही 'म' ओ३म् और राम में अनुरणन करता है।

छोटा ध्वनिगर्भी शब्द माँ !

मां की महिमा अपार है। कुसुम की कोमलता, वज्र की कठोरता, सागर की गंभीरता, पृथिवी की सहिष्णुता, गंगा की पवित्रता, चाँदनी की शीतलता—एक साथ—एक जगह कहीं मिल पावें तो उसका नाम होगा—मां। माँ श्री है, माँ शक्ति है, माँ करुणा है, प्रेम ही प्रेम है, देना केवल देना—यही तो 'दान पारमिता' है—सब देना, सबको देना—सब जगह देना—इसी का एक छोटा-सा नाम है—माँ।

हमारी भाषाओं के पास २ लाख से अधिक शब्द-सम्पदा है—उसका सबसे छोटा पर पूर्ण—गहन-विशद—रहस्यगर्भी शब्द है—माँ। माँ से

छोटा कोई शब्द नहीं है—पर, इतना महिमामय, अर्थ-घन, ध्वनिगर्भी शब्द भी नहीं है!

"वह श्री है। शक्ति है। चिति है। उसकी मुस्कान में सृजन, दूध मे स्थिति और उसके रोष मे प्रलय छिपा है। वह मान्या है। पूज्या है। आराध्या है। उसके मोह में स्नेह, वन्धन मे दान और जीवन में उत्सर्ग है। वह देवी है। वह अपूर्ण में पूर्ण है। वह भक्ति है। वह श्रद्धा है।"

मातृत्व की छाया-उषा-गोधूलि वेला

दुनिया का इतिहास क्या है, युद्धों का रक्त-रंजित इतिहास—हम लोगों ने ज्ञात रूप से ५ हजार से अधिक लड़ाइयाँ लड़ी हैं—और दो बड़े-बड़े महासमर—विश्व युद्ध! हमारे झगड़े, दंगे, फिसाद, उपद्रव, मुठभेड़, हाथापाई, छीना-झपटी—इनकी तो हम गिनती भी नहीं करते—फिर भी, ममता, करुणा, क्षमा और सहिष्णुता—कम-से-कम प्रतिदिन दो बार उषा एवं गोधूलि वेला के रूप में अपनी उजली आभा छिटकाते आती हैं—तब लगता है—मातृत्व की ही विजय-वैजयन्ती एक दिन विश्व पर फहरायेगी।

उषा वेला: क्षितिज पर अरुणाई छिटक रही है। गायें अपने प्यारे बछड़ों को छोड़कर जा रही हैं—सभी पशु अपने शिशुओं से बिछुड़ भूख-प्यास के मारे निकल पड़ते है, चिड़िया भी अपने घोंसलों में अपने शावकों को भूखा छोड़ कर आकाश में उड़ चली हैं, मानव भी अपने घर के प्यार भरे वातावरण से दूर—रोटी की तलाश में निकल पड़ा है। बच्चों से बिछुड़ते वात्सल्य का यह चित्र है।

> लो सांझ आ गयी है।
> "दिन जल्दी-जल्दी ढलता है।
> बच्चे प्रत्याशा में होंगे
> नीड़ों में झांक रहे होंगे
> यह ध्यान खगों के पंखों में
> भरता कितनी चंचलता है
> दिन जल्दी-जल्दी ढलता है।"
>
> —बच्चन

दफ्तरों, कारखानों से निकलकर भागते माता-पिता—अपने घरों की ओर जाते, साथ में इधर-उधर से अपने बच्चों के लिए खरीद-फरोख्त करते—तेजी से कदम बढ़ाते—थके-माँदे माता-पिता-प्रतीक्षारत बच्चे; घोंसलों की ओर उड़ती तेज पंख मारती चिड़िया—रँभाती गायें—सारा वातावरण वत्सल-संवेदना से भर गया है। उषा—बिछुड़ता वात्सल्य; सांझ की बिरियां—मिलनातुर

वात्सल्य। धरती पर जब तक उषा—संध्या है—तब तक वात्सल्य अमर है, मातृत्व अमर है। काश—दिन की इस छीना-झपटी पर, बाजारों पर; दफ्तरों, अदालतों पर ; विधान सभाओं, संसदभवनों पर भी मां की ममता का यह आँचल फैल जाता।

त्वमेव माता

जब मनुष्य आर्त होता है, पीड़ित होता है, दुःखों से घिर जाता है, तो वह ईश्वर को पुकारता है—ईश्वर जो अनन्त गुणों का आकर है, ज्योतिः स्वरूप है, करुणा सागर है—पर वह आर्त दशा में सब भूल जाता है—सहस्रनाम भूल जाता है—शत सहस्र गुणावलियों को विस्मृत कर जाता है—और धरती पर प्रथम-प्रथम उच्चरित शब्द—मां याद आता है, उसका सारा आवेदन-निवेदन, सारे आह्वान सिमिट जाते हैं—वह पुकारता है—

'त्वमेव माता'—जब भक्त भगवान को मां कहता है, तो अपने वह दैन्य को, दारिद्र्य को, पाप-ताप को—अपनी आस्था को, विश्वास को व्यक्त कर देता है और वह अपने को आश्वस्त करता है कि प्रभु क्षमाशीला, वात्सल्यमयी, करुणार्द्रा मां की तरह उसके सारे अपराधों को क्षमा कर उसे अपने अंक में भर लेंगे—शरण में लेंगे—वह सुरक्षित है। मां का अर्थ है—सुरक्षा का विश्वास, पाप-ताप-शाप से मुक्ति। मां—जिसका उठा हुआ हाथ कहता है—'मा भैः मा भैः' मत डर, मत डर मैं आ गई हूँ।

भक्ति के महासागर भागवत में प्रभु की स्तुतियों का अन्त नहीं और न पुकार की करुणभरित वाणी कहीं रुद्ध है। फिर भी जब हम निम्न श्लोक पढ़ते हैं तो लगता है कोई करुणार्द्र स्वर में भोले निरीह बच्चे की तरह पुकार रहा है—ऐसी दर्द भरी पुकार फिर कहाँ—हजारों-हजारों श्लोक इस पर कुर्बान—

> अजात पक्षा इव मातरं खगाः
> स्तन्यं यथा वत्सतरा क्षुधार्ताः।
> प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
> मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

जैसे चिड़िया के पंखहीन बच्चे अपनी मां की बाट जोहते रहते हैं। जैसे भूखे बछड़े अपनी मां का दूध पीने के लिए आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी प्रिया अपने प्रवासी प्रियतम से मिलने के लिए आतुर रहती है—वैसे ही मेरा मन कमल नयन! आपके दर्शन के लिए छटपटा रहा है।

भारत की कृतज्ञ संस्कृति !

भारत की संस्कृति संसार की सबसे बड़ी कृतज्ञता से भरी हुई संस्कृति है। हमें जहाँ से भी मिला, कुछ भी मिला हम श्रद्धा से विनम्र हो गये, हमारी वाणी गद्‌गद हो गयी—आखों में प्यार छलक उठा और स्तुतियों के संगीत से हमने वातावरण को गुंजित कर दिया। जो देता है, जो चमकता है, जो चमकाता है —वह देव के गौरवास्पद पद पर अभिषिक्त कर दिया गया। द्यु: स्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और पृथिवी स्थानीय देवताओं के साथ हमने अपनी अमूर्त भावनाओं को भी मानवाकार रूप में उभारा, हमारे देवता तेंतीस हुए और तेंतीस करोड़ भी। हमें लगा—ये वृक्ष देवता हैं, वन देवता हैं, अग्नि देवता हैं, जल देवता हैं–

> ये देवा दिवि तिष्ठन्ति ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष
> ओषधीषु पशुषु अप्सु अन्तः।
>
> —अथर्व वे० १/३०/३

देवता—पृथिवी, अन्तरिक्ष आकाश के अतिरिक्त दिगन्तों, नक्षत्रों, पशु, जल, वृक्ष आदि में भी रहते हैं।

वैदिक ऋषियों ने द्यु: स्थानीय देवों को विवस्वान्, सविता, पूषा, अर्यमा मित्र आदि को देवों के रूप में रूपायित किया है; पर अन्त में उनके हृदय में प्रतिष्ठित मातृमूर्ति की उद्दीपना होती है और वेदों के सर्वोत्कृष्ट देवों के समूह आदित्यगण की माता के रूप में अदिति को मान्यता मिलती है। वह आठ आदित्यों की माता है, देव माता है। अदिति ऋत के संस्थापक यानी नैतिक नियमों के अधिपति वरुण की माता है। अदिति के स्वरूप की विशेषता है –मातृ-वत्सलता—वह दु:खों, कष्टों और पापों से सब का त्राण करती है। वैदिक मातृमूर्तियों श्री, अरिष्टा, आप्, इडा, उषस्, अंबिका, उमा, दुर्गा आदि के रूप में प्रतिष्ठित होती गयी है।

फिर जब हमको लगा कि देनेवाले द्युतिमान देव ने—नि:शेष दे दिया है —तो देव से भी आगे बढ़ कर—अपने प्रगाढ़ अद्वत सम्बन्ध को स्थापित करने वाला शब्द मां का महोच्चार किया और फिर वाणी मौन—सब कुछ नि:स्पन्द !!

श्रुति भगवती हमारी मां है, सभी देवताओं की मां अदिति, सबकी मां है। गायत्री माता, गीता माता, पृथिवी माता, गोमाता—जहाँ भी हमको लगा—कोई अपने को मिटा रहा है—लुटा रहा है—नि:स्वार्थ, अहेतुक,—हमने कहा—'मां' हमारी अनन्त पूत श्रद्धा-भावना व्यक्त हो गयी।

मां की महिमा

स्नातक ने वेदों का गंभीर अध्ययन किया है—सभी देवताओं से सम्बन्धित

ऋचाएं उसे कण्ठाग्र हैं—ध्वनिशास्त्र के विज्ञान में निष्णात! पर आचार्य कहते हैं—

जा, अपनी मां को देवता समझना। यानी जब तुम घर में प्रवेश करो, तो तुम्हें तुम्हारी मां मिलेगी। उसे साधारण मानवी न समझना, प्राकृत नारी न समझना, न केवल जननी मात्र—प्रसू मात्र नहीं, ना—वह साक्षात् मूर्तिमती देवी है। मां—यानी करुणा, प्रेम, स्नेह, त्याग, उत्सर्ग, सहिष्णुता की अजस्रधारा!

मां साक्षात् ईश्वर है। उसमे त्रिमूर्ति का निवास है। ब्रह्मा सृष्टि करते हैं, विष्णु पालन और शिव संहार—मां हमें जन्म देती है, इसलिये वह ब्रह्मा है; हमारा पालन-पोषण करती है—अतः विष्णु है और हमारी दुष्प्रवृत्तियों का संहार करती है—अतः वह रुद्र है। हमारे मंगल के लिए अहर्निश लगी रहती है—अतः शिव है। मां ही हमारी गुरु है।

हमारे धर्मग्रन्थों में मां की महिमा का अनन्त गान है। मां का कितना ऊँचा स्थान है, इसका वर्णन करने में वे अघाते नहीं हैं।

वृहद् धर्म पुराण में व्यासदेवजी ने मातृ-स्तोत्र द्वारा मां की गरिमा एवं महिमा को मुक्त-भाव से उभारा है—

> पितुरप्यधिका माता गर्भधारणपोषणात्।
> अतो हि त्रिषु लोकेषु नास्ति मातृसमो गुरुः॥
>
> × × ×
>
> पुरुष पुत्ररूपेण भार्यामाश्रित्य जायते।
> पूर्व भावाश्रया माता तेन सैव गुरुः परः॥

—पुत्र के लिए माता का स्वरूप पिता से बढ़कर है, क्योंकि वह इसे गर्भ में धारण कर चुकी है तथा माता के द्वारा ही उसका पालन-पोषण हुआ है। अतः तीनों लोकों में माता के समान दूसरा गुरु नहीं है।

—पुरुष पत्नी का आश्रय लेकर स्वयं ही पुत्र रूप में जन्म लेता है, इस दृष्टि से अपने पूर्वज पिता का भी आश्रय माता होती है; इसलिए वही सबसे श्रेष्ठ गुरु है।

धर्मज्ञ पुत्र माता और पिता दोनों को एक साथ देखने पर पहले माता को प्रणाम करके पीछे पिता रूपी गुरु को प्रणाम करे।

> मातरं पितरं चोभौ दृष्ट्वा पुत्रस्तु धर्मवित्।
> प्रणम्य मातरं पश्चात् प्रणमेत् पितरं गुरुम्॥

स्मृति का कथन है—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

--अर्थात् एक आचार्य गौरव में दस उपाध्याय से बढ़कर है। एक पिता सौ आचार्यों से उत्तम है तथा एक माता एक सहस्र पिताओं से श्रेष्ठ है।

माता के होते दूसरे देवता की पूजा की आवश्यकता नहीं है। माता ही पुत्रों के लिए परम पूजनीय है।

मातृतोऽन्यो न देवोऽस्ति तस्मात् पूज्या सदा सुतैः।

माता की पूजा का अर्थ केवल आदर करना मात्र नहीं है--माता की सच्ची पूजा तो पुत्र का सच्चरित्र होना है, अपना विकास करना है, अपना उत्थान करना है। मां तो तभी प्रसन्न होती है, जब पुत्र यशस्वी हो, सदाचारी हो, समर्थ हो, परोपकारी हो और समाज, राष्ट्र या विश्व के मंगल-विधान में अपनी भूमिका का निर्वाह करे। जो बात पुत्र के लिए है, वही पुत्रियों के लिए है और कहना चाहिए उससे भी अधिक है। पुत्रियों की गुण-सुरभि से दो वंश महक उठते हैं। पुत्रियां दो वंशों का मुख उज्ज्वल करती है, उनका गौरव बढ़ाती है और भावी सफल मातृत्व के द्वारा मानवता के विकास में अग्रणी होती है।

माता की सेवा करने से सन्तानों को सर्वत्र सुख की प्राप्ति होती है।

आयुः पुमान् यशः स्वर्गं कीर्ति पुण्यं बलं श्रियम्।
पशुं सुखं धनं धान्यं प्राप्नुयान्मातृवन्दनात्॥

--माता की सेवा करनेवाला सत्पुरुष दीर्घायु, यश, स्वर्ग, कीर्ति, पुण्य, बल, लक्ष्मी, पशु, सुख, धन, धान्य--सब कुछ प्राप्त कर सकता है।

न मातुः परदैवतम्--मां से बढ़कर परम देवता कोई नहीं है।

इस प्रकार हमारे धर्मग्रन्थ जन्मदात्री, अहेतुकी, कृपा-वृष्टि करनेवाली, मां की महिमा से भरे हुए हैं।

ब्रह्म वैवर्तपुराण में लिखा है कि जन्मदाता पिता से पालनकर्त्ता पिता श्रेष्ठ है और पालनकर्त्ता पिता से भी माता शतगुणा पूज्या है, वन्दनीया है--क्योंकि गर्भधारण करने और पोषण करने के कारण उसका पद ऊँचा है।

जनको जन्मदातृत्वात् पालनाच्च पिता स्मृतः।
गरीयान् जन्मदातुश्च योऽन्नदाता पितामुने॥
तयोः शतगुणे पूज्या मान्या च वन्दिता।
गर्भधारणपोषाभ्यां सा च ताभ्यां गरीयसी॥

सचमुच मां के ममत्व की एक बूंद अमृत के समुद्र से भी ज्यादा मीठी है। हमे स्मरण हो आता है--अचानक यक्ष प्रश्न--पृथ्वी से भारी, गरिमामयी क्या है? धर्मराज युधिष्ठिर ने उत्तर दिया--माता।

महाकवि 'प्रसाद' ने मातृ-शक्ति की महत्ता 'कामायनी' महाकाव्य म मनु के द्वारा अभिव्यक्त की है—श्रद्धा के प्रति—

> तुम देवि, आह! कितनी उदार, यह मातृमूर्ति है निर्विकार।
> हे सर्वमंगले! तुम महती, सबका दुख अपने पर सहती॥
> कल्याणमयी वाणी कहती, तुम क्षमा निलय में हो रहती।

मां का जब भी वर्णन किया जाता है, हमारी वाणी उच्छ्वसित हो जाती है—भीतर से जैसे स्वतः स्फूर्त निर्झर की तरह शब्द झरने लगते हैं—

"मां शांति, स्नेह, धैर्य, क्षमा, त्याग, सौन्दर्य एवं माधुर्य का प्रतीक है। सूर्य उसी का तेज है, चन्द्रमा उसी की छवि है, कुसुम उसी की कोमलता है, सागर उसी की गहराई है, हिमगिरि उसी का अटल धैर्य है, स्थैर्य है।"

मां का यही शाश्वत स्वर है—राष्ट्रकवि गुप्तजी की वाणी में—

> गोपा गलती है तो क्या है,
> राहुल तो पलता है।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः

भारत ने अपनी मातृ-पूजा-परम्परा का अनेक आयामों में विस्तार किया। उसके लिए अपनी जन्मदात्री मां ही मां नहीं थी—वह जहां भी निःस्वार्थ-भाव से प्यार के प्रवाह को वहने देखता है, वहीं शिशु बनकर मातृत्व भाव के सामने श्रद्धा-विनत होकर वह हर्ष-प्रफुल्ल हो यशः स्तवन करता है।

मंत्रद्रष्टा वैदिक ऋषि जब चतुर्दिक् हरित-भरित मर्मरित वसुधा को देखता है, तो वह मंत्रमुग्ध हो गाने लगता है। उसके लिए धरती 'वीरभोग्या वसुन्धरा' नहीं, वह उसका पुत्र है, यह उद्घोषणा करता है—

> माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः

ऋषि अपने को पृथिवी-पुत्र कहकर धरती माता के सम्मुख झुक जाता है। अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त पृथिवी-सूक्त है। यह सूक्त अपने ढंग का अनूठा है। यहाँ ऋषि के प्रातिभ चक्षु द्युः एवं अन्तरिक्ष में ऊर्ध्व संतरण करने के बाद यथार्थ के ठोस धरातल पर उतर आते हैं—वह नवीन ऊष्मा को अनुभव करता है। वह देखता है "जिस प्रकार माता अपने पुत्र के लिए मन के वात्सल्य भाव से दुग्ध का विसर्जन करती है, उसी प्रकार दूध और अमृत से परिपूर्ण मातृभूमि अनेक पयस्विनी धाराओं से राष्ट्र के जन का कल्याण करती है।" डॉ० वासुदेव अग्रवाल की यह व्याख्या समीचीन है। उन्हीं के शब्दों में "यह भूमि कामदुघा है! हमारी समस्त कामनाओं का दोहन भूमि से इस प्रकार होता है जैसे अडिग भाव से खड़ी हुई धेनु दूध की धाराओं से पन्हाती है।"

वह विश्वम्भरा है। पर्वतों के उष्णीष से सज्जित और सागरों की मेखला से अलंकृत के पुष्कल स्वरूप कितना सौन्दर्य है।

'हे सब को शुद्ध करनेवाली माता, तुम्हारे मर्म और हृदय स्थान का वेधन मैं कभी न करूँ।'

> मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्। (३५)
> [पावन कारिणि जननी! न तेरे करूँ मर्म पर मैं आघात;
> या जिससे नव हृदय व्यथित हो, करूँ न ऐसी कोई बात।]

यह धरती सब की है—सब की विस्तृत शय्या है। 'भूमे सवस्य प्रतिशीवरि।' ऋषि वाणी मुक्त है—सभी प्रकार की संकीर्णताओं एव क्षुद्रताओं से मुक्त। पृथिवी पर वसे हुए अनेक प्रकार के जनों की सत्ता ऋषि स्वीकार करता है। अनेक भाषाओं वाले, अनेक धर्मो वाले इस मां की गोद मे वसे हुए हैं—वह सभी को धारण करती है।

> जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
> नाना धर्माणां पृथिवी यथौकसम्। (४५)
> [नानाविध धर्मों के पालक, बहुविध भाषा के विद्वान्
> जन-साधारण को धारण करती, जो देकर वास-स्थान।]

ऋषि की मंगलकामना है—इस मां की गोद में सब गाते रहें—नाचते रहें।

मातृ देवियाँ

महामाया चिन्मयी मां ब्रह्माण्डव्यापिनी है। सारे देवगण जब हार जाते हैं, तभी शक्तिस्वरूपा प्रकट होती हैं, संसार का पालन करती हैं, वे अनेक मातृ-मूर्तियों में विभक्त हो जाती है—फिर सभी उसी में समा जाते हैं।

शक्ति-तत्व अद्भुत है; यही स्वाहा है, स्वधा है, वषट्कार अर्थात् सर्वयज्ञमयी, स्वरों का प्राण (वाक्) अमृत अक्षर, नित्या है, त्रिमात्रा में स्थित है और अर्द्धमात्रा (तुरीया) में स्थित नित्या—जिसका उच्चारण नहीं हो सकता।

> त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कार स्वरात्मिका।
> सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता॥
> अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः।

इस शक्ति-तत्व में दुर्गा, शक्ति या दस महाविद्या का रहस्यमय वर्णन है। इसी तरह राधा-तत्व एवं सीता तत्व की भी मीमांसा है; पर उनका विशेष विकास नहीं हुआ।

नवरात्रि के दो त्योहार भारत में विधिवत् एवं धूमधाम से मनाये जाते हैं,

इससे दुर्गा के प्रति लोकमानस का, साधकों का एवं मनीषियों का विशद् आकर्षण है। शक्ति के विना शिव शव हैं—कामेश्वर शिव की शिवता महाशक्ति के उल्लासरूप सान्निध्य से स्फुरित होती है।

जगत्कारणमापन्नः शिवो यो मुनि सत्तमाः।
तस्यापि साऽभवच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः॥

ब्रह्म का ही दूसरा नाम ज्ञान वा विद्या है। शक्ति-सम्प्रदाय में जिन दश प्रधान रूपों में ब्रह्म की उपासना होती है, उन्हें महाविद्या कहते हैं। ये दश महाविद्याएँ हैं—

काली, तारा छिन्नमस्ता सुन्दरी बगला रमा।
मातङ्गी भुवनेशानी सिद्धविद्या च भैरवी।
धूमावती च दशमी महाविद्या दश स्मृता॥

—काली, तारा, षोडशी सुन्दरी, छिन्नमस्ता, वगला, कमला, मातङ्गी, भुवनेश्वरी, भैरवी एवं धूमावती।

शक्ति-तत्व के प्रति अशेष आकर्षण का प्रमुख कारण है—शक्ति का मातृ रूप, शक्ति द्वारा भुक्ति एवं मुक्ति की द्विविध सिद्धि एवं ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव—इन पंच प्रेतासनों पर श्री विद्या राजराजेश्वरी त्रिपुर सुन्दरी का विराजमान होना—शक्ति के सान्निध्य से ही सृष्टि (ब्रह्मा) स्थिति (विष्णु) लय (रुद्र) निग्रह (ईश्वर) अनुग्रह (सदाशिव) रूप पंचकृत्यों का सम्पादन होता है। जब ब्रह्मादि अपनी-अपनी वामादि शक्तियों से रहित होकर अक्षम हो जाते हैं, तब ये प्रेत कहे जाते हैं। उनमें भी ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर—ये चार पाद हैं और सदाशिव फलक है; उस पर महाकामेश्वराक में महाकामेश्वरी विराजमान हैं।

वास्तव में शिव एवं शक्ति, राम एवं सीता, कृष्ण एवं राधा—नाम भेद हैं—ये वाक् एवं अर्थ की तरह, जल वीचि न्यायेन—एक हैं—सम्पृक्त हैं, 'कहियत भिन्न'—पर 'न भिन्न'।

विश्व-मातृत्व जगे !

बीसवीं शताब्दी अपना पंख समेट रही है—हम २१ वीं शती की ब्राह्म-मुहूर्त बेला के सिंह-द्वार पर खड़े हैं। विज्ञान ने अपने वरदानों से विश्व को छोटे से परिवार में बदल दिया है, वसुधैव कुटुम्बकम् की बाह्य चरितार्थता सिद्ध है। लेकिन—विज्ञान के अभिशापों की काली छाया से विश्व आतंक-ग्रस्त भी है, जैसे हम बर्फ से ढके ज्वालामुखी पर बैठे हैं। हमारा त्राण !

एक ही उपाय है—मातृत्व जगे, विश्व-मातृत्व उद्बुद्ध हो ! सृजन की अनन्त भावनाएँ हमारी प्रतीक्षा कर रही हैं।

स्मरण रहे—मातृत्व स्थूल नारीत्व नहीं है—मातृत्व एक वृत्ति है—जो भावना रूप में व्यक्त होती है। जहाँ प्रेम है, जहाँ त्याग है, जहाँ उत्सर्ग का भाव है, वह नारीत्व है—मातृत्व है।

जहाँ संघर्ष है, अधिकारों का निनाद है, भोग है, संग्रह है—वह पुरुष तत्व है।

अहिंसा—मातृतत्व है, हिंसा—पुरुष तत्व है।

संसार के इतिहास में जब कभी मातृत्व जगा है—तभी संसार के इतिहास में शांति-समीर का संचार हुआ है।

करुणा—मातृत्व है, कर्तव्य—मातृत्व है। शांति—मातृत्व है। जब बुद्ध आये—करुणा का सन्देश लेकर—लगा सोई हुई माँ जगी है। ईसा के प्रेम में, गाँधी की अहिंसा में माँ ही मुसकुरा रही थी।

जहाँ भी, जब भी दलित द्राक्षा की तरह अपने को निःशेष देने का भाव जगे—तो समझो—मातृत्व जगा है। मां तो हृदय है, उदारता है, सेवा है, भूमा है।

श्रद्धा में मातृत्व है ; स्पर्धा में—पुरुषतत्व।

हमारी प्रार्थना है—हे मां विश्वेश्वरि ! तू विश्व की रक्षा कर।

विश्वेश्वरि त्वं परिपासि विश्वं
विश्वात्मिका धारयसीति विश्वम्।
विश्वेशवन्द्या भवती भवन्ति
विश्वा श्रया ये त्वयि भक्तिनम्राः॥

मां भगवती विविध रूपा हैं। शान्ति, श्रद्धा, दया एवं मातृरूप से भगवती का आज विश्व आह्वान कर रहा है—

या देवी सर्वभूतेषु मातृ रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै नमोनमः॥

—जो देवी मातृ रूपसे सारे प्राणियों में विराज रही हैं—उनको नमस्कार, उनको नमस्कार, उनको बार-बार नमस्कार है। □

पूजा के योग्य सबसे प्रथम देवता माता है। पुत्रों को चाहिए कि माता की टहल-सेवा तन-मन-धन से करें। उसे सब प्रकार से प्रसन्न करें। उसका अपमान कभी न करें।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

अक्षयचन्द्र शर्मा

वैदिक वाङ्मय में मातृ-माहात्म्य

वेद विश्व के आद्य ग्रन्थ हैं। भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान गौरवपूर्ण है। श्रुति भगवती की सुदृढ़ आधार-शिला के ऊपर भारतीय धर्म एवं संस्कृति का, दर्शन एवं सभ्यता का भव्य विशाल प्रासाद प्रतिष्ठित है।

ये वेद ऋषियों की स्वानुभूतियों के अमृत फल हैं। ऋषि मंत्रों के कर्ता नहीं, द्रष्टा हैं। 'साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवुः।' ऋषि का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—मंत्र-द्रष्टा। ऋषिर्मन्त्र-द्रष्टा। गत्यर्थत्वाद् ऋषेर्ज्ञानार्थत्वाद् मन्त्र दृष्टवन्त ऋषयः। अर्थात् जिन्होंने अपने प्रातिभ चक्षु के सहारे सत्य का साक्षात्कार किया है। ऐसी ही विभूतियों की विमल वाणी को वहन करनेवाली ज्ञान-राशि का नाम वेद है।

ऋषियों ने जहाँ प्रकृति की अनन्त विभूतियों का दर्शन किया, वहाँ प्रकृति पीछे छिपे देवत्व का—देवत्व के पीछे किसी अनन्त ज्योति का अनुभव कर—वेदों को आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक—सभी दृष्टि-सरणियों से समृद्ध कर दिया। वेद हमारे ज्ञान एवं अनुभव के वे उच्च हिम-शिखर हैं—जहाँ से हमारे जीवन के शत-शत स्रोत प्रवाहित हैं।

इन्द्र, वरुण, अग्नि, मित्र, सूर्य, पूषण, अर्यमा, सोम आदि अनेक देवों की भीड़भाड़ में यद्यपि देवियाँ या मातृ-देवियाँ संख्या में कम हैं; पर, महिमा में

महनीय गरिमा में गहन और रहस्य-गर्भी हैं। वेदों के मंच पर अदिति, पृथिवी, वाक्, श्री, देवी, रात्रि, अम्बिका, उषस् या श्रद्धा—थोड़ी देर के लिए प्रकट होती हैं—पर, इनकी प्रभा, एवं प्रभविष्णुता चतुर्दिक् व्याप्त हो जाती है और भारत में शक्ति-उपासना का, मातृ-पूजा-परम्परा का अक्षुण्ण स्रोत प्रवाहित होता है—जिसके परिणामस्वरूप—सभी देव-मूर्तियाँ उसी एक महामाया भगवती त्रिपुर सुन्दरी या दुर्गा में समाहित हो जाती हैं और रह जाती हैं—वह एकाकी अद्वैत जगदम्बा, पराम्बा भगवती—उसी का यह लीला विलास है—अखिल ब्रह्माण्ड !

अदिति—अदिति का ऋग्वेद में पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान है, वह सर्वोत्तम देवों के समूह आदित्यों की माता है। वरुण की माता होने के कारण उसे व्रतों की महिमाशालिनी माता कहा गया है तथा उसे शक्तिशालिनी, जरा रहित और कल्याणमयी कहा गया है। स्तोता अदिति से अपने को पवित्र करने की प्रार्थना करता है। अदिति की एक अन्य विशेषता है—धन-सम्पत्ति का दान करना और पशु आदि की रक्षा करना। वह सौभाग्य एवं ऐश्वर्य की प्रदात्री है। अदिति से ऋषि प्रार्थना करता है—वह हमारी उन्नति करे, हमें सुख प्रदान करे। अदिति को प्रकाशमान बताया गया है और उसे सम्पूर्ण प्राणियों की हितैषिणी कहा गया है।

वेदों में अदिति चेतन व्यापक सत्ता की प्रतीक है, जो जगत् को असत् से सत् करती है। यही तंत्र-साहित्य की आद्या है, पराशक्ति है। मां एवं पुत्र के सम्बन्ध सर्वाधिक घनिष्ठ एवं उत्कृष्ट जान कर वैदिक ऋषियों ने परमात्मा की मातृ रूप में कल्पना की।

डा० गयाचरण त्रिपाठी के शब्दों में अदिति के व्यापक मातृत्व को समेटते हुए कहना चाहेंगे, "वैदिक कालीन अदिति, जिसका जन्म आकाश की अनन्तता से हुआ था और जो इस रूप में सूर्य तथा उससे सम्बन्धित आदित्यों की जननी थी, वैदिक युग में काल और सीमा से रहित एक अनन्त शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित रही। ऐसी स्थिति में वह अमत पुत्र देवों की जननी बनी. . . .उसका मातृत्व सम्बन्धी पक्ष भुलाया नहीं गया।"

पृथिवी—अथर्ववेद का पृथिवी सूक्त बहुत मनोरम है। ऋषि पृथिवी का पुत्र की हर्ष-प्रफुल्ल वाणी से अभिषेक करता है। धरती की सुषमा के अनेक चित्र उभरते हैं। पृथिवी को धारण कौन करते हैं ? सत्य, ऋत, दीक्षा, तप आदि। इसमें कुल ६३ मंत्र हैं

इन मंत्रों में मातृभूमि के प्रति अपनी प्रगाढ़ भक्ति का परिचय ऋषि ने दिया है। प्रत्येक जड़तत्व चेतन से अधिष्ठित है। चेतन ही उसका नियन्ता और

संचालक है। हमारी इस पृथिवी का भी एक चिन्मय स्वरूप है। इसी को श्रीदेवी और भूदेवी भी कहते हैं। "श्रीश्च लक्ष्मीश्चते पत्न्यौ" इस मन्त्र मे 'श्री' पद से इन्हीं भूदेवी का स्मरण किया गया है। कहीं भौगोलिक दृष्टि से नैसर्गिक सौन्दर्य का चित्रण है, तो कही पौराणिक वर्णन का बीज भी उपलब्ध होता है। यह भूदेवी अपने सच्चे सेवक के लिये श्री एवं विभूति के रूप में परिणत हो जाती है। तीन मंत्रों का अनुवाद दिया जा रहा है–

१. उन्नत प्रदेश, उत्तुंग शिखर अति सुन्दर,
नीची वसुन्धरा, नीचे बहते निर्झर,
ये हरे-भरे मैदान मनोरम समतल,
मानव के सम्मुख सावकाश अगनित थल (मंत्र २)

२. ये गिरि पर्वत हिमवंत, गहन वन तेरे,
मातृ भूमि ! हो मोद निकेतन मेरे।
पिंगल श्यामल अरुणाभ अनूप अचञ्चल,
है हरि पालित बहुरूप धरा का अञ्चल।
अविजित, अक्षत, आघात रहित नित होकर
मैं करूँ यहाँ अधिवास त्रास सब खोकर।। (मंत्र ११)

३. स्थापित कर, हे मातृभूमि ! तू मुझे भद्र भावों के साथ;
सर्वज्ञे ! स्वर्गीय भूति की प्राप्ति करा तू करे सनाथ।
पार्थिव सुख-सम्पति राशि में, करुणामयि ! दे मुझको स्थान,
और साथ ही, जननि ! मुझे कर भागवती विभूति का दान।। (मंत्र ६३)

वाक् ऋग्वेद में वाक् का एक सर्वशक्ति देवी के रूप में वर्णन किया गया है। वह सम्पूर्ण देवों में श्रेष्ठ है और रुद्र, वसु, आदित्य तथा विश्वेदेवों के साथ विचरती है। मित्रावरुण, इन्द्राग्नि, अश्विनौ, सोम तथा त्वष्टा आदि देवों को धारण करती है। वह सम्पूर्ण जगत की अधीश्वरी, चिन्मयी तथा देवों में प्रथमा है।

वाक् शक्ति की वर्णन करते हुए ऋपि कहते हैं––"वह जिसको चाहती है, उसको शक्तिशाली, उत्तम स्तोता परोक्ष ज्ञान सम्पन्न ऋपि तथा उत्तम मेधा-शक्ति से युक्त बना देती है।"

वाक्देवी रक्षा करने के लिये और दुष्टों के संहार के लिये प्रेरणा देती है। ब्रह्मद्वेवी असुरों का वध करने के लिये वही रुद्र को प्रेरित करके उनका धनुप चढ़वाती है और मनुष्यों की रक्षा के लिये युद्ध करती है।

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृण्णोमि अहं द्यावा पृथिवी आविवेश।।

स्पष्ट है वाक्देवी की जगत् उत्पादिका, सर्व सामर्थ्यशालिनी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठा है।

अम्बिका—शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है, त्र्यम्बक होम के समय जो अग्नि जलाई जाती है, उसको चारों ओर से कुमारियाँ घेर लेती हैं और सौभाग्य तथा पति की प्राप्ति के लिये अम्बिका से प्रार्थना करती हैं, क्योंकि वे सौभाग्य की अधिष्ठात्री हैं।

त्र्यम्बक होम में रुद्र का जो भयंकर स्वरूप है, अम्बिका की उदारता और कल्याणकारिता उसे सन्तुलित करती है। अभीष्ट वर प्राप्ति के लिये एवं सौभाग्य के लिये अम्बिका की—या गौरी की—पूजा-परम्परा अद्यावधि चल रही है।

उषा— उषा के सूक्त ऋग्वेद के सूक्तों में अत्यन्त सुन्दर, प्रभावशाली तथा काव्यात्मक विभा से आलोकित हैं। उषा में मानवीय रूप सौन्दर्य का चरम अवसान है। प्रकाशमय वस्त्रों से सज्जित, आलोक से आवृत उषा जब प्राची क्षितिज पर उदित होती है, तब रजनी का अन्धकार दूर हो जाता है। ऋषि ने उसे 'पुराणी युवतिः' कहकर उषा के सनातन सौन्दर्य की ओर इंगित किया है। उस समय पक्षीगण अपने स्वरों से तथा मन्त्र-गायक अपनी मधुर वाणी से उसका स्वागत करते हैं। वह प्रातः अग्नि के उपासकों को जगाती है और उन्हें अग्निहोत्र के लिए प्रेरित करती है। वह प्रकृति के नियम का पालन करती हुई उचित समय पर उपस्थित होती है, इसलिए वह 'ऋतावरी' है।

ऋषि उषा के लावण्य पर मुग्ध हैं। वह जगदम्बा में नारी मात्र के रूप-लावण्य में आभासित है और लौकिक जननी में वही मातृत्व का अमृत सींचती है।

श्रद्धा—ऋग्वेद के श्रद्धा सूक्त में श्रद्धा एक अमूर्त भाव का प्रतीक है तथा एक देवी भी। श्रद्धा के बल पर हम जीवन के सभी क्षेत्रों में विकास करते हैं, श्रद्धा से हमारी मनोकामना सिद्ध होती है। श्रद्धा ही शक्ति है।

(अ) श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।

—अर्थात् श्रद्धा से अग्नि होम की अग्नि दीपित होती है और श्रद्धा से ही हवि का भाग अर्पित होता है।

(आ) 'हम विजयी होंगे' देवों ने की श्रद्धा-विश्वास,
अतः उग्र असुरों पर जैसे पाया जय-उल्लास।
वैसे ही श्रद्धालु हमारे ये याज्ञिक लोग,
भोगार्थी हैं : इनको भी दो, श्रद्धे! प्रार्थित भोग॥

यद्यपि वैदिक वाङ्मय में मातृ-देवियों के लिए मंत्रों की संख्या कम है, पर आज भी ये मंत्र हमें मुग्ध करते हैं। अदिति अम्बिका में मातृत्व का पूर्ण विकास है; वाक् में सर्वातिशायिनी शक्ति है, उषा में अपूर्व लावण्य है, श्रद्धा जीवन की सात्विकता है। पृथिवी सूक्त यथार्थ की भूमिका पर प्रतिष्ठित, सर्वजन संवेदनीय है। मातृ-भूमि के प्रति श्रद्धा एवं गौरव से ओत-प्रोत है। हम भी समवेत स्वर में गा सकें–

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। □

माता का हृदय दया का आगार है। उसे जलाओ तो उसमें दया की सुगन्ध निकलती है। पीसो तो दया का ही रस निकलता है। वह देवी है। विपत्ति की क्रूर लीलाएँ भी उस निर्मल और स्वच्छ स्रोत को मलिन नहीं कर सकती।

—प्रेमचद

महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज

महाशक्ति : श्री श्री मां

(१)

महाशक्ति जगदम्बा का, परम रूप अखण्ड और स्वयम्प्रकाश चैतन्य है। इसका सिद्ध योगियों ने संवित् अथवा प्रतिभा के रूप में वर्णन किया है। किसी देश अथवा किसी काल में किसी कारण से भी इस स्वरूप का अपलाप नहीं होता। यह अपरिच्छिन्न प्रकाशात्मक है। यह विचित्र दृश्यों के आकार में भासमान होता है। यह आकार मूल में सभी क्षणिक हैं, किन्तु इस क्षणिक प्रतिभास में ही उनका स्वरूप पर्यवसित नहीं होता। यदि वह होता, तो स्मरण, अनुसन्धान आदि अन्तःकरण के व्यापारों की कोई सार्थकता नहीं रहती। भगवती का जो परम स्वरूप है, वही सामान्यज्ञानात्मक परा प्रतिभा है। वही मूल रूप है एवं देश, काल, आकार, निमित्त आदि द्वारा अनवच्छिन्न है। इसको आश्रय करके ही प्रत्यक्षसिद्ध समग्र जगत् की उत्पत्ति होती है, स्थिति होती है और लय होता है। नवीन-नवीन रूपों में आभासमान होना ही उत्पत्ति है, आभासधारा की विषयता ही स्थिति है और आभास की अविषयता ही संहार है। ये सब दृश्य अथवा पदार्थ प्रमाताओं के प्रति एक के बाद एक भासमान होते हैं सही, किन्तु मूल स्वरूप से पृथक् रूप में भासमान नहीं होते। भूतल पर स्थित घट जैसे भूतल से पृथक् रूप में दृष्टिगोचर होता है, यह उस प्रकार का नहीं है, वरन् दर्पण

में प्रतिबिम्बित रूप जैसे दर्पण से अभिन्न रूप से प्रतिभात होता है, यह उसी प्रकार का है। अर्थात् यह चिदात्मा में प्रतिबिम्बित होकर चिदात्मा के साथ अभिन्न रूप से ही प्रकाशमान होता है—जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय का भान उस परम चैतन्य स्वरूप में अव्यतिरिक्त रूप से होता है।

इस अखण्ड महाप्रकाश में विश्व वैचित्र्य का भान कैसे होता है? इस प्रश्न का समाधान करने का यदि यत्न किया जाय, तो समझ में आ सकेगा कि यह उनके स्वातन्त्र्य से ही होता है। यही माया का यथार्थ स्वरूप है। मायारूप निमित्त को आश्रय कर परसंविद्रूप आधार में अनन्त वैचित्र्य फूट उठता है। इस जगदाकार देह में अज्ञानी, अर्थात् जो आत्मज्ञानहीन है अथवा जिसका मन अविद्या द्वारा आवृत है, वह विश्वरूप अनन्त आकारों का दर्शन करता है। किन्तु; ये सब आकार जिसका आश्रय कर प्रकाशित होते हैं, उसे नहीं देख पाते। अविद्या माया की ही दूसरी अवस्था है। कमला रोग से पीड़ित रोगी जैसे नेत्रों के विकार से सफेद शंख को पीला देखता है, अज्ञानी का जगत्-दर्शन भी कुछ अंशों में वैसा ही है। विद्या के प्रभाव से अविद्या की निवृत्ति होने पर, अर्थात् योग-अवस्था प्राप्त होने पर, उस संविद्-रूप तत्व का दृश्यमान द्वैताकारवर्जित किंवा निर्विकल्पक रूप से भान होता है। अवश्य उस अवस्था में भी भास्य और भासक रूप द्वैत रहता है, ऐसी प्रतीति हो सकती है; किन्तु वास्तव में चिद्रूप आत्मसत्ता में देहादि दृश्य और भास्य का लेशमात्र भी नहीं रहता—वह विशुद्ध अहंरूप में, अर्थात् शुद्ध द्रष्टा के रूप में भासता है। आत्मतत्व देश और काल के द्वारा अवच्छिन्न न होने के कारण गम्भीर और निश्चल समुद्र के तुल्य निश्चल स्वरूप में अर्थात् अनन्त अद्वय रूप में योगियों को प्रकाशित होता है।

जो परमात्मतत्ववेत्ता भक्त हैं, वे इस विशुद्ध आत्मतत्त्व का ही भजन करते हैं। इस भजन में कापट्य नहीं है एवं कृत्रिमता भी नहीं है। क्योंकि; स्वभावतः आत्मा ही तो सबकी अपेक्षा प्रिय है। इसका नाम अद्वैत भक्ति है। यह अद्वितीय परमात्मा वस्तुतः सभी का अपना आत्मा है। वहाँ सेव्यसेवक भाव नहीं है। किन्तु, ज्ञानी भक्त भेद-भाव का आहरण कर सेव्य-सेवकभाव की रचना करते हैं। वे आत्मस्वरूप अद्वय पद की प्रत्यक्ष उपलब्धि करके भी स्वभाव अथवा चित्त की सरसतावश ऐसा करते हैं। वासना के वैचित्र्य से ही ऐसा होता है। कोई-कोई ज्ञानी पूर्वसंस्कारवश जैसे राज्यशासनादि करते हैं, वैसे ही कोई-कोई उसी कारण से भजन भी करते हैं।

भगवती का परम रूप केवल भासकमात्र है, किन्तु भास्य नहीं है। वह भास्वरूप है, वह अन्य वस्तु के संग में संसृष्ट नहीं है, इस कारण एकरसात्मक है इसलिए पूर्ण है, अतएव वह देश और काल का भी व्यापक है। यदि भास्य रूप

आकार भास्य भासक से भिन्न होता, तो उसका भान ही नहीं होता। भान होना भास्य वस्तु का धर्म नहीं है, क्योंकि यदि वह भास्य का धर्म होता, तो सर्वदा ही भास्य का भान होता। इसके अलावा आत्मगत रूप से भान का अनुभव भी न होता।

यह जो भान अथवा प्रकाश की बात कही गई है, यही परमचैतन्यरूपा परमेश्वरी महाशक्ति जगदम्बा हैं, यह एक और अद्वितीय हैं, यह द्वैत का लेशमात्र भी सहन नहीं करतीं। इस अखण्ड चिदेकरस स्वरूप में स्वातन्त्र्यवश वैचित्र्यमय विश्व प्रतिभासमान होता है। विश्व ही 'द्वितीय' है के रूप में प्रतिभासित होता है—वस्तुत यह एक से अभिन्न है, वही प्रतिबिम्ब है। प्रतिबिम्ब चाहे रहे अथवा न रहे, चैतन्य का स्वरूप सर्वदा ही निर्विकल्प है। सृष्टिकाल में प्रतिबिम्ब भासता है, किन्तु प्रलय-काल में वह नहीं भासता। इससे प्रतीत होता है कि संवित् स्वरूपतः सर्वदा निर्विकल्प एकरस रहने पर भी स्वातन्त्र्यवश अपने में स्वयं ही बाह्यभाव का स्फुरण करती है।

वह परा संवित् ही मां का स्वरूप है। अपनी आत्मा का शुद्धस्वरूप जानने पर ही मां को प्रायः जाना जाता है : "ज्ञातस्वात्मस्वरूपो वै ततो ज्ञास्यसि मातरम्"। आत्मस्वरूप दृश्य भी नहीं है और वाच्य भी नही है, इसलिए इसके सम्बन्ध में साक्षात् उपदेश भी नही हो सकता। फिर भी, यह कहना बनता है कि विषयाकारहीन बुद्धि में करणव्यापार की अपेक्षा किये बिना ही स्वरूपज्ञान उत्पन्न होता है। कारण यह स्वरूप देवताओं से तिर्यक्-पर्यन्त सभी प्राणियों के आत्मरूप से भासमान होता है। फिर भी, वह हम लोगों के निकट स्पष्ट रूप से जो प्रतिभात नहीं होता, उसका कारण यह है कि दृश्य आकार द्वारा हमलोगों की बुद्धि आच्छादित है। फिर भी, मेघाच्छन्न सूर्य के तुल्य किंचित् प्रकाश रहता ही है ; क्योंकि उस प्रकाश के द्वारा ही सर्वदा सर्वत्र सबके निकट सर्व पदार्थ भासमान होते हैं। इसलिए, आत्मा सर्वत्र ही भासमान होने पर भी केवल शुद्ध बुद्धि में अभिव्यक्त होते हैं। कारणों के व्यापार कर्त्ता में प्रवृत्त नहीं होते, अतएव आत्मदर्शन में आचार्य अथवा गुरु का साक्षात् कोई उपयोग नहीं है। पराक्-दृष्टि शिष्य के निकट आत्मा अत्यंत दूर है। गुरु केवलमात्र उसकी प्रत्यक्-दृष्टि उत्पन्न कर देते हैं। तब साथ-ही-साथ आत्मा नित्य सन्निहित है, यह समझ में आ सकता है।

यह परा संवित् अथवा आत्मा ही महाशक्ति "मां" हैं—ये सर्वदा विकल्प विहीन हैं। दर्पण जैसे सर्वदा ही दर्पण है, प्रतिविम्ब चाहे भासे अथवा न भासे, दर्पण जैसे दर्पण ही रहता है—जैसे प्रपंच के संहारकाल में चैतन्य निर्विकल्प रहता है, वैसे ही सृष्टि अथवा प्रपंच के प्रकाश-काल में भी वह निर्विकल्प ही

रहता है। सृष्टि और संहार में चैतन्य में कोई विकार नहीं आता। चैतन्य सदा चैतन्य ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

(२)

भगवती जगदम्बा का परम रूप अखण्ड एकरस चैतन्य है, यह कहा जा चुका है। किन्तु, उनका अपर रूप भी तो है। उनका परम रूप निराकार है, किन्तु, अपर रूप साकार है, योगी लोग कहते हैं कि उनके अनन्त साकार रूप हैं, किन्तु उन सब रूपों के ऊपर एक प्रधान रूप जिसकी तुलना में अन्य सभी रूप, अप्रधान रूप में परिगणित होते हैं। यह प्रधान रूप एक और अभिन्न है। यदि इसे सब अप्रधान अपर रूपों के शिखर में स्थित कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी। यह अपर रूप एक होने पर भी किस प्रकार का है, इसका भाषा द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता ; क्योंकि रुचिभेद से, वासनाभेद से और दृष्टि-भेद से वह शिखरस्थित एक ही रूप विभिन्न भक्तों के निकट तत्-तत् रूपों से प्रतिभात होता है।

मैं यहाँ एक विशिष्ट धारा अवलम्बन कर उसी प्रधान अपर रूप के धाम और स्वरूप का वर्णन करने की चेष्टा करूंगा। किस परमधाम में यह प्रधान अपर रूप विराजमान रहता है? उसके स्वरूप का यदि पता लगाना हो, तो विश्वसंस्था की एक धारणा रहना आवश्यक है। हम जिसको ब्रह्माण्ड कहते हैं, उसमें चौदह भुवन विद्यमान हैं। उनमें से सात ऊपर के भुवन और सात अधोभुवन हैं। पाताल, नरक आदि अधोभुवनों के अन्तर्गत हैं। भूलोक से सत्यलोकपर्यन्त ऊपरी भवन कहे जा सकते हैं। अन्तरिक्ष और स्वर्गादि इन्हीं के अन्तर्गत हैं। प्रत्येक भवन एक-एक स्तर है। प्रत्येक स्तर का अवलम्बन कर अगणित लोक-लोकान्तर रहते हैं। इन सबको लेकर ही एक ब्रह्माण्ड है। इस प्रकार के अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। उनके सिवा ऊपर में अन्यान्य विभाग भी हैं। उनमें शुद्ध और अशुद्ध स्तरों का विन्यास भी दिखाई देता है। इन सबको मिलाकर समग्र विश्वराज्य है। इसके बाहर सृष्टि का कोई भी निदर्शन नहीं है—अनन्त व्यापी ज्योति राशि विराजमान रहती है। इस ज्योति के ऊपर अपरिच्छिन्न चिदाकाश विद्यमान हैं। योगी लोग कहते हैं, चिदाकाश के मध्य में दिगन्त तक फैला हुआ एक महासमुद्र विराजमान है। उसका सुधा-सिन्धु अथवा अमृत-समुद्र के रूप में वर्णन किया जाता है। इस महासमुद्र के मध्य में केन्द्रस्थान में नवरत्न मणियों से रचित नौ-खण्डों का एक द्वीप है। उसे मणिद्वीप[1] कहते हैं।

---

१. मणिद्वीप का विस्तृत वर्णन देवीभागवत के द्वादश स्कन्ध में १०-१२ अध्यायों में द्रष्टव्य। ब्रह्माण्डपुराण के ललितोपाख्यान में और शिवरहस्य अ० १३ में भी इसका विवरण दिखाई देता है। 'चण्डी' नामक हिन्दी मासिकपत्र के ग्यारहवें खण्ड में पण्डित श्रीहरिशास्त्री दाधीच-लिखित "मणिद्वीप की सैर" नामक जो अनुभवमूलक लेखमाला प्रकाशित हुई थी, वह बहुत→

इस द्वीप के मध्य में कदम्बवन है। उसमें चिन्तामणि-गृह अथवा मन्दिर है। उस मन्दिर में पंचब्रह्ममय मंच है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर ये मंच के चार पाद हैं। मंच के ऊपर फलक के रूप में सदाशिव हैं, यही मुख्य आसन है। इस आसन पर अनादिमिथुन परचैतन्यमय परमेश्वर और परमेश्वरी अभिन्न रूप से विराजमान हैं। ये साधक लोगों के निकट परम पुरुष और परमा प्रकृति के रूप में परिचित हैं।

यही (अवश्य एक दृष्टि से देखने पर) विश्वजननी का प्रधान अपर रूप है। भगवती का अथवा भगवान् का जो परम स्वरूप है, वह निराकार संवित्-मात्र है—सृष्टि के प्रारम्भ में वह निराकार संवित् ही नित्य युगलरूप में अपने को प्रकट करती है।[1]

१—अंशों में देवीभागवत के वर्णन के अनुरूप है। यह शाक्त लोगों का विवरण है। किन्तु वैष्णव लोग भी इस मणिद्वीप का वर्णन करते हैं। सुन्दरीतन्त्र के अन्तर्गत आलमन्दार-संहिता के षष्ठ अध्याय में तथा पुराण संहिता के ३२वें अध्याय में भगवान के निज धाम के रूप में इस द्वीप का वर्णन है। यह सुप्रसिद्ध श्वेतद्वीप से भिन्न है। आलमन्दारसंहिता के अनुसार, भगवान की पारमार्थिक और वास्तवी लीला इसी स्थान में होती रहती है। यह स्थान अक्षर ब्रह्म के हृदयस्थ चिदाकाश में स्थित है। वास्तव में, यहाँ की भूमि, जल, तेज, वायु और आकाश सभी चिन्मय हैं। यहाँ सुधासिन्धु है, उसके मध्य में मणिद्वीप है: "सुधाब्धिस्तत्र विततः कोटियोजनकम्य च। तस्य मध्ये च कोट्यर्द्धयोजनं मणिद्वीपकम्॥" इस द्वीप में नवरत्नमय नौ खण्ड हैं, जिसमें नौ रसों की लीला निरन्तर चलती रहती है। इसके मध्य में, मध्य खण्ड में, जो पद्मराग मणिमय है, शृंगारशाला है। यही आनन्द-भूमि है। अष्टदलकमल की मानो यही कर्णिका है। इसके आठ ओर आठ खण्ड हैं। आलमन्दारसंहिता के मत में नित्यवृन्दावन की लीला प्रातिभासिक है एवं व्रजभूमि की लीला व्यावहारिक है। पुराणसंहिता में जो वर्णन है, वह भी प्रायः ऐसा ही है। उसमें लिखा है :

अनन्तकोटिब्रह्माण्ड प्रपंचाद् बहिरद्गतः।
चिदाकाशो महानास्ते लीलाधिष्ठानमद्भुतम्॥
यत्र दिव्यः सुधासिन्धुः कोटियोजनविस्तृतः।
कोटयर्द्धमानतस्तस्मिन् मणिद्वीपो मनोहरः।
नवखण्डात्मकः श्रीमान् नवरत्नविभूषितः॥ इत्यादि।

इसकी मध्यभूमि में "अखण्डमणिज" मूल मन्दिर प्रतिष्ठित है।

२. साधकगण महापोढा न्यास से न्यस्ततनु होकर अनन्य चित्त से इस स्वरूप का ही ध्यान करते हैं। श्रीक्रमोत्तम नामक ग्रन्थ में लिखा है कि निम्नांकित प्रकार से भावना करनी चाहिए, सर्वप्रथम अमृतसमुद्र, उसमें सुवर्णद्वीप उसमें कल्पवृक्षवन, उसमें नव माणिक्यमण्डप, उसमें नवरत्नमय सिंहासन-रूपी कमल, इस कमल के मध्य में त्रिकोण है एवं त्रिकोण के मध्य बिन्दु में अर्धनारीश्वर-मूर्ति विराजमान है। इसका लावण्य करोड़ों कन्दर्पों को लज्जित करता है। इसका मुखकमल मन्द-मन्द स्मितयुक्त है, तीन नेत्र हैं, ललाट में चन्द्रमा है, वस्त्र और आभूषण सभी दिव्य हैं। ये चतुर्भुज हैं—हाथों में कपालपात्र, चिन्मुद्रा, त्रिशूल और पुस्तक हैं। मुख और नेत्र सदा आनन्दमय रहते हैं। श्री क्रमोत्तम में अर्धनारीश्वरमूर्ति के ध्यान का विवरण है। पर, यह भी कहा गया है कि उस मूर्ति का केवल पुरुष रूप में अथवा मातृ रूप में भी ध्यान किया जा सकता है। निष्कल ध्यान की तो कथा भी नहीं है। भावनोपनिषत्, तन्त्रराज आदि में इस मानवदेह की ही नवरत्न-द्वीप के रूप में और पुरुषार्थ की ही सागर के रूप में भावना करने के लिए कहा गया है। इसका विस्तृत विवरण यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है।

हम यहाँ मणिद्वीप की विशेष आलोचना नहीं करेंगे। किन्तु; इस जगह जगदम्बा के अप्रधान अपर रूप के सम्बन्ध में दो-एक बातें कहना आवश्यक प्रतीत होता है। सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा ये अधिकारी पुरुष हैं। मां के अनुग्रह आदि पंचकृत्यों का सम्पादन ये ही करते रहते हैं। ये सभी मां के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं, यह कहना व्यर्थ है। इनके अतिरिक्त गणेश, स्कन्द, दिक्पाल, कुमारी, लक्ष्मी आदि शक्तियाँ एवं यक्ष, राक्षस-असुर, नाग, किम्पुरुष आदि में पूज्यरूप सभी वस्तुतः मां के ही रूप हैं। उनकी माया से मोहित होकर लोग उन्हें पहचान नहीं पाते। उनके अतिरिक्त पूज्य अथवा फलदायक और कोई नहीं है। जो जिस भाव से उनकी भावना करता है, वह उस भाव से फल प्राप्त करता है। वास्तव में, वे विभिन्न रूपों में विभिन्न देशों में, जीवों पर अनुग्रह करने के लिए विराजमान हैं। मूल में सब रूप उन्हीं के रूप हैं। शास्त्र के अनुसार, वे कांची में कामाक्षी के रूप में, केरल में कुमारी के रूप में, गुजरात में अम्बा के रूप में, प्रयाग में ललिता के रूप में, विन्ध्याचल में विन्ध्य-वासिनी के रूप में, वाराणसी में विशालाक्षी के रूप में, गया में मंगलावती के रूप मे, बंगाल में सुन्दरी के रूप मे और नेपाल में गुह्येश्वरी के रूप में विराज मान हैं। ये ही उनके बारह रूप हैं। इनके अतिरिक्त उनके और भी असंख्य-रूप शास्त्र से जाने जा सकते हैं।

(३)

मां का मुख्य ऐश्वर्य अपरिच्छिन्न है। स्वरूप से अतिरिक्त किसी कारण की अपेक्षा न करके ही वे जगत् के रूप में स्फुरित हो रही हैं। इन सब आकारों को उनके स्वांश अथवा उनसे भिन्न भी कहना नहीं बनता, क्योंकि वे अखण्ड चिन्मय हैं, अतः उनका कोई अंश नहीं है और अनन्त जगदाकार से स्फुरित होकर भी अद्वैत चित्स्वरूप से स्खलित नहीं होती हैं। यही उनका ऐश्वर्य है। विचित्र जगदाकार प्रतिबिम्बतुल्य है ; अतः वे नित्य ही निर्विकार हैं।

मां के अवान्तर ऐश्वर्य की भी गणना नहीं होती। ऐश्वर्यमात्र ही अघटित घटना का सामर्थ्य है। परमस्वातन्त्र्यरूपा स्वमाया द्वारा वे अपने को अज्ञाना-वृत करती हैं एवं अनादि जन्म-मृत्यु प्रवाह में पड़ती हैं, अर्थात् संसारी का स्वांग रचती हैं। तदनन्तर शिष्यभाव को प्राप्त होकर पुनः गुरु के निकट आत्मतत्व जानकर नित्य मुक्त होकर भी फिर मुक्त होती हैं। यह अविद्या मायिक होने से सचमुच बन्धन नहीं है, इसलिए वे नित्यमुक्त हैं। उपादान के बिना अनन्त-वैचित्र्यमय जगत् का निर्माण करती हैं, यही उनका ऐश्वर्य है। उनके इस प्रकार के अगणित ऐश्वर्य हैं।

(४)

मां के अप्रधान परम धाम की बात का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, किन्तु उनके खण्ड-खण्ड धाम कितने हैं, इसका कोई निर्णय नहीं कर सकता। यहाँ शास्त्रानुसार विभिन्न साधक और योगियों के अनुभवमूलक कई एक धामों का वर्णन दिया जा रहा है।

१. श्रीनगर इसका प्राचीन नाम अतस्तदीय है। प्रसिद्धि है कि मेरु मे चार शिखर हे : इसके तीन शिखरों पर ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की तीन पुरियाँ हैं, चतुर्थ शिखर पर महामाया की पुरी विराजमान है। इसका नाम श्रीपुर या श्रीनगर है। यह चार सौ योजना लम्बी और चार सौ योजन चौड़ी है। यह सात प्राकारों(प्राचीरों)से परिवेष्टित हैं। इसके चार प्रवेशद्वार हैं। प्रवेश-स्थान में शाला, गोपुर आदि हैं। वाहर का प्राकार लोहे का है और भीतर का सोने का। वीच के छह प्राकार क्रमशः पीतल, ताँवा, सीसा, जस्ता, पचलौह और वज्र से निर्मित हैं। प्रत्येक प्राकार मानों एक दुर्ग हैं। सर्वत्र ही रक्षक और दुर्गपालों की व्यवस्था हैं। लौहदुर्ग के रक्षक महाकालगण और उनकी शक्तियाँ हैं। ये भगवती की कालचक्र में उपासना करते हैं। कालचक्र त्रिकोण, पंचकोण, पोडशदल और अप्टदल कमल है। अन्यान्य छह दुर्गों के रक्षक शक्तिसहित छह ऋतुएँ हैं। इन सव चक्रों में तीस शक्तियाँ कार्य करती हैं—मधुशुक्ला एक से पन्द्रह तक और मधुकृष्णा एक से पन्द्रह तक। यहाँ वहुत शालाएँ हैं, जिनमे गन्धर्व, अप्सरा, नाग, यक्ष, रुद्रगण वास करते हैं। ब्रह्माण्डपुराण में लगभग पच्चीस शालाओं का उल्लेख है। एक-एक शाला मानों एक-एक दुर्ग है। विभिन्न शालाएँ विभिन्न उपादानों से निर्मित हैं। अप्ट धातु की एक शाला है। दो शालाओं के मध्य में वृक्षों के झुण्ड और कुंज विद्यमान हैं। जैसे : सुवर्ण और रजत की शालाओं के वीच कदम्ववन-वाटिका है, जहाँ मन्त्रिणी वास करती है। ग्यारह शालाएँ महामूल्यरत्नमय हैं—पुष्पराज, पद्मराग, गोमेद, वज्र, वैदूर्य, इन्द्रनील, मुक्ता आदि से रचित हैं। मौक्तिकशाला में चक्र में (जिसमें सोलह घेरे हैं) महारुद्र निवास करते हैं। वे भी सर्वदा भगवती के ध्यान मे मग्न रहते हैं। उनको चारों ओर से रुद्राणियों का गण और रुद्राणीगण घेर कर स्थित हैं। ये सव रुद्र ही दुर्ग के रक्षक हैं। उनमें कोई वैठे है, कोई जागते है, कोई सुप्त है, कोई दण्डवत् लेटे हैं एवं कोई दौड़ते रहते हैं।

२. और एक नगर का परिचय प्राप्त होता है, जहाँ भगवती ललिता ने भण्डासुर के साथ युद्ध करने के पश्चात् विश्राम किया था। प्रसिद्ध है कि विश्व-कर्मा और मय ने इस नगर की रचना की थी। योगियों के समाज में ऐसी

प्रसिद्धि है कि अगस्त्य ऋषि मेरुस्थित श्रीमाता के नगर का दर्शन नहीं कर सके। वे वेदवित् और सर्वशास्त्रविशारद होते हुए भी तन्त्रदीक्षारहित होने के कारण पराशक्ति की निगूढ़ उपासना में अनधिकारी रहे। इसलिए, उक्त नगर का दर्शन उनके भाग्य में बदा नहीं। यह नियति का नियन्त्रण था। बाद में देवी का माहात्म्य सुनकर उनके प्रति वे भक्तियुक्त हुए तथा उन्होंने सपत्नीक सक्रम तान्त्रिक दीक्षा प्राप्त की। तदनन्तर, लोपामुद्रा के साथ उपासना कर सिद्धि-लाभ किया। इसके कारण वे सस्त्रीक गुरुमण्डल में उत्तम स्थान पर अधिकार करने में समर्थ हुए। (द्रष्टव्यः त्रिपुरारहस्य, माहात्म्यखण्ड, अध्याय ७६)।

३. भगवती के स्थान पूर्वसागर के तट पर कामगिरि के रूप में, पश्चिम सागर के तट पर पूर्णगिरि के रूप में और मेरुशिखर पर जालन्धर के रूप में हैं। ये सब प्रसिद्ध चतुष्पीठ के अन्तर्गत हैं, यह कहना अनावश्यक है।

४. भास्कर राय ने तीन श्रीपुरों की बात कही है। पहला अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के बाहर ऊपर अनन्त योजन विस्तृत और पच्चीस प्राकारों से वेष्टित है। दूसरा मेरु के ऊपर स्थित है। वह पहले की अपेक्षा कुछ कम विस्तृत है। भगवान दुर्वासा ने ललिता स्तवरत्न में इसका वर्णन किया है। यह मेरु के मध्य शिखर पर स्थित है। मेरु पर्वत पर शिव-त्रिकोण के तुल्य तीन शिखर हैं। उनमें चौथा त्रिकोण चार सौ योजन ऊँचा है। इनमें भी पच्चीस प्राकारों का उल्लेख है एवं अन्यान्य बहुत वैशिष्ट्यों का विवरण है। तीसरा क्षीरसागर के मध्य में विद्यमान है। श्रीविद्यारत्नसूत्र के भाष्यकार ने यह बात कही है। इसके चौबीस प्राकारों का उल्लेख मिलता है। (द्रष्टव्यः ललितासहस्र-नामभाष्य, पृ० ३९–४०।)

रुद्रयामल में लिखा है कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के बाहर ऊर्ध्व में हजार करोड़ योजन विस्तीर्ण रत्नद्वीप है। उसके पच्चीस प्राकार पच्चीस तत्वों द्वारा रचित हैं। (ललिताभाष्य, पृ० ४०-४३) वस्तुतः यह रत्नद्वीप हमारे पूर्ववर्णित मणिद्वीप का ही नामान्तर है।

(५)

यह माँ ही गुरु-रूप में भावना करने योग्य हैं। भावनोपनिषद् में श्रीगुरु सर्वकारणभूता शक्ति कहे गये हैं। तन्त्रराज में भी कहा है :

गुरुराद्या भवेच्छक्तिः सा विमर्शमयी मता।
नवत्वं तस्य देहस्य रन्ध्रत्वेन विभासते॥

ये नौ रन्ध्र ही देह के प्रसिद्ध नौ द्वार हैं। इन नौ द्वारों में दो नेत्र और वाक् ये तीन दिव्यौघ हैं, दो चक्षु और उपस्थ ये तीन सिद्धौघ हैं एवं दो नासिकाएँ और पायु ये तीन मानवौघ हैं। देह के ये नौ रन्ध्र ही नौ नाथों के स्वरूप हैं।

शिव-सूत्रवार्तिक में भी परमेश्वर की अनुग्रहात्मिका परा शक्ति को ही गुरु कहा गया है। अत: मां और गुरु अभिन्न हैं।

(६)

अब मैं भगवती के प्रधान अपर रूप और पर रूप में किस प्रकार का सम्बन्ध है, इसकी किंचित् आलोचना करता हूँ। अप्रधान अपर रूप का प्रसंग मैं यहाँ छेड़ूंगा नहीं क्योंकि जगत् के सभी तो उन्हीं के रूप हैं, जो प्रधान अपर रूप है, वही सृष्टि का आदि है और विश्व के शिखरप्रदेश पर स्थित है। यही शिव-शक्ति का युगल रूप है। इस शक्ति को हम आपातत: पंचदशी के रूप में ग्रहण किया करते हैं। यह युगल रूप ही अनादि दिव्य मिथुन के रूप से साधक-समाज में परिचित है। श्रीचक्र के सबकी अपेक्षा अन्तरतम चक्र का नाम बैन्दव चक्र है—मध्य त्रिकोण के भीतर नित्यामण्डल, अर्थात् पंचदश कलाओं से वेष्टित महाबिन्दु है।[1] वस्तुत: पन्द्रह नित्याओं की साम्यावस्था का नाम ही बिन्दु है। इस बिन्दु को वेष्टित कर उसके घेरे के रूप में पन्द्रह नित्याएँ प्रतिपदादि पन्द्रह तिथियों की प्रतीक हैं। इसलिए, यह नित्यामण्डल एक प्रकार से कालचक्र का ही प्रतिनिधि है। साधन के क्रमविकास से एक नित्या अन्य नित्याओं को लीनकर प्रदक्षिण-क्रम से अन्तिम नित्या के लय साधनपूर्वक आवर्तन को समाप्त करती है। स्मरण रखना चाहिए कि एक नित्या अन्य नित्याओं में स्वयं लीन नहीं होती एवं उद्वृत्त शक्ति के द्वारा उनको भी अपने में लीन नहीं करती एव अन्य नित्याओं के स्वरूप में पहुंचने के लिए अग्रसर होती है; इसीलिए कर्म चलता रहता है एवं सर्वसमाधानवाद की उद्वृत्त शक्ति के द्वारा बिन्दु में प्रवेश करने में समर्थ होती है। स्वयं लीन होने पर यह सम्भव न होता। कालचक्र का आवर्तन ही कर्म अथवा उपासना का वास्तविक स्वरूप है। आवर्तन पूर्ण

१. चन्द्रमण्डल में सोलह कलाएँ है। इन सोलह कलाओं मे पन्द्रह कलाएँ वेष्टन के आकार में चारों ओर रहती हैं। बीच की कला का नाम सादाख्य है—यही षोडशी कला है। ये पन्द्रह कलाएँ ही पन्द्रह तिथियां हैं। कामेश्वरी से चित्रा-पर्यन्त पन्द्रह नित्याएँ ये ही हैं। सादाख्या कलाललिता है। यह कालचक्र अथवा तिथिचक्र सदा आवर्तित हो रहा है—इसके भीतर भी चक्र है (द्रष्टव्य और भास्करभाष्य, सू० ३३ पृ० १३७-१३९) इसका तात्पर्य यह है कि कालरूप प्रपच के मध्य में ही श्रीचक्र विद्यमान है। देशरूप प्रपंच में भी श्रीचक्र रहता है। भूगोल के उत्तर भाग में मेरु है, उसके दक्षिण में जम्बू आदि सात द्वीप हैं, उनके मध्य में भूगोल के वलयाकार सात समुद्र हैं। पुष्कर द्वीप का घेरा मधुर जलयुक्त समुद्र है। उसके दक्षिण में परव्योम है। मेरु से व्योम-पर्यन्त सोलह स्थानों में ललिता से चित्रा-पर्यन्त सोलह नित्याएँ युग के प्रथम वर्ष में स्थित होती हैं, द्वितीय वर्ष मे जम्बूद्वीप से मेरु-पर्यन्त तक गमन करती हैं, तृतीय वर्ष में लवणसमुद्र से जम्बूद्वीप तक गमन करती हैं। इन सोलह वर्षों में परव्योम से मधुर समुद्र तक ललितादि सोलह नित्याएँ स्थित रहती हैं। इस तरह सोलह वर्षों में नित्याओं का एक-एक आवर्तन होता है। श्रीचक्र इस देशरूप चक्र के भीतर है, बाहर नहीं है।

होने के साथ-ही-साथ विन्दु में प्रवेश होता है। यही पंचदशी की प्राप्ति है। पंचदशी के सिद्ध होने पर फिर आवर्तन रहता नहीं। युगल को प्राप्त होने पर कुंजलीला का अवसान हो जाता है। वैष्णव साधना का यह लीलारहस्य इस सत्य के ऊपर ही प्रतिष्ठित है। किन्तु ; पंचदशी युगल-रूप है। इस युगल रूप मे क्रमश: अद्वय-स्वरूप में जाना ही गुह्य साधना का इतिहास है। किन्तु , उसके पूर्व पंचदशी से पोडशी-पर्यन्त विवर्तन आवश्यक है। यह जो युगल रूप की बात कही गई है, इसमें परमा प्रकृति परमपुरुष के अंकगत है, एवं दोनों ही चतुर्भुज हैं। पंचदशी से यदि पोडशी में जाना हो, तो शिव-शक्ति का सम्बन्ध क्रमशः अन्यरूप धारण करता है। शक्ति शिव मे आश्रित है, यही पंचदशी का स्वरूप है, किन्तु जबतक शक्ति शिव के आश्रय का परित्याग कर शिव को शवरूप में अथवा सुप्त रूप छोड़कर, शिव से ऊपर की ओर उद्‌गत नही होती, तब तक पंचदशी से पोडशी में जाने की कोई आशा ही नहीं है। पंचदशी कालचक्र के अतीत है, यह सत्य है; किन्तु अतीत होकर भी वह वस्तुत: अतीत नही है। क्योंकि पंचदशी में विन्दु का आपूरण और संक्षय दोनों ही विद्यमान रहते हैं। पूर्णिमा अथवा अमावास्या कोई भी स्थायी नहीं है ; क्योंकि पूर्णिमा के बाद कलाक्षय होता है एवं अमावास्या के बाद कलावृद्धि होती है। जिसकी वृद्धि और ह्रास होते हैं, वह अपूर्ण है। जो वास्तव में पूर्ण है, उसकी वृद्धि भी नहीं होती और ह्रास भी नहीं होता, वही पोडशी है, अमृतकला है—

पुरुषे षोडशकलेऽस्मिन् तामाहुरमृतां कलाम्।

यह पोडशी अमृतकला है—यही मृत्यु के अतीत, परिवर्तन के अतीत और काल के अतीत है, पंचदशी विन्दुरूप में काल के आवर्तन से मुक्त होकर भी यथार्थ में मुक्त नहीं है। शिव-शक्ति को अंक में धारण किये है। यह योग की एक अवस्था है। षट्‌चक्रभेद होने पर सहस्रदल कमल के विन्दु से इस अवस्था का उदय होता है। इस जगह शक्ति पंचदशी अवस्था के अन्तर्गत है। किन्तु; शक्ति पोडशी अवस्था को तभी प्राप्त हो सकती है, जब शिव परमशिव के रूप में उसको धारण करने की योग्यता प्राप्त करते हैं।

शक्ति शिव के अंक से अवतीर्ण होकर जब क्रमश: अधिकतर पुष्टि प्राप्त करती है, तब नाभिमार्ग खुल जाता है एवं शक्ति पुष्टि की प्रकर्षावस्था में नाभि-मार्ग से निकले ब्रह्मनाल का आश्रयण कर जो कमल शून्य-पथ में विकसित हुआ है, उसमें स्थिति प्राप्त करती है। इधर शिव परम शिवरूप में उन्नीत होते हैं। जिन चार मध्यवर्ती अवस्थाओं की बात कही गई है, उनके नाम क्रमश: इस प्रकार हैं—

१. प्रासादः इस अवस्था में परमपुरुष और परमाप्रकृति तल्प पर शयन करते हैं। यह एक पार्श्व की स्थिति है।

२. महाप्रासादः इस अवस्था में पुरुष और प्रकृति में परस्पर मिलन-मुद्रा का पूर्वाभास होता है।

३. पराप्रासादः यह सामान्य मिलनमुद्रा की अवस्था है।

४. प्रासादपराः यह विपरीत मिलन की अवस्था है।

इसके बाद ही षोडशी है। तब शिव फिर शिव नहीं रहते। पूर्वोक्त चार आसनों के प्रभाव से शिव शववत्सुप्त अवस्था में परिणत होते हैं एवं चैतन्य या शक्ति नाभिद्वार से बाहर निकलकर प्रकाशमान होती है। शक्ति तब अकेली रहती है, शिव जड़ रहते हैं। वह उन्मुक्त शक्ति ही उनकी अधिष्ठात्री हैं।

षोडशी की परावस्था ही परा है। महाशक्ति तब द्विभुजा होती हैं और सुवर्णपीठ पर आरूढ़ रहती हैं। आगे और पीछे दोनों ओर जागृति रहती है। पंचदशी से षोडशी-पर्यन्त शक्ति रक्तवर्ण थी, इस बार उन्होंने शुक्लवर्ण धारण किया है, रक्तवर्ण अब नहीं रहा। इसके बाद महापादुका[1] है—वही चरण है। षोडशी और महापादुका के अन्तराल में घोर नाद विद्यमान रहता है। यहीं पर नाद है। महापादुका के बाद कुछ भी नहीं है—है एक मात्र वह अखण्ड महाप्रकाश। वस्तुतः उस महाप्रकाश में प्रविष्ट होने का द्वार ही यह महापादुका है।

---

१. इस महापादुका के प्रसंग में गुह्य उपासना-सम्बन्धी योग-साहित्य में अत्यन्त गम्भीर तत्त्व की आलोचना की गई है। यहाँ उसकी अवतारणा अनावश्यक है। योगरत्नावली नामक एक हस्तलिखित पुस्तक नेपाल से मँगाई गई थी और हमारे सामने आई थी। उसमें जिस क्रम का निर्देश किया गया है, तदनुसार ब्रह्मरन्ध्र में पूर्ववर्णित शिव-शक्तियुगल का स्थान दिखाई देता है। तदनन्तर, ऊर्ध्व चक्र में पराप्रासाद का निर्देश किया गया है। निरोधिका में महापादुका दीख पड़ती है। इसके अनन्तर नाद और उन्मना-अवस्था है। उसके बाद शिवावस्था है। शिवावस्था के अनन्तर निर्वाण होता है। इस निर्वाण में भी एक क्रम है—इस क्रम की परिसमाप्ति जहाँ होती है, वहाँ चरम निर्वाण होता है। उसका नाम रखा गया है अखण्ड महाशून्य निर्वाण। योगरत्नावली की धारा से प्रतीत होता है कि चक्षु जीवात्मा का स्थान और इच्छाशक्ति का अधिष्ठान है। इसके बाद त्रिकुटी या आह्लादचक्र है। वहाँ इच्छा नहीं है और जीवभाव भी नहीं है, किन्तु आनन्द है। ब्रह्मरन्ध्र में शुद्ध शक्तिभाव है, इसलिए शिवभाव स्फुरित होता है—शिव और शक्ति युगल। ब्रह्मरन्ध्र के बाद फिर शक्ति नहीं है, क्रमशः शिवभाव का ही प्रकर्ष चलता है। वह विशुद्ध शिव भाव नहीं है; क्योंकि वहाँ भी मन रहता है। मन को हटाने के मार्ग में पहले ऊर्ध्वचक्र में पराप्रासाद है। उसके उपरान्त निरोधिका में महापादुका है, तदनन्तर नाद में उन्मना पर्यन्त है। उन्मना में मन न रहने के कारण शिवभाव विशुद्ध है, इसलिए साथ-ही-साथ निर्वाण का उदय होता है। क्रमशः निर्वाण गम्भीर से गम्भीरतर होने लगता है, उसमें शिवभाव भी शून्य हो जाता है। यही महाशून्य निर्वाण है, यही निष्कल पद है।

समग्र विश्व ही चक्रस्वरूप है। यही श्रीचक्र है। बिन्दु से इसका आविर्भाव होता है, फिर बिन्दु में ही इसका लय होता है। आविर्भाव का क्रम यों है—पहले बिन्दु रेखा में परिणत होता है। वास्तव में सरल रेखा ही मूल-रेखा है—वायु की वक्रगति से यह सरल रेखा विभिन्न प्रकार की वक्र रेखाओं में परिणत होती है। रेखाओं के संयोग से आयतन होता है, उनका भी फिर संयोग होता है। मोटे तौर पर बिन्दु के प्रसार से ही अनन्त प्रकार के चक्रों का उद्भव होता रहता है। चक्र की सृष्टि भी या विश्व अथवा देह की सृष्टि भी वही है। प्रत्येक देवता स्वरूपत: चिदात्मक है—केवल भाव के भेद से भेदाभास जागता है, भावभेद होने से ही चक्रभेद भी होता रहता है। जिसे श्रीचक्र कहा जाता है, वह भी भाव की एक विशेष प्रकार की बनावट है।

बिन्दु ही चक्र का मूल है। शिव और शक्ति के सामरस्य को बिन्दु कहते हैं—इसका नाम रवि अथवा काम है। शिवांश संहारात्मक अग्नि है एवं शक्त्यंश सर्गात्मक सोम है—बिन्दु दोनों का सामरस्य अथवा रवि है। यह स्थितिरूप है।

आद्या शक्ति सर्वतत्वमयी प्रपंचरूपा है और सर्वतत्वों के अतीत है। वह नित्य परमानन्द रूप तथा चराचर की बीजस्वरूप है। "अहम्" शिव का स्वरूप है, अहमाकार ज्ञान अथवा विमर्श शक्ति का स्वरूप है। आद्या शक्ति ही शिव के स्वरूप-ज्ञान के प्रकाश के लिए निर्मल दर्पण-रूप है। अहंज्ञान ही शिव का स्वरूपज्ञान है—आद्या शक्ति से ही उसका प्रकाश होता है। आगमवेत्ता विद्वान् कहते हैं, जैसे एक सुन्दर राजा स्वाभिमुख-स्थित स्वच्छ दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर उस प्रतिबिम्ब को अहम् रूप में जानता है, वैसे ही परमेश्वर अपने अधीन आत्मशक्ति का दर्शन कर अपना स्वरूप जान लेते हैं। "मैं पूर्ण हूँ" यही उस ज्ञान का स्वरूप है। दर्पण जैसे सन्निकट वस्तु के सम्बन्ध के बिना अपने भीतर प्रतिबिम्ब को अवभासित नहीं कर सकता, वैसे ही परा शक्ति भी परम शिव के सम्बन्ध के बिना अपने भीतर स्थित प्रपंच को प्रकटित नहीं कर सकती। इसीलिए, केवल शिव या केवल शक्ति के द्वारा जगत् का निर्माण-कार्य नहीं हो सकता। दोनों का सहयोग चाहिए। दोनों का सम्बन्ध होने से ही सब तत्वों का उदय होता है। इसलिए, एक प्रकार से चक्र के अवतरण के विषय में किसी का भी प्राधान्य है, यह कहना नहीं बनता। इसीलिए, शांखायन-शाखा में काम और कामेश्वरी की सम-प्रधानता वर्णित है। वास्तव में, शिव और शक्ति एक ही तत्व है: 'शिवशक्तिरिति ह्येकं तत्वमाहुर्मनीषिण:।' फिर भी, चक्रावतार में शक्ति का ही प्राधान्य स्वीकृत है। जब वह परा शक्ति स्वेच्छापूर्वक

विश्व की सृष्टि करती हैं, तब चक्र उत्पन्न होता है। जो विश्व उन्हीं के भीतर अव्यक्त भाव से निहित था, वह तब फूट उठता है। परा शक्ति में सृष्टि का विश्वरूप धारण करना ही विश्व की सृष्टि है। इस सृष्टि-व्यापार में शिव तटस्थ या उदासीन रहते हैं। सब तत्वों की समष्टि ही विश्व के नाम से अभिहित होती है। ये तत्वातीत अवस्था से प्रकटित होते हैं। तत्वातीत सत्ता शान्त, शिव और निष्क्रिय है। उससे तत्वमय चक्र कैसे आविर्भूत होते हैं? यहीं पर परा शक्ति की आवश्यकता समझ में आयगी। परा शक्ति की इच्छा ही सृष्टि का मूल है। इसीलिए, चक्रावतार मे शक्ति का प्राधान्य स्वीकार करना पड़ता है।

अतएव, परा शक्ति एक ओर है और उसकी स्फुरता दूसरी ओर। स्फुरता ही सृष्टि का रूप है। सर्व तत्वमय विश्व की सृष्टि, विश्वमय परदेवता-चक्र का आविर्भाव और परा शक्ति के द्वारा अपनी स्फुरता का दर्शन एक ही बात है।

इस आविर्भाव में स्वरूपतः क्रम न रहने पर भी बुद्धि द्वारा एक क्रम, वह चाहे जिस किसी प्रकार का ही क्यों न हो, स्वीकार करना पड़ता है। यह क्रम हमलोगों के वर्त्तमान दृष्टिकोण से निम्नांकित रूप में प्रदर्शित किया जाता है:—

१. तत्वातीत प्रकाश या शिव। यह निराकार और शून्यरूप [अ] है।

२. द्वितीय अवस्था है शिव-शक्ति का सामरस्य। यह काम अथवा रति है। यह अग्नीषोमात्मक बिन्दु है। शिव=अ उ, शक्ति=ह्। दोनों का सामरस्य ही यह बिन्दु है।

३. तदनन्तर बिन्दु का स्पन्दन अथवा संसरण होता है। इसी का नाम शुक्ल बिन्दु और रक्तबिन्दु है।

४. पूर्वोक्त संसरण से जो अभिव्यक्त होता है, उसका नाम संवित् है। यह चिन्मयी और अग्नीषोमात्मिका है। इसका नाम चित्कला है। अग्नि के सम्पर्क से जैसे घी पिघलकर बहता है, वैसे ही प्रकाश के सम्बन्ध से परा शक्ति या विमर्श का स्राव होता है। स्राव होने पर ही लहरें अथवा तरंगें उठती हैं। वही दो बिन्दुओं के मध्यस्थित हार्द्ध-कला है।

५. इस हार्द्ध-कलायुक्त प्रकाश से ही बैन्दव चक्र का प्रसार होता है। उक्त प्रकाश को ही कामकलाक्षर कहते हैं। अतएव, बिन्दु से ही बैन्दव चक्र होता है सही, किन्तु बिन्दु का स्पन्दन होना चाहिए। यह बैन्दव चक्र ही मध्य त्रिकोण, अर्थात् विश्वजननी का निज स्थान है, जिससे समग्र विश्व का आविर्भाव क्रमशः होता है।

निर्विशेष चिन्मात्र का प्रथम परिणाम ही कामकलाक्षर है—यही महाशक्ति मां का आविर्भाव है। इसके अनन्तर उनका पट्टाभिषेक, अर्थात् सकलभुवन

साम्राज्य के अधिकार के विषय में स्वातन्त्र्य-लाभ होता है। (ललितासहस्रनाम-भाष्य।)

जिस बिन्दु से बैन्दव चक्र उत्पन्न होता है, वही परमात्मा है। वही महाबिन्दु अथवा सदाशिव हैं। यह बिन्दु वस्तुतः पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन तीन मातृकाओं की समष्टि अथवा तुरीय बिन्दु है। इसको केन्द्र बनाकर मूल त्रिकोण प्रसूत होता है, इसलिए यह त्रिकोण त्रिमातृकामय और त्रिमातृका-रचित कहा जाता है। महाबिन्दु में त्रिमातृका एक बिन्दु के रूप में मिलती हैं। बैन्दव चक्र में वे प्रसूत होकर परस्पर पृथक्भाव ग्रहण करती हुई तीन रेखाओं का भाव प्राप्त कर परस्पर सम्बन्ध होने के कारण त्रिकोण के रूप में परिणत होती हैं। यही विश्वयोनि है—सब तत्व, अर्थात् छत्तीसों तत्व इसकी लहरी-स्वरूप हैं। ये सब तत्व अथवा समग्र विश्व बैन्दव चक्र से ही उद्भूत हैं। बैन्दव चक्र कामकलाक्षर द्वारा गठित है। अतः, सभी तत्व और चक्र मूल में कामकलामय है, इसमें सन्देह नहीं है। □

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

मातृरूप-पृथिवी, पृथिवीरूप-नारी

विश्व-रचना में माता की ही तरह "द्यौः पिता पृथिवी माता" का वैदिक सूक्त महत्वपूर्ण है। पृथिवी सच्चे अर्थों में सबका भरण-पोषण करनेवाली माता है। वह वृक्ष, वनस्पति, कीट-पतंग, पशु-पक्षी और मानव सबकी पालन-कर्त्री शक्ति है। माता और पृथिवी माता ब्रह्माण्ड का अभिन्न अंग हैं। यहाँ यूयं-वयं की सीमा-रेखाएँ नहीं हैं। इनके वरदानों के स्रोत सबके लिए समान रूप से उन्मुक्त हैं। माता के मन और पृथिवी के स्वभाव के साथ देश और राष्ट्र की स्पर्धा का संयोग करना उचित नहीं। उस प्रकार की मनोवृत्ति वैषम्य और संघर्ष का द्वार है। पृथिवी को जो क्षमा-धात्री जननी कहा गया है, सो इसलिए कि उसके साथ तो केवल एक वही सम्बन्ध हो सकता है, जो बालक का माता के साथ होता है। कहा है—वह माता की समस्त मधुरिमाओं से भरा हुआ एक अक्षय पात्र है। वह उनके लिए प्रकट हुई, जो मातृमान् हैं और जिनके हृदय में माता और पुत्र के स्नेह का बीज अंकुरित हुआ—

भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः।

(मंत्र ६०.)

किन्तु जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की शरीर-रचना मातृ-कुक्षि में होती है

और प्रत्येक को अपने जन्म के लिए जननी की आवश्यकता है, वैसे ही संसार के स्वाभाविक विधान में किसी-न-किसी देश या भूमि से मानव का संबंध होता ही है। उसी भूमि के साथ हमारा हृदय प्रगाढ़ संबंध में बंध जाता है। इस संबंध के पोषण के लिए हृदय की उदार भावना होनी चाहिए, दूसरों का निराकरण करने की विषम भावना नहीं। आर्य भावना ने मानों समस्त नारी जाति के लिए पृथिवी-सूक्त के द्वारा यह भावना व्यक्त की है। जो अनंत द्युलोक ऊपर फैला है, उसका अभिन्न संबंध समग्र पृथिवी के साथ है, किसी भाग-विशेष तक सीमित नहीं। जब इस प्रकार की भावना मन में रहती है तभी मानव रसात्मक स्नेह का अनुभव करता है। पृथिवी के साथ घनिष्ठ संबंध जोड़ने के लिए इस अमृतमय प्रतिष्ठा-बिन्दु को कभी भुलाना नहीं चाहिए। ऋषि की दृष्टि में पृथिवी माता का अमृत-हृदय सत्य से भरा हुआ है और उसका मूल परम व्योम या नित्य आकाश में है, जिसकी प्रेरणा कभी क्षीण नहीं होती। जो माता के इस हृदय को नहीं जानता उसके लिये तो यह भूमि केवल मिट्टी—पत्थरों का ढेर है। इसका सच्चा स्वरूप तो उनके लिए प्रकट होता, जो ध्यान की शक्ति से इसकी उपासना करते हैं—

> यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्
> यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।
> यस्या हृदयं परमे व्योमन्
> सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः। (मंत्र ८)

मातृ-हृदय के जिस रूप का वर्णन आया है, वह गुहानिहित या छिपा हुआ कहलाता है—मंत्र ६०, किन्तु उसका दूसरा रूप नितान्त स्थूल और सबके लिए प्रकट है। वह भूरी, काली, श्याम, पीत और लाल मिट्टियों से बनी है। वह विश्वरूपा या सब रूपों की खान है। वह अपने स्थल पर अविचल है, उसमें अनेक पर्वत, नदियों के प्रवाह और समतल मैदान हैं। हिम से ढँके हुए गिरि और नाना प्रकार की ओषधि-वनस्पतियों से भरे हुए अरण्य उसके कल्याणात्मक रूप हैं। चारों दिशाओं में लहराती हुई कृषि और क्षेत्रों में श्रम करते हुए कृषक उसकी शोभा हैं। वह आकाश में छा जाने वाले मेघों की पर्जन्य-पत्नी है, जिसे वे सदा जल-धाराओं से सींचते हैं और उसके फलस्वरूप वह जौ, चावल आदि अन्नों से भर जाती है। —मंत्र ४३। वृष्टि लानेवाली पुरवाई मातरिश्वा वात धूल उड़ाती हुई और वृक्षों को हिलाती हुई जिस समय ऊपर-नीचे झकझोरती है, उस समय आकाश में बिजली कौंधती और मेघ गरजते हैं। —मंत्र ५१। संवत्सर की शक्ति ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसंत —इन छः ऋतुओं के सुन्दर चक्र को घुमाती हुई पृथिवी से रात और दिन

अमृत का दोहन करती है। —मंत्र ३६। पृथिवी की कुक्षि में नाना प्रकार के रत्न, मणि, हिरण्य भरे हुए हैं, जिन्हें वह मानवों के लिए प्रसन्न होकर उगलती रहती है। उससे धन की सहस्र धाराएँ इस तरह प्रवाहित होती हैं जैसे दुधार सीधी गौ से दूध की धाराएँ। वह सच्चे अर्थों में सबका भरण करनेवाली विश्वम्भरा देवी है। उस भूमि पर अनेक उपयोगी पशु-पक्षी निवास करते हैं। हंस और सुपर्ण उसके आकाश में भरे हुए हैं। सिंह और व्याघ्र उसके जंगलों में विचरण करते हैं। गौ और अश्व की वह प्रतिष्ठा है। —मंत्र ४९। वृक्ष और वनस्पति सदा के लिए उस पर अडिग रूप से विद्यमान हैं। —मंत्र २७।

इस प्रकार पृथिवी के भौतिक स्वरूप का दिव्य वर्णन इन मंत्रों में चित्रित किया गया है। वह सबके लिए सदा प्रत्यक्ष है। भौतिक समृद्धि के जितने रूप हैं, सबका अंतिम स्वरूप पृथिवी है। किन्तु भौतिक स्वरूप से कहीं अधिक मूल्यवान् पृथिवी पर निवास करनेवाले मानव हैं। वे मानव पीढ़ी-दर-पीढ़ी वृद्धि को प्राप्त होते हुए अमर हैं। प्रातःकाल उगता हुआ सूर्य उन्हीं के लिए अपनी किरणों से अमृत-ज्योति बिखेरता हुआ चलता है—

> तवेमे पृथिवी पंच मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं
> मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति। (मंत्र १५)

कवि इस सत्य का अनुभव करता है कि पृथिवी पर बसे हुए मानव अनेक समूहों में विभक्त हैं। उनकी संज्ञा 'जन' है। जन-जन में अनेक भेद प्रकृति की ओर से ही मातृ-भूमि को प्राप्त हुए हैं। उनमें तीन भेद प्रमुख हैं—एक, जनों का परस्पर भेद, दूसरे, इस बहुधा-जन में अनेक प्रकार की बोलियाँ हैं और तीसरे, नाना प्रकार के धर्म हैं—

> जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
> नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। (मंत्र ४५)

किन्तु भाषा, धर्म और जन के ये भेद मानवों को विभक्त करने के लिए नहीं हैं। प्रकृति की ओर से ही जो भेदों के विधान हैं, उन पर अपने हृदय की शक्ति से मानवों ने विजय पाई है। उन्होंने बुद्धिपूर्वक अनेकता में एकता और भेदों में अभेद का जीवन-सूत्र ढूंढ निकाला। जो धागा सबमें समान रूप से पिरोया हुआ है, वह यह है—

> माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। (मंत्र १२)

भूमि माता है और मैं उसका पुत्र हूँ—यह अचल संबंध हर एक के लिए है और यही सबको मिलानेवाला तंतु है। जिसने भूमि को अपनी माता जानकर

अपने-आपको उसका पुत्र मान लिया, वह माता के प्रति अपने कर्तव्य-पालन का ही प्रयत्न करेगा, अपने लिए कुछ अधिकार की खींच न करना चाहेगा।

पृथिवी पर बसनेवाले जन नाना भाँति से नाचते और गाते हैं।—मंत्र ४१ दुन्दुभि-घोष करते हुए वे युद्धों में भी सम्मिलित होते हैं। उनका निवास अनेक गाँवों और नगरों में है। वे सभा और समितियों में एकत्र होकर प्रबन्ध की व्यवस्था करते हैं। इस भूमि की नींव धर्म पर टिकी हुई है। धर्मणा धृताम्।—मंत्र १७। धर्म ही सभा-समितियों का अविचल विधान है। पृथिवी पर भले और पापी सभी प्रकार के लोग रहते हैं। उन सबको ही उसके मार्गों पर चलने का अधिकार है, जो शकट और रथों के लिए चारों दिशाओं में बिछे हुए हैं।—मंत्र ४७। पृथिवी-पुत्रों के नाना प्रकार के शारीरिक बल और मानसिक संकल्पों के वेग इसी भूमि पर प्रकट होते हैं, जिनसे संस्कृति की महती धारा का निर्माण हुआ है—

महत्सधस्थं महती बभूविथ
महान् वेग एजथुर्वेपथुष्टे। (मंत्र १८)

इस भूमि के साथ हमारा सम्बन्ध नया नहीं है। इसी पर हमारे पूर्वजों ने अनेक पराक्रम किए। यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे।—मंत्र ५। यहीं अनेक देवासुर संग्रामों में देव—असुरों पर विजयी हुए।—मंत्र ५। यहीं अनेक ऋषियों ने मंत्रों का गान किया। यहीं अनेक प्रकार के तप और व्रतों का विधान हुआ एवं इसी भूमि पर ऋत्विजों ने अनेक यज्ञों में देवों के लिए सोम पिलाने का कार्य किया। इस भूमि ने सदा से इन्द्र को अपना रक्षक चुना, वृत्र को नहीं :

इन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्। (मंत्र ३७)

यह भूमि हमारे बहुमुखी जीवन के अर्थ और धर्म एवं यज्ञादि की अधिष्ठात्री देवी है। इसमें जिस अग्नि का निवास है, वही हम सबके शरीर में बसी हुई है—अग्निरन्तः पुरुषेषु।—मंत्र १९। वह अग्नि प्राण और आयु प्रदान करती है। पूर्वकाल में किसी देवयुग में जो गंध इस पृथिवी में बसी हुई थी, वही अमृत-सुगंधि आज तक सब स्त्री-पुरुषों के शरीरों में व्याप्त है। कोई कहीं भी रहे उसका जीवन अपनी भूमि की गंध से सुरक्षित रहता है।—मंत्र २३। जिस समय सूर्य की पुत्री सूर्या का सोम से विवाह हुआ उस उत्सव में कमल की जिस सुगंधि का सबने आनंद लिया, आज भी वही पुष्कर-गंध हमारे लिए सुलभ है।—मंत्र २४।

इसी भूमि के साथ हमारे देवों का संबंध है। इन्द्र और विष्णु, अग्नि और सूर्य अपनी अधिदैवत शक्ति से इसकी रक्षा करते हैं। यह सब भुवनों की गोप्त्री है। किसी से इसका द्वेष नहीं। अपनी मधुमती वाणी से यह सबकी मित्र है। यह सबसे आगे रहनेवाली है, अग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा।—मंत्र ५७। यह

शांतिमयी शांतिवा, सौरभ-शालिनी सुरभि-मृदुला स्योना और अमृतमयी है। सबके लिए इसकी पयस्वती या दुग्धावारिणी मुद्रा सुलभ है।—मंत्र ५९।
हे माता! हमारे लिए दीर्घ आयु का वितरण करो। तुम काम-दुधा हो। तुम्हारे स्वरूप में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है। प्रजापति सदा तुम्हें भरते रहते हैं।

हे मातृभूमि! हमें सब प्रकार की श्री और संपत्ति इस जीवन में प्राप्त हो। किन्तु साथ ही द्यु लोक का जो अमृत-जीवन है, उसके साथ भी हमारा संबंध स्थिर रहे :

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मां धेहि भूत्याम्॥

मातृभूमि के ये गुण-वर्णन हमें समस्त मातृ-जाति को समझने की चाबी दे सकते हैं। □

मां बच्चे को स्नेह देती है और उसे आदमी बना देती है,
इसलिए उसके अन्तर में युग-युगान्तर से सर्वत्र मां की
गौरव-गाथा प्रतिध्वनित होती रहती है।

—विभूतीभूषण वंद्योपाध्याय (पथेर पांचाली)

प्रो० कल्याणमल लोढ़ा

□

श्री मातृ-तत्व

'मातृदेवो भव' के साथ ही मुझे तैत्तीरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली का दीक्षान्त भाषण स्मरण हो आया :

देव पितृ कार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ।
मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव ।

"यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि ।" आचार्य का आदेश है "माता को देव तुल्य" समझना। पहले उन्होंने कहा—"मातृदेवो भव", तत्पश्चात् पितृदेवो भव। भारतीय चिन्तन और संस्कृति की यही विशेषता है कि उसने 'माता' को ही सर्वोपरि स्थान दिया है। पिता से भी अधिक। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पिता पुनः अपनी पत्नी से उत्पन्न होता है। (आत्मा वै पुत्र [illegible]) इसीलिए वह 'जाया' कहलाती है। वह उसकी दूसरी माता है। भारतीय मनीषियों ने नारी को जो दिव्यता, महनीयता और गरिमा प्रदान की वह अन्यत्र दुर्लभ है। नारी में मातृ-भाव ही सर्वोत्तम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया—"न मातुः परदैवतम्" इसका प्रमाण है। माता शब्द का भावार्थ है [illegible] है कि "जो हमारा पोषण करती है, वही माता है।" [illegible] उसी परम माता का ही रूप है, "आदौ सम्बन्ध स्थापनां" [illegible] उन आद्या महाशक्ति से सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

"मान्यते पूज्यते या सा। "मान् पूजायाम्" इस कथन को प्रमाणित करता है। इसी से उसे जननी, सवित्री, जनि: अक्का अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका, मातृका, गौ, लक्ष्मी, पृथ्वी आदि कहा जाता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार—

जनको जन्मदातृत्वात् पालनाच्च पिता स्मृतः।
गरीयान् जन्मदातुश्च योऽन्नदातापिता मुने॥
तयोः शतगुणे माता पूज्या मान्या च वन्दिता।
गर्भ धारणपोषाभ्यां सा च ताभ्यां गरीयसी॥

गरुड़ पुराण के अनुसार—

सगुर्व्यं, क्रियः कृत्वा वेदस्तस्मै प्रयच्छति।
उपनीय ददद्वेदमाचार्य संप्रकीर्तितः॥
एकादश उपाध्यायात् ऋत्विग् यज्ञ कृदुच्यते।
एते मान्या यथा पूर्वमेभ्यो माता गरीयसी॥

माता सबसे, पिता और गुरु से भी, अधिक पूज्य है—

गुरुणामपि सर्वेषां पूज्याः पञ्च विशेषतः।
तेषामाद्यास्त्रयः श्रेष्ठास्तेषांमाता सुपूजिताः॥ (कूर्मपुराण)

आर्य मनीषियों ने जिसे भी परम श्रद्धास्पद समझा उसे 'माता' कहकर ही संबोधित किया। वेद हमारी माता हैं। राष्ट्र हमारी माता है। गाय हमारे लिए मातृवत् है। ऋग्वेद में अनेक देवियाँ महत्वपूर्ण हैं। पं० रामगोविन्द त्रिवेदी 'वैदिक साहित्य' के अनुसार ये कहीं देव-माताएँ हैं, तो कहीं देव-कन्याएँ। इनमें अदिति का उल्लेख सर्वाधिक है। उसे इन्द्र, मित्र, रुद्र व वरुण आदि की माता कहा गया है। अदिति ने इन्द्र को स्तनपान के पूर्व सोम-रस पिलाया था। यही अदिति विश्वजन्या है और विश्वहितैषिणी। वही जन्म का कारण है। इसी प्रकार द्यावा और पृथिवी का भी देवी रूप में वर्णन है। वैदिक साहित्य में वाक् भी देवी और माता है। अरिण्यानी को "हरिणों की माता" कहा गया है। (२०:१४६ क)। अथर्ववेद शौनिक संहिता के १२वें काण्ड के प्रत्येक सूक्त में पृथिवी के लिए यही मातृ भाव है। श्रीराम का तो स्पष्ट कथन था कि *"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।"* आधुनिक मनोविज्ञान भी "आद्यो सम्बन्ध स्थापनम्" के सिद्धान्त का समर्थन करता है। इसके "ला आफ प्राइमरी आइडेन्टीफिकेशन" के अनुसार शिशु सर्वप्रथम और सर्वतोभावेन माता से ही अपना तादात्म्य स्थापित करता है। उसके पर्यावरण बोध और अस्मिता की वही 'माँ' पहचान है। और तो और, आधुनिक जीव विज्ञान और मनोविज्ञान ने यह भी प्रमाणित कर दिया है कि गर्भस्थ शिशु पर माता का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित है। "रीडर्स डाइजेस्ट" के मार्च १९८५ के अंक में डा० थोमस वर्नी ने अपने बहुचर्चित लेख 'दि सिक्रेट आफ अनबोर्न चाइल्ड' में वैज्ञानिक शोधों

के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि गर्भस्थ शिशु का व्यक्तित्व व उसका आचार-विचार माता के आचरण व चिन्तन से छठे मास से ही बनना प्रारम्भ हो जाता है। मां की विचारधारा और उसकी संवेदनशीलता उसे प्रभावित करते हैं। इसके पूर्व फ्रेडरिक लेवोयर, हेनरी ट्वीं आदि मनोवैज्ञानिकों ने भी इसे प्रमाणित कर दिया था। अभिमन्यु का शौर्य, शिवाजी का आदर्श, नैपोलियन का वीरत्व उनकी माताओं की ही देन थी। भारतीय मतानुसार जिन्हें 'माता' शब्द से संबोधित किया जाता है, वे भी माता के समान पूजनीया हैं। किस देश और किस संस्कृति ने माता को इतनी व्यापकता दी और कहा कि मातृवत् पूजनीया के साथ भी किया गया असद् व्यवहार मनुष्य को नरकभोगी बनाता है—

मातरित्येव शब्देन याञ्च संभाषते नरः
सा मातृ तुल्या सत्येन धर्मं साक्षी सतामपि।
(ब्रह्मवैवर्त—ब्रह्मखण्ड १० अध्याय)

पद्मपुराण के उत्तर खण्ड ७८ अध्याय में वैष्णवों द्वारा पूज्य मातृगण सोलह गिनाई गई हैं, जिसमें गंगा, गोपी, तनया, गायत्री, तुलसी, गौ, पृथिवी आदि भी परिगणित हैं। इसी प्रकार षोडश मातृका पूजा में स्वाहा, शान्ति, पुष्टि, धृति, तुष्टि, देवसेना, स्वधा, गौरी, पद्मा, शची, मेधा, विजया, जया आदि सम्मिलित हैं। भारतीय विचारकों ने माता को महागुरु गिना है, पुनः ब्रह्मवैवर्तपुराण के गणपति खण्ड १५वें अध्याय में १६ प्रकार की माताएँ बताई गई हैं, जिनमें स्तन पिलाने वाली, भोजन देने वाली, गुरु पत्नी, अभीष्ट देवपत्नी, भाभी, विमाता, पितृकन्या, सौतेली बहिन, सहोदरा, मौसी, पुत्रवधू, प्रियाप्रसू आदि हैं। कैसा आदर्श बँधा है इस महत् शब्द के साथ! इसके साथ-साथ सप्त मातृका तो प्रसिद्ध है ही। हमारी तो यही मान्यता रही है—

जननी जन्म कालेच स्नेह काले च कन्यका
भार्या भोगाय सम्पृत :अन्त काले च कालिका
एकैव कालिकादेवी विहरन्ती जगत्त्रये।

इससे अधिक क्या कहा जाय!

भारतीय चिन्तकों ने व्यष्टि रूप के मातृत्व को समष्टि रूप में देखकर उसे आद्या शक्ति के रूप में पहचाना। "या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता" मातृभाव का ऐसा व्यापक आदर्श अन्यत्र दुर्लभ है। जगद्गुरु शंकराचार्य ने "सौन्दर्य लहरी" के उत्तरार्द्ध में समस्त विश्व को भगवती की ही विराट् देह मानकर, प्रकृति माता के दिव्य शरीर का चित्र खींचा है। (द्रष्टव्यः सौन्दर्य लहरी—स्वामी श्री विष्णुतीर्थ महाराजः।) "देव्यापराध क्षमापन स्तोत्र" में जगज्जननी की स्तुति में "मातस्त्वदनुसरणं क्लेश हरणम्" कहकर उन्होंने घोषणा की कि

"कुपुत्रो जायेत क्वचदपि कुमाता न भवति।" वस्तुतः यही मातृ शक्ति है। वह "सर्वेशे, सर्व स्वरूपे सर्वशक्ति समन्विते" है—इससे परे, आद्य मातृ भाव के परे, कुछ भी नहीं है। इसी से "सर्व खल्विदं शक्तिः नेह नानास्ति किंचन" भी कहा गया। इस महाशक्ति से हमने मातृतत्व जोड़ा—जो कुछ है वह इसी मातृ शक्ति का ही प्रतिरूप है। भगवती जगदम्बा स्वयम् कहती हैं—"एकै वाहं जगत्त्रय द्वितीया का ममापरा।" यही सर्वगता शक्ति है—ब्रह्मरुपिणी, जो "श" रूप में मंगल और ऐश्वर्य वाचक है और "क्ति" में पराक्रम। तभी तो—

ऐश्वर्यं मत्प्रसादेन सौभाग्यारोग्यसम्पदः।
शत्रुहानिपरोमोक्षः स्तूयते सा न किंजनैः॥

(श्री दुर्गासप्तशती कीलकम्)

इसी से ब्रह्मा अपनी स्तुति में उसे स्वाहा, स्वधा, वषट्, स्वरात्मिका, नित्य अक्षर और त्रिमात्रात्मिका कहते हैं "विश्वेश्वरी जगद्धात्री, स्थिति संहार-कारिणी" है। वही चित्त में कृपा, करुणा और दया रखती है और "सर्व मंगल मांगल्ये" के साथ "सर्वार्थ की साधिका" है।

कैसी विचित्र है हमारी मातृ भावना और उसकी परा शक्ति। मुझे महाभारत के भीष्म पर्व का वह प्रसंग याद आ रहा है, जब भारत युद्ध के पूर्व भगवान श्री कृष्ण अर्जुन को भगवती की स्तुति करने के लिए कहते हैं—

पराजयाय शत्रूणां दुर्गा स्तोत्रमुदीरय।

क्योंकि वही "सर्वोपकार करणाय सदार्द्र चित्ता" है। अर्जुन की वह स्तुति—

तुष्टि पुष्टि र्धृतिर्दीप्तिश्चन्द्रादित्य विवर्धिनी।
भूतिर्भूतिमतां सङ्ख्ये वीक्ष्यसे सिद्ध चारणैः।

(भीष्म पर्व २३ वां अध्याय)

दुर्गारूप में देखकर अर्जुन भगवान को भी कृष्णे कहते हैं, भगवान श्री राम ने भी रावण वध के लिए बंगाल की परम्परा के अनुसार "अकाल बोधन" किया था। कुछ आचार्यों ने तो ब्रह्मसूत्र के 'जन्माद्यस्य यतः' की व्याख्या करके इसे श्री भगवती का ब्रह्म स्वरूप ही सिद्ध किया है, क्योंकि सप्तशती के अनुसार "त्वयैतद्धार्यते विश्वम्" से उसकी एक वाक्यता दिखाई पड़ती है। महाराष्ट्र के संत तुकाराम ने विट्ठल का ध्यान ही माता के रूप में किया—

मांझी विट्ठल माउली। प्रेम पान्हा पान्हावली।

उनके लिए तो गुरु भी माता है।

बात शक्ति की आ गई, क्योंकि वही परम माता, समष्टि माता है। शक्ति तत्व ही मातृ तत्व है। भारतीय ऋषियों ने शक्ति का जो गूढ़-व्यापक और वैज्ञानिक विवेचन किया, उसकी सच्चाई और सार्थकता आज समझी जा रही

है। वस्तुतः शक्ति-विज्ञान ही विज्ञान है। आधुनिक भौतिकी विज्ञान ने इसे पूर्णतः प्रमाणित कर दिया है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक हाइजनबर्ग का कथन है कि आधुनिक विज्ञान के क्वांटम सिद्धान्त को समझने के लिए हमें पूर्व की दार्शनिक परम्परा को समझना होगा। आज का भौतिक विज्ञान जिस रहस्यात्मक क्षितिज को छू रहा है, उसका मूल भारत के शक्ति-सिद्धान्त में है। प्राचीन ऋषियों ने प्रातिभ शक्ति से जो रहस्योद्घाटन किया था, उसे आज बौद्धिक ज्ञान से करने की चेष्टा की जा रही है। जिस प्रकार शक्ति की व्याख्या वैखरी से नहीं की जा सकती, उसी प्रकार अणुओं की भी नहीं। मैक्सवेल का सिद्धान्त "चार्ज क्रियेट्स डिस्टरबेंस आर ए कन्डीशन इन दि स्पेस एराउण्ड इट हेज दि पोटेनशियल टू क्रियेट ए फोर्स"—मूलतः हमारी ही मान्यता है। आधुनिक विज्ञान के जनक आइन्सीन ने प्रकृति में जिस सामरस्य और समस्त पदार्थों में जो एकरूपता खोजकर 'इन्टरएक्शन' और 'इनडिविजिवल' रियेलिटी खोजी वही हमारा शिवशक्ति तत्व, प्रकाश-विमर्श या बिन्दु-बीज-नाद-कला का सिद्धान्त है। "शक्ति शक्तिमतोर भेदात्।" तंत्र शास्त्र में षडध्व की विवेचना इसी का परिणाम है। डेविड बोम का अनबोर्न होलनेस का सिद्धान्त हमें सप्तशती के इस कथन का स्मरण कराता है—"यच्च किंचित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मके।" चीन दर्शन का यिनयेंग सिद्धान्त—हमारा शिव और शक्ति का सायुज्य व अर्धनारीश्वर की कल्पना सब इसी के "अधिकार" हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक काप्रा का ग्रन्थ "दि ताउ आफ फिजिक्स" इस ओर अध्येतव्य है।

भारतीय मनीषियों ने शक्ति की परिभाषा करके उसे "कार्य करने की सामर्थ्य" कहा है। उसका व्यक्त और अव्यक्त रूप (जाग्रत या सुप्त) आज के आधुनिक विज्ञान के उदार और सुप्त शक्ति सिद्धान्त का ही पूर्व है। शक्ति ही गति है और गति ही जीवन है। आधुनिक विज्ञान के सूक्ष्मतम "सब पार्टिकल्स" (जिनकी गणना आज भी अधूरी है।) हमारे इस कथन के साक्षी हैं—

तस्य सर्वस्य या शक्तिः सात्वं किं स्तूयसे मया
सर्वगता शक्ति सा ब्राह्मेति विविच्यते।

(देवी भागवत : १-८-३४)

हमारी मान्यता है कि अव्यक्त शक्ति गति का ही हिमीभूत रूप है और यही आज भौतिक विज्ञान भी स्वीकारता है। शक्ति ही के कारण पदार्थों के स्वभाव में रूपान्तरण सम्भव है, वही हमारी परा शक्ति है—पराविद्या। मुंडकोपनिषद् में अंगिरा ऋषि यही शौनक से कहते हैं—

तदव्ययं यद्भूत योनिपरिपश्यन्ति धीराः।
नित्यं विभु सर्वं गतं सुसूक्ष्मं।

विभु ही सूक्ष्म, अव्यय और समस्त भूतों का कारण है और यही परा शक्ति है। यही शब्द, काल और गति का विज्ञान है। बंगाल के प्रसिद्ध तान्त्रिक उमानन्दनाथ ने इसी पराशक्ति का वर्णन इस प्रकार किया है—

यस्यादृष्टो नैव भूमण्डलांशो
यस्यादासो विद्यते न क्षितीशः
यत्य ज्ञातं नैव शास्त्रं किं मन्यं
यस्याकारः सा पराशक्तिरेव

(शक्ति का स्वरूप: कल्याण का शक्ति विशेषांक)

मातृत्व का विवेचन करते-करते शक्ति-तत्व पर चला गया, पर यह भी उचित था क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। जो आत्मभूत है, वही शक्ति है और शक्ति का जो आत्मभूत है, वही कार्य है। ऋक्मन्त्र में इसी से शक्ति को अग्नि कहा गया है। (१०:८८:१०)। निरुक्त की व्याख्या में यही अग्नि, विद्युत् और आदित्य है। नाम और नामी में पार्थक्य कहाँ? मुझे शक्ति "गीता" की याद आ गई। उसमें विवेचन किया गया है शक्ति थापर द्वितीय अध्याय में आर्य नारी धर्म के आदर्श भी गिना दिए। उनके स्वरूप और फल का विवेचन करते हुए कहा कि दुर्गा भाव में जहाँ सर्व शक्तिभाव है, वहाँ गौरी भाव में तन्मयता। यहीं आर्य नारी के आदर्श का विवेचन करते हुए भगवती कहती हैं—भेदरहित रूप से मैं ही "महा-माया", प्रेम प्रधाना, मैं ही "गौरी" और शक्तिप्रधाना, मैं ही "दुर्गा" हूँ। नारी इन रूपों को ग्रहण कर प्रेम की तीनों भूमिकाएँ प्राप्त करती हैं—

प्रेम्णोऽस्ति त्रिविधो भेदस्तत्राद्यः सममेत्ययम्।
अहं तस्येत्ययं मध्यः सोऽहम स्मीति चान्तिमः॥

(शक्तिगीता : २-५३)

इस प्रकार भारतीय अध्यात्म और धर्मसाधना में नारी धर्म, शक्ति तत्व और मातृ तत्व अत्यन्त गम्भीर और गहन हो गए हैं।

मातृ शक्ति का एक पर्याय "मातृका" भी है। मातृका अर्थात् वर्णमाला भारतीय तंत्र शास्त्र में वाणी को भी माता कहा गया है। वह भी शक्ति तत्व का ही एक रूप है। इसी मातृका के साथ मंत्र ज्ञान संबद्ध है। देवता मंत्र का ही अभिव्यक्त रूप है। गोपीनाथ कविराज के अनुसार वाचक मंत्र ही अभिव्यक्त होकर देवता रूप में आविर्भूत होता है। वीज के विना वृक्ष नहीं —यंत्र के विना देवता नही—मातृका के विना मंत्र नहीं। अ-आ आदि अक्षर नहीं वरन् सहस्रारस्थ चन्द्र विम्ब के अमृत तत्व पिघलने से जो क्षति होती है, वे नहीं हैं। और वर्ण से मन्त्र, मन्त्र से पद वाचक भूमि पर आते हैं, उसी प्रकार वाच्य भूमि पर कला से तत्व और तत्व से भुवन। यही षडध्व है—मंत्र का,

मार्ग वर्ण, पद, मंत्र, कला, तत्व और भुवन। यही शांभव दर्शन में शिव और शक्ति का समन्वित रूप है। इसी से हमारी मान्यता है कि––

सर्वं अकारः सर्वं वर्णाग्रयः प्रकाशः परमः शिवः।

पुण्यराज का वाक्यपदीय के संदर्भ में कथन है––

प्रत्येक चैतन्य रूप अन्तः सन्निविष्टास्य।
परं प्रबोधनाय शक्तिरभिनिष्यन्दते।

का भक्ति के विमर्श को ही परा वाक्, मातृका आदि कहा गया है। जपसूत्रम् की भूमिका में गोपीनाथ कविराज लिखते हैं––"वर्णमातृका" के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा न होने पर प्राण के स्पन्दन का तत्व-निर्णय नहीं हो सकता। इसीलिए तन्त्र शास्त्र में मातृका विवेचन किया गया है। वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा वाक् के रूप हैं। वैखरी "विश्व विग्रहा" है––वाक् का निम्नतम स्तर इसका आश्रय लेकर ही परावाक् तक आरोहण करना पड़ता है। मध्यमा भूमि मन्त्र-मयी भूमि है––और पश्यन्ती दिव्य वाक्––यही निखिल देवता प्रकाशित होते हैं। यही आत्मा की "अमृत कला" है, इसके आगे परा वाक् "परम अव्यक्त है"। यहाँ शब्द की कोई गति नहीं, इसी से शब्द "ब्रह्माणि निष्णातः परं ब्रह्माधि गच्छति," मातृका शक्ति ही पर अभेदात्मक और अपर भेदात्मक ज्ञान का आधार है। इनका सूक्ष्म केन्द्र ही "कला" है। सहज आन्तरिक अवस्था में मातृकाओं का उच्चारण अपने ही भीतर सहज रूप में सुनाई पड़ता है––यह अन्त वैखरी अवस्था है :

तंत्र-साधना में वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती व परा वाक् को क्रमशः उड्डीयान पीठ, जालन्धर पीठ, पूर्ण गिरि पीठ व कामरूप पीठ कहा गया है। ॐ का अ पश्यन्ती, 'उ'––मध्यमा व 'म' वैखरी है––और यही इच्छा, क्रिया व ज्ञान की भूमिका भी। शिव बिन्दु रूप है, शक्ति बीज रूप––दोनों के संयोग से नाद और नाद से त्रिशक्ति, इच्छा, क्रिया, ज्ञान उत्पन्न होती है। एक जर्मन वैज्ञा-निक ने धातु की नलियाँ बना उनमें हवा फूंककर यह निष्कर्ष निकाला कि देव-नागरी के प्रत्येक वर्ण का वही उच्चारण हुआ, जो हम बोलते हैं। सुना है कि एक दूसरे फ्रेंच विदेशी साधक उमानन्दपुरी ने भी मातृका विज्ञान पर कई वर्षों तक अनुसंधान किया था। देवनागरी वर्णमाला अन्य वर्णमालाओं से नितान्त भिन्न है। हमारी वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर शक्ति का स्वरूप है। (कल्याण शक्ति अंक––पृ० २५०)। ललितासहस्र नाम के अनुसार मातृका ही 'वर्ण रूपिणी' है। तंत्रसार के "मातृका विलास" में इसी का विशद विवेचन उपलब्ध है। अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त विन्दुयुक्त मातृका को सर्वज्ञताकरी विद्या भी कहते हैं। परशुराम कल्पसूत्र–स्वच्छन्द तंत्र के अनुसार––"न विद्या मातृका

परा" सौभरि का "मातृका नाममाला" और " श्री जीव-गोस्वामी का हरिनामामृत" इस ओर द्रष्टव्य है। मंत्र शास्त्र में विलोम मातृका, वह्नि-मातृका और अन्तः मातृका का विशेष महत्व है। स्वच्छन्द तंत्र में सप्त मातृकाओं का स्वरूप वर्णन किया गया है। मातृका विज्ञान (या शास्त्र) के वर्णरूप स्वरूप, देवता आदि पर सविस्तार चर्चा करना यहाँ अभीष्ट नहीं। प्रत्येक वर्ण का अपना रंग विधान है। कहीं-कहीं यह भी उल्लेख मिलता है कि समस्त वर्णों का रंग श्वेत है पर "मातृका विवेक" में भिन्न-भिन्न वर्णों का उल्लेख है। "अकार सर्वं देवत्वं रक्तं सर्ववशंकरम्+इत्यादिनः प्रत्यक्षरंवर्ण विशेष उक्तः।" लक्ष्मीधर ने सुभगोदय की व्याख्या चन्द्रकला में इसका विस्तृत वर्णन किया है। कामधेनु तंत्र भी इस ओर उल्लेखनीय है। पण्डित गोपीनाथ कविराज ने अपने निबन्ध "सूर्य विज्ञान" में इस पर प्रकाश डाला है। डा० शिवशंकर अवस्थी का "मंत्र और मातृका रहस्य" भी उल्लेखनीय है। इसी से संबद्ध अब बीज शब्द पर थोड़ा विचार कर लें। भिन्न-भिन्न वर्ण भिन्न-भिन्न शक्ति रूप है। प्रत्येक अक्षर में स्वतन्त्र शक्ति है। देवता अपने बीज मंत्र में ही अवस्थित रहते हैं। इसे "बीज मंत्र", "हृदय मन्त्र" या "माला मन्त्र" भी कहा जाता है। "देवाधीनं जगत सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवता" का यही रहस्य है। समस्त वर्ण बीज और योनि दो प्रकार के हैं। स्वर वर्ण बीज कहे जाते हैं और व्यंजन योनि। बीज शिव रूप और योनि वर्ण शक्ति रूप है। परम रहस्यमय बीज ओंकार है। तन्त्रशास्त्र में बीजाक्षर या संकेताक्षर का बड़ा महत्व है। आज का विज्ञान जिन प्रतीकों का प्रयोग करता है, वह भी एक प्रकार से बीज विद्या ही है। भारत में इस प्रणाली का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से है। शैव दर्शन का प्राचीन उद्धार कोश बीजाक्षर कोश है। चीन और जापान की सिद्धम लिपि या चित्राक्षर भी इसी का रूपान्तर है। योग साधना में बीजाक्षर विभिन्न चक्रों से सम्बन्धित है। ह्रीं का उदय आकाश से होकर आयतन विशुद्ध चक्र से सहस्रार तक, "श्री" का आयतन विशुद्ध से आज्ञा चक्र तक—"ऐं" का उदय अग्नि से मणिपूर और विकास स्थान जिह्वाग्र भाग है। "क्लीं" की पीठ मूलाधार है और आयतन काम, संकल्प और कामना है। "ऐं" का साथ "क्ली" से और "ह्रीं" का साथ "श्री" से है। "ऐं" सरस्वती का ही बीज मंत्र है। पूज्यपाद प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती ने जपसूत्रम् में मंत्र को "स्वाभाविक शब्द" मानते हुए उसे वस्तु का बीज मन्त्र गिना है, जैसे "र" अग्नि का बीज मन्त्र है। उसी प्रकार ल, व, र, प, ह ये यथाक्रम में क्षिति, अग्नि, जल, वायु और व्योम के। पूज्यपाद का कथन है केवल पंचभूत ही क्यों—"जहाँ जीव वहाँ शिव, जहाँ शिव वहाँ शक्ति" क्योंकि जीव मात्र का एक निजस्व बीज मन्त्र है। हम दीक्षा के समय

श्रीगुरुमुख से जो मन्त्र पात है, वही हमारा निजस्व बीज मंत्र है। बीज मन्त्र मौलिक या यौगिक होते हैं। "व" मौलिक है, हस "ह्री" क्री यौगिक। शब्द के विकार और संकर के नष्ट होने पर शब्द विशुद्ध और स्वाभाविक हो जाता है। यही बीज मंत्रों का उद्धार व मन्त्र चैतन्य है। बीज मन्त्र प्रच्छन्न शक्ति को उदार बना देते हैं। बीज मत्र का अपना शास्त्र और विज्ञान है। उसका इस निबन्ध में कहाँ तक विवेचन करूँ? इस सम्बन्ध में केवल सरस्वती के बीज मंत्र "ऐं" को ही ले। देवी भागवत की सत्यव्रत कथा के आधार पर इसे समझा जा सकता है। (दे० भा० ३-६-४२-४४) इस कथा में ऐं-ऐं बीज मंत्र की बड़ी वैज्ञानिक व्याख्या की गई है। "सारस्वतं बीज मिति ऐं-ऐं इतिशब्दं चकारेत्यर्थः। स्वभाव एवायं मनुष्याणाम् दुःखातरं दृष्ट्वा" ऐ-ऐ इति शब्द उच्चारणीय इति। (देवी भागवत ३११:२२: पर तिलक व्याख्या)। एक उपनिषद् है सरस्वती रहस्योपनिषद्। दसश्लोकी इस उपनिषद् में सरस्वती के दस बीज मंत्रों की व्याख्या की गई है, इसी प्रकार सिद्ध कुंजिका स्तोत्र में भगवती के बीजाक्षरों की—

ऐं कारी सृष्टि रूपाय ह्रीं कारी प्रतिपालिका।
क्लींकारी काम रूपिण्ये बीज रूपे नमोस्तजे॥

यह प्रसिद्ध जानकारी मंत्र के बीजाक्षरों के आधार पर है।

मातृ-साधना ही हमारे जीवन की शक्ति-साधना है और मातृ भाव ही शक्ति भाव। मातृ संबंध ही समष्टि चेतना संबंध है। भारतीय समाज, संस्कृति, धर्म और दर्शन में इससे परे कुछ नहीं, और तो और, वहीं "पुरुषकार शक्ति" है और गुरु का "शक्तिपात"। मातृदेव अर्थात् सर्वदेव। □

भाई-बहनों को एक करने वाली कोई शक्ति है, तो मातृ-प्रेम है, पितृ-प्रेम है।

—विनोबा

कृष्णकुमार कनोई

□

शक्ति की लोकप्रिय गीता : श्री दुर्गासप्तशती

तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्।
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा ।।

राजा सुरथ से महर्षि मेधा ने कहा—महाराज! आप उन्हीं भगवती परमेश्वरी की शरण ग्रहण कीजिये। ये आराधना से प्रसन्न होकर भोग, स्वर्ग और अपुनरावर्ती मोक्ष प्रदान करती हैं।

मनुष्य जीवन के काम्य हैं—भोग, स्वर्ग और मोक्ष। साधारणतः हमारे जीवन की विडम्बना यह है कि जहाँ सांसारिक भोग है—वहाँ न स्वर्ग है और न मोक्ष। पर, यदि कोई यह आश्वासन दे कि तुम्हें इस पथ से भुक्ति एवं मुक्ति दोनों की प्राप्ति होगी—तो मानव-जाति का उस ओर आकृष्ट होना सहज स्वाभविक है। पर—इन दोनों को या इनमें से किसी एक को प्राप्त करने के लिए हमें समान रूप से शक्ति-साधना की आवश्यकता है।

उपनिषद्कार का डिंडिम घोष है—

नायमात्मा बल हीनेन लभ्यः।

दोनों की प्राप्ति का, स्वार्थ एवं परमार्थ साधने का, साधन है—शक्ति, शक्ति की उपासना। श्रीमद्भगवद्गीता, महाभारत का एक लघु अंश है; पर—यह अंश स्वतंत्र रूप से अपना वैशिष्ट्य लिये है; उसी तरह श्री दुर्गासप्तशती

मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत है; लेकिन उससे पृथक् अपनी स्वतंत्र स्थिति एवं अपनी अस्मिता को बनाये है।

दुर्गा सप्तशती हिन्दू धर्म का सर्वमान्य ग्रन्थ है। इसमें भगवती की कृपा के सुन्दर इतिहास के साथ बड़े-बड़े गूढ़ साधन-रहस्य भरे हैं। संस्कृत के तीन ग्रन्थ गीता, विष्णु सहस्रनाम एवं दुर्गासप्तशती—सारे राष्ट्र में जनसाधारण से लेकर—विद्वानों, साधकों और मनीषियों में समान रूप से आदृत हैं। पर, दुर्गासप्तशती की महिमा—हमारे दो उत्सवों, समारोहों के साथ, जुड़ी हुई है—अतः इसका सांस्कृतिक महत्व बहुत बढ़ गया है।

"कर्म, भक्ति एवं ज्ञान की त्रिविध मन्दाकिनी बहानेवाला यह ग्रन्थ भक्तों के लिये वाञ्छाकल्पतरु है। सकाम भक्त इसके सेवन से मनोऽभिलषित दुर्लभतम वस्तु या स्थिति सहज ही प्राप्त करते हैं, और निष्काम भक्त परम दुर्लभ मोक्ष को पाकर कृतार्थ होते हैं। ....इसके अनुसार आराधना करके ऐश्वर्यकामी राजा सुरथ ने अखण्ड साम्राज्य प्राप्त किया तथा वैराग्यवान् समाधि वैश्य ने दुर्लभ ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्त की। अबतक इस आशीर्वादरूप मन्त्रमय ग्रन्थ के आश्रय से न मालूम कितने आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु तथा प्रेमी भक्त अपना मनोरथ सफल कर चुके हैं।

...।

संघ-शक्ति

देवी का प्राकट्य हमारी संघ-शक्ति पर निर्भर है—इसी सत्य का उद्घोष दुर्गासप्तशती में है। देवता निराश हैं, स्वर्ग से च्युत हैं, वे महिषासुर से त्रस्त हैं। उनकी दयनीय स्थिति को देखकर भगवान विष्णु एवं शिव की दैत्यों पर भौंहें तन जाती हैं—ऐसे ही सात्विक क्रोध से मन्यु से एक महत्तेज प्रकट होता है—

अतीव तेजसः कूटं ज्वलन्तमिव पर्वतम्।
ददृशुस्ते सुरास्तत्र ज्वालाव्याप्तदिगन्तरम्॥

महान् तेज का वह पुञ्ज जाज्वल्यमान पर्वत-सा जान पड़ा। देवताओं ने देखा, वहाँ उसकी ज्वालाएँ सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त हो रही थीं।

सभी देवताओं के शरीर से निकले तेज ने एक विराट् शक्ति का रूप धारण किया। उस सिंहवाहिनी देवी के अट्टहास से गगनमण्डल थर्रा उठा। और जगदम्बा के समरकौशल से देवता विजयी हुए।

दुर्गासप्तशती का मूल सन्देश है—अजेय महाशक्ति को पैदा करने के लिये बिखरी हुई शक्तियों को समेटो, संघ-बद्ध होकर व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र का निर्माण करो। व्यक्ति के लिये संघ-बद्ध होने का अर्थ है—मन, बुद्धि और इन्द्रियों में मेल बैठाना। व्यक्ति के जीवन की विडम्बना यह है कि उसकी

बुद्धि कुछ विचार करती है, मन कुछ चाहता है, कार्य दोनों के विपरीत करता है--अर्थात् उसके बुद्धि एवं भाव पक्ष में सामरस्य नहीं ; वह टूटा हुआ, बिखरा हुआ व्यक्ति है--संतुलित एवं शक्तिशाली व्यक्तित्व का विकास तभी संभव है--जब हम आत्मा की विशालता में--प्रज्ञालोक में--हृदय को शोधित करें, संयमित करें और फिर लोकसंग्रह की भावना से निरहंकार होकर--कर्मयोगी बनें ! समाज के लिये व्यक्ति सजीव घटक है--ऐसे ही व्यक्ति समुदाय से समष्टि का गठन हो ; यही इसका मूल स्वर है--जो आद्यन्त झंकृत है।

विविधारूपा देवी

निःसन्देह दुर्गा का स्वरूप रणचण्डी का स्वरूप है लेकिन वह तो जगदम्बा है--अखिल ब्रह्माण्ड में वह एक होकर भी विविध रूपों से परिव्याप्त है। उसी महामाया का यह लीला विलास है। वह पुण्यात्माओं के घरों में स्वयं लक्ष्मी रूप से, पापियों के यहाँ दारिद्रयरूप से शुद्ध अन्तःकरण वालों के हृदय में बुद्धि रूप से, सत्पुरुषों में श्रद्धा रूप से तथा कुलीन मनुष्यों में लज्जा रूप से निवास करती हैं, ऐसी भगवती दुर्गा सब के लिये प्रणम्य हैं,

परिपालय देवि विश्वम्।

देवी! सम्पूर्ण विश्व का पालन कीजिये।

ऋषि ने अत्यन्त मुग्ध वाणी में ज्वालामुखी स्फोट से ओजस्वी रणनाद में इस सप्तशती की रचना की है ; ऊपरी सतह पर रक्त-प्लावन--पर, भीतर करुणा की, विश्व मंगल की मधुर अन्तः सलिला प्रवाहित है।

अति सौम्या--अति रौद्र-स्वरूपा देवी को हम नमस्कार करते हैं--

अतिसौम्यातिरौद्रायै नमस्तस्यै नमोनमः।

वह विश्व की आधार भूता देवी--सम्पूर्ण प्राणियों में--विविध भावों में, विविध वृत्तियों में--परिव्याप्त है। उस देवी को बार-बार नमस्कार है। ऋषि ने देवी के इस व्यापक एवं सूक्ष्म स्वरूप का अत्यन्त प्रभावशाली शैली में--तरंगित लय में--विशद वर्णन किया है। इन निम्न पंक्तियों का सस्वर पाठ मन-मस्तिष्क में अव्याहत गूंजता रहता है--

या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता।
नमस्तस्यै। नमस्तस्यै। नमस्तस्यै नमोनमः॥

वही देवी सर्व भूतों में चेतना रूप से, बुद्धि रूप से, निद्रारूप से व्याप्त है। क्षुधा, तृष्णा, क्षान्ति, लज्जा, शांति, श्रद्धा, कान्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, भ्रान्ति--सभी उस महाशक्ति की विविध रूपा वाह्य अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं। जहाँ वह शक्ति कोमल वृत्तियों में रूपायित है, वहीं कठोर तामसिक वृत्तियों में भी।

वह एक है, अद्वय है, उसी का यह विराट् विस्तार है। जैसे एक महासागर—अनन्त ऊर्मियों से तरंगित फिर भी प्रशान्त शान्त, गंभीर! ऊपर क्रीड़ा-कल्लोल!

भूतेषु सततं तस्यै व्याप्तिदेव्यै नमोनमः।

देवी का यह पूजोत्सव भारत में आश्विन मास में तथा चैत्र मास में सोत्साह मनाया जाता है। आश्विन मास में उत्सव-वृत्ति और चैत्र में भक्ति-वृत्ति! दोनों हमारे लोक-जीवन के दो पक्ष हैं। भारत कृषि-बहुल देश है—इस समय हमारी धरती सचमुच वसुन्धरा दीखती है और नये फसल के कारण राष्ट्र हर्षोत्फुल्ल मुद्रा में होता है। उल्लासमयी क्रीड़ा के साथ भक्ति के स्वर—यही भारत है, यही भारती है, यही देवी है।

श्रीदुर्गा सप्तशती के सन्देश को हृदयंगम कैसे करें—यह प्रश्न है। याद रहे—दुर्गा सिंहवाहिनी है—अर्थात् जब भी सिंह पैदा होते हैं—यह देवी विजय की देवी—तभी अवतरित होती हैं—उन्हीं सिंहों पर आरूढ़ होकर! यह कथा—हमारे लिये संघ शक्ति का, एकता का, मेल-मिलाप का सन्देश देती है। मां की महिमा को अनन्त स्वरों में उजागर करती है। यह कथा—विजय की कथा है—कोरे बलिदान की, उत्सर्ग की नहीं; यह देवासुर संग्राम मात्र नहीं—यह देवत्व की विजय का उद्घोष है। व्यक्ति के स्तर पर इसका महत्व है—ये महिषासुर आदि दैत्य हमारी ही दुर्दमनीय वृत्तियाँ तो हैं न—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर प्रभृति! उन पर विजय तभी पाई जा सकती है, जब हमारी सद्वृत्तियाँ जगें—यानी दैवी सम्पदा का हम विकास करें।

हम प्रयास करें यह रचना-मात्र शब्दों में, कोरी गलदश्रु भावुकता में, कोरी श्रद्धावनत भक्ति में न रहकर—हमारे जीवन में शक्ति बनकर संचरित हो। व्याष्टि एवं समष्टि में समस्वरात्मक हो। सचराचर विश्व में व्याप्त—मातृ रूपेण देवी सब का मंगल करें।

सर्व मङ्गल मङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते॥ □

डॉ० आजाद मिश्र 'मधुकर'

मां सिद्धसाधन

'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'

गोस्वामी तुलसीदास की यह उक्ति प्रायः प्रत्येक भारतवासी को कण्ठस्थ है। परन्तु क्या सभी इसकी गहराई तक पहुंचते हैं? क्या पहुँचकर कुछ काल तक इसकी धारणा करते हैं? क्या इस धारणा से जीवन में कोई मोड़ आता है? इन सबका उत्तर होगा, बहुत कम। पण्डिताई का एक खास नुस्खा है कि कुछ आदर्श वाक्यों का अभ्यास कर लेना और यथावसर स्वार्थ-सिद्धि में अथवा अपने धाक की छाप छोड़ने में उसका प्रयोग करते रहना। आज-कल यह एक सभ्यता है, परिपाटी है और जीवनक्रम है! इसी से एक बात और निकलती है—'मंच पर कुछ और, घर में कुछ और।' यदि इधर आप इंगित करें तो झट उत्तर मिलेगा 'वचने का दरिद्रता।'

यही सब असंगतियाँ हैं, कुछ विसंगतियाँ हैं, इन्हें ही संसार कहते हैं। यदि इनसे हम मुक्त हो जायं, निर्लेप और निर्विकार हो जायं, तो जीवन-मुक्त हो जाएंगे, संसार के बन्धन से रहित हो जाएंगे। किन्तु इस बंधन का टूटना इतना सरल नहीं है, इसमें एक-दो नहीं अनन्तानन्त गांठें पड़ी हैं, क्योंकि कुछ वर्षों की गांठें हों तब तो इनकी गणना हो सके। ये तो अनादि काल से लगती आ रही हैं। एक तरह से इन गांठों को बांधना मनुष्य का स्वभाव हो गया है।

स्वभाव से मजबूर हुआ जीव इनका जाल बुनता रहता है, इससे तो वह थकता नहीं, अपितु इसे ही वह जीवन मानता है। इनमें कुछ अहम् गांठें एषणाओं की हैं। इनमें भी पुत्रैषणा प्रथम स्थान पर आती है। मनुष्य निर्धन हो अथवा धनी, वह अपनी परिस्थिति को नहीं देखता, पर पुत्र की एषणा जरूर करता है। शायद ही ऐसा कोई हो, जो पुत्र-प्राप्ति की इच्छा न करता हो। इसके लिए वह यथाशक्ति अथक श्रम करता है। इसके लिए जहाँ डाक्टर के पास दौड़ता है, वहीं सुन्दर कविराज का पता लगाकर उसके पास पहुंचता है, कोई नीम हकीम से सलाह लेता है तो किसी को तब तक शान्ति नहीं होती जब तक ओझा-सोखा अपने मंत्र का प्रयास न कर दें। कोई ज्योतिषी के पास पहुँचकर अनुष्ठान का प्रयोग निश्चित करता है तथा वहां असफल होने पर किसी पीर की ड्योढ़ी पर मत्था टेकता है। पर उसे सब जगह से निराशा ही हाथ लगती है। यदि कहीं आशा की ज्योति मिली तो उसे घुणाक्षर न्याय ही समझना चाहिए। इस इच्छा की प्राप्ति में उसका चित्त सदा अशान्त बना रहता है, जैसे गरम रेत में खड़ा नेवला हो।

यही स्थिति कंस के कारागार में पड़े महाराज वसुदेव की भी थी। उनके छः पुत्र कंस के द्वारा मारे जा चुके थे, उनकी पत्नी देवकी के शोकसागर का कोई पारावार नहीं था। उस स्थिति में उन्होंने अपने गुरु गर्ग मुनि को धीरे से बुलाया और अनेक प्रकार से विनती करके अपने दुःख को इन शब्दों में व्यक्त किया—

भगवन् करुणासिन्धो! यादवानां गुरुर्भवान्।
आयुष्मत्पुत्रसम्प्राप्ति साधनं वद मे मुने॥
(देवीभागवत माहा० २-४८)

वसुदेवजी के कष्ट को देखकर उनका उत्तर देते हुए गर्ग मुनि कहते हैं—

वसुदेव! महाभाग! शृणु तत्साधनं परम्।
या सा भगवती दुर्गा भक्तदुर्गतिहारिणी।
तामाराधय कल्याणीं सद्यः श्रेयो ह्यवाप्स्यसि॥
(देवीभागवत माहा० २-४९, ५०)

गर्ग मुनि का यह आदेश सुनकर महाराज वसुदेव अपनी असमर्थता प्रकट करने लगे। वे कहने लगे कि भगवन्! मैं कंस के कारागार में निरुद्ध हूँ, भला इस स्थिति में क्या कर सकता हूँ, अतः आप ही इस दुःखसागर से सन्तरण का उपाय करें—

निरुद्धः कंसगेहेऽहं न किञ्चित्कर्तुमुत्सहे।
अतस्त्वमेव दुःखाब्धेर्मामुद्धर महामते॥
(देवीभा० मा० २-५४)।

वसुदेवजी की इस प्रार्थना से गर्ग मुनि को दया आई, वे कुछ ब्राह्मणों को साथ लेकर मां दुर्गा की आराधना के लिए विन्ध्याचल गये। उनकी आराधना से मां प्रसन्न हुई और कहा—देवकी के गर्भ से साक्षात् भगवान् श्रीहरि अवतार लेंगे। मैंने उन्हें भू-भार हरण के लिए प्रवृत्त किया है। उसी समय मैं यशोदा की पुत्री के रूप में जन्म लूंगी, वहाँ महाराज वसुदेव भगवान् को रखकर मुझे ले आयेंगे। दूसरे दिन कंस मुझे मारने के लिए पृथिवी पर पटकेगा, किन्तु मैं उसके हाथ से निकल जाऊंगी और पुनः विन्ध्याचल पर स्थिति हो जाऊंगी।

स्कन्दपुराण के मानसखण्ड में श्रीदेवी भागवत माहात्म्य के संबंध में कही गई इस कथा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मां भगवती की कृपा से ही वसुदेव को पुत्र की प्राप्ति हुई, उन्हीं की प्रेरणा से भगवान् ने अवतार लिया। इस प्रकार पुत्र-प्राप्ति में सिद्धसाधन मां की कृपा ही है। वहीं पर दूसरा प्रसंग भी वर्णित है, जिसमें रैवतक नामक मनु को देवी की कृपा से पुत्र-प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त पुंस्त्वप्राप्ति का भी अचूक साधन मां की कृपा को बताया गया है।

देवी भागवत माहात्म्य के तीसरे अध्याय में श्राद्धदेव की कथा आती है। उन्होंने पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से महर्षि वशिष्ठ का आदेश पाकर पुत्रेष्टि यज्ञ कराया, किन्तु उनकी पत्नी श्रद्धा कन्या चाहती थी, अतः उसने होता से निवेदन किया आप ऐसा उपाय करें, जिससे मुझे कन्यारत्न की प्राप्ति हो। होता ने संकल्प में परिवर्तन कर दिया, फलस्वरूप उन्हें इला नाम की कन्या मिली। उससे राजा श्राद्धदेव बहुत उदासीन रहने लगे। एक बार उन्होंने अपने गुरु वशिष्ठ से अपनी उदासी का कारण बताया। यह सुनकर गुरु वशिष्ठ ने अपने तपोबल से उसमें लिंग परिवर्तन कर दिया। इस प्रकार इला कन्या पुरुष हो गयी और उसका सुद्युम्न नामकरण किया गया। इस सुद्युम्न, ने बड़ा होने पर शिकार करते-करते इलावृत्त नामक अरण्य में प्रवेश किया, जहाँ जाने से वह पुनः स्त्री-रूप को प्राप्त हो गया। क्योंकि उस प्रदेश को भगवान् शंकर का यह शाप था कि जो भी इस स्थान में प्रवेश करेगा, वह स्त्री हो जाएगा। फलस्वरूप सुद्युम्न एक सुन्दरी नायिका के रूप में जंगल में इधर-उधर घूमने लगा। उस समय उसकी शोभा बड़ी सुदर लग रही थी, उसके सारे अंग मनोहर थे, बिम्ब फल के समान लाल-लाल होठ थे, कुन्द पुष्प के समान दशन पंक्तियां थीं, कमल के समान विशाल नेत्र थे। उसे देखकर भगवान् बुध काममोहित हो गये और वह भी उन पर आसक्त हो गई। दोनों ने वहीं आश्रम में चिरकाल तक विहार किया। इस बीच उन दोनों से पुरूरवा ने जन्म लिया—

अथकालेनकियता पुरुरवसमात्मजम् ।
स तस्यां जनयामास मित्रावरुणसम्भव ।।

(देवीभा० मा० ३-२९) ।

बहुत वर्ष बीतने के पश्चात् उसे एक दिन अकस्मात् अपने पूर्व वृत्तान्त की स्मृति हो आई और वह बहुत दुःखित हुई। तदनन्तर वह गुरु वशिष्ठ के आश्रम में गई और अपनी पुस्त्व-प्राप्ति की इच्छा व्यक्त की। तदनुसार गुरु वशिष्ठ ने भगवान् शंकर की आराधना की, जिससे उसे एक मास पुरुष और दूसरे मास नारी शरीर मिलने का वरदान मिला—

अथ प्रसन्नो भगवानुवाच मुनिसत्तमम् ।
मासं पुमान् स भविता मासं नारी भविष्यति ।।

(देवीभा० मा० ३-४१)

किन्तु इस वरदान से वशिष्ठजी पूर्ण प्रसन्न नहीं थे। यह विडम्बनापूर्ण स्थिति थी। उन्होंने इससे अच्छा उसे स्त्री रहना ही माना, अतः पुंस्त्व-प्राप्ति हेतु अन्ततोगत्वा देवी की आराधना करने लगे। अंत में इस देवी की कृपा से सुद्युम्न को अखण्ड पुंस्त्व की प्राप्ति हुई। तदनन्तर महर्षि वशिष्ठ ने सुद्युम्न का राज्याभिषेक किया और सुद्युम्न ने भी धर्मपूर्वक प्रजा का अनुरंजन किया।

इस प्रकार इस देवी भागवत माहात्म्य में, जो देवी भागवत महापुराण की महिमा का प्रकाशन करता है, उक्त दो कथाओं के माध्यम से दो बातों पर विशेष बल दिया गया है कि पुत्र-प्राप्ति और पुंस्त्व-प्राप्ति मां की ही कृपा से होती है। इसके अतिरिक्त सुख, समृद्धि, पाण्डित्य इत्यादि सारी कामनाओं को पूर्ण करने में देवी की कृपा अपेक्षित है। उपर्युक्त दो कामनाओं की सिद्धि में विस्तृत कथानक को प्रस्तुत करते हुए इस तथ्य को उद्घाटित किया गया है कि उक्त दो मनोरथों की सिद्धि मां के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्भव नहीं। □

डॉ० कमल नयन शर्मा

□

आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में मां का स्वरूप

जिस ब्रह्माण्ड भाण्ड में हम उच्छ्वसित, निःश्वसित होते हुए जीवन को एक धरोहर की तरह धारण किए हुए हे, वह क्या है ? वह कोई अन्य अलौकिक अज्ञेय वस्तु नहीं है। वह हम सबके बीच की वस्तु है, जिसको हम परिवार या एक सगे-सम्बन्धियों की समष्टि की संज्ञा देते हैं। व्यष्टि अपने में परिपूर्णता की अवस्था का अनुभव नहीं कर पाती। वह सदा समष्टि की ओर दौड़ लगाती है और वह दौड़ तब तक समाप्त नहीं होती, जब तक उसकी सम्प्राप्ति नहीं हो जाती। जब तक वह अपने छोटे-से पारिवारिक घेरे में दौड़ती रहती है, तब तक भी वह दौड़ संतोष के लिए पर्याप्त नहीं। सन्तोष तो तब हो सकता है, जब उसकी प्राप्ति हो जाय। जब यह क्षुद्र प्राणी अपने को किसी महान् सत्ता में विलीन नहीं कर पाता, चुप नहीं बैठता, क्योंकि वह अपने को पूर्ण नहीं समझ पाता। अधूरेपन का अनुभव सताता रहता है। आप क्या स्वीकार कर सकते हैं कि अधूरा जीवन ही जीवन है ? नहीं। तब तो उसके लिए तब तक प्रयास करना पड़ेगा, जब तक मुझे वह प्राप्त न हो जाए। तभी वास्तविक संतोष भी संभव है, अन्यथा नहीं। यह शर्त थोड़ी कठिन है, पर असम्भव नहीं। और यह प्रयास है एक महामानव से मिलने का या स्वयं महामानव बनने का। इसमें बहुत अन्तर नहीं है। जब हम अपनी व्यापकता को बढ़ाते चले जाते

हैं तो सबसे पहले वह भी छोटा प्रतीत होने लगता है, जिस आँगन को हम एक दिन पूरा विश्व समझ बैठे थे। जब अपने को अनन्त की ओर ले जाने की कोशिश करेंगे, तब उसके सामने तो सब कुछ छोटा ही है।

ठीक है, यह, जो आपने बात कही। वह उसकी बात है, जिससे कोई महान् नहीं है, व्यापक नहीं है। क्षुद्र प्राणियों को महान् तत्व की आवश्यकता, पड़ सकती है, पर उस महान् को छोटे लोगोंकी आवश्यकता महसूस होती होगी? उसने मेरी तरफ तो कभी देखने को सोचा भी नहीं होगा। कोई बात नहीं, नदियाँ अपनी पूर्णता के लिए समुद्र की ओर अग्रसर होती हैं, सागर नदियों की ओर कभी नहीं आता। अथवा मनसा आता भी होगा तो हम नहीं जानते, नहीं। जानने की आवश्यकता भी नहीं, अपना लक्ष्य पूरा होना चाहिए। चाहे किसी की तरफ से हो। नहीं, ऐसी बात नहीं, समुद्र अपनी जड़ता को हृदय में छुपाये हुए भले ही अहंकार का प्रतीक बनने में गौरव का अनुभव करे, परन्तु चेतन महामानव ऐसा नहीं कर सकता, नहीं, नहीं कर सकता। वह चेतन और जड़ की प्रकृति को कभी भी समान नहीं होने दे सकता। क्या कोई अपने स्वरूप का सहजता से परित्याग कर सकता है? नहीं। तब वह भी सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वाधिष्ठानभूत महापुरुष कभी भी ऐसा नहीं करेगा, जिससे अपनी मर्यादा पर ही आँच आ जाए। महान् की यही महत्ता है कि छोटे को गले लगाकर स्वरूप में परिणत कर दे। यह महत्ता उस अनन्त महामानव में अवश्य ही है। अतएव हम उसे महत्तम मान बैठे हैं। हमारे ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। जब किसी ने उसे लात मारी, तो उसे इसलिए कष्ट हुआ कि मेरी कठोर छाती से टकरा जाने के कारण आपके चरणों में काफी चोट लगी होगी, क्योंकि आपके चरणकमल अत्यन्त कोमल दिखाई दे रहे हैं। इसलिए नही कि मुझे क्यों मार दिया? धन्य है वह महापुरुष! धन्य! ठीक इसी प्रकार जब हम अपना एक हाथ उसकी तरफ बढ़ाते हैं, तो वह चारों हाथों से मुझे पकड़ लेता है। क्रोध से नहीं, अपनी वत्सलता से। तुरत ही अपने पास बैठा लेता है। जैसे स्वयं है, वैसा बना देता है। केवल जरूरत है, एक बार पुकारने की, अपने लोचनों से देखने की, हाथ बढ़ाने की। जानकर नहीं, अनजाने भी यदि एक बार हाथ बढ़ जाए उसकी ओर, तो जीवन की सफलता प्राप्त हो जाए।

सुनते हैं, वह सबसे महान् होते हुए भी अपना दरवाजा खोलकर सदा बैठा रहता है। भूले-भटके भी कोई आ जाए, तो उसको अपने घर ले आए और वह मेरी सेवा करे या न करे, मैं उसकी करूँ। क्या बड़े लोगों की आशा में? नहीं, नहीं। छोटे-से-छोटे लोगों की आशा में। जो निरीह हो, जिनको कोई पूछता नहीं हो। जिनको दर-दर ठोकरें खानी पड़ती हैं, उनकी तलाश

करता रहता है, क्योंकि उसे किसी से कुछ भी नहीं चाहिए। वह भरा-पूरा है। अवाप्तसमस्तकाम है। आत्माराम है।

आप क्या बता रहे हैं? मेरी समझ में कुछ भी नहीं आता। क्यों? जब वह आत्माराम है, तब दूसरों को क्यों चाहेगा? दूसरे की क्या अपेक्षा होगी उसको? वह तो स्वयं अपने-आप में आनन्दविभोर हो बैठा रहेगा। उसे कोई आवश्यकता तो है नहीं। ठीक है, आपका कहना ठीक है। स्वार्थवश सेवा करना तो लघुजनों का काम है, परन्तु महान् वही होता है, जो निष्काम भाव से सेवा करने के लिए सदा तत्पर रहे, जैसे—'मां'। मां बच्चों से कुछ भी नहीं चाहती। केवल चाहती है, बच्चों के लिए सुख-सुविधा, मंगलमय भविष्य। दुःख तो कभी सुनना भी नहीं चाहती, देखना तो दूर की बात है। यदि दैवदु-र्विपाक से दुःख होना ही निश्चित हो, तो उस दुःख को स्वयं झेलने के लिए तैयार हो जाती है। वह चाहती है कि मेरे बच्चे दुःखी न हों, सदा सुखमय जीवन जीवें। यदि परलोक में उस महामानव में निःस्वार्थ वात्सल्य का अतिरेक है, तो इस लोक में वही स्थान माता को प्राप्त है। उसमें वात्सल्य का उद्रेक साफ-साफ झलकता है।

शास्त्राकार बताते हैं कि कालक्रम से जब वह महामानव इस सारे संसार को अपने में समेट लेता है, तब वह एकाकी बच जाता है। उस समय उससे भिन्न कोई वस्तु ही दिखाई नहीं देती। कुछ दिनों तक उसी प्रकार जीवन-यापन करता है। जब काफी दिन बीत जाते हैं, तब वह व्याकुल हो उठता है, उसे अकुलाहट-सी महसूस होती है। वह उस जीवन को छोड़ देना चाहता है। उस तरह का जीवन व्यर्थ, निःसार प्रतीत होने लगता है। तब उसे पहले वाली बात याद आ जाती है और सिसृक्षा जागृत होती है। वह सोचता है मैं अकेला हूँ, अब अपने भरे-पूरे परिवार से संश्लिष्ट हो जाऊँ, इसके लिए प्रजाओं का सृजन करूँ। इससे उसकी स्वार्थपरायणता सिद्ध नहीं होती। इसमें अपना आनन्द-मय जीवन के साथ-साथ प्राणी, जो कर्मवश अनेक भले-बुरे फलों का आस्वादन कर रहे हैं—आज से नहीं, जन्म-जन्मान्तरों से, युग-युगान्तरों से, कल्प-कल्पान्तरों से उनका कल्याण ही निहित है। उनकी मैं सेवा करूँ यही लालसा है, उस महामानव की। क्यों न हो? अपने बच्चों को दुःख-संतप्त देखकर कौन ऐसा होगा, जो अपने को सुसन्तप्त न मानता हो। सेवापरायणता व वत्सलता आदि में वह मां ही है। उसमें मातृभाव भी कम नहीं है। जब किसी को उसके मातृभाव में संदेह होने लगता है, तब वह अपने साथ एक मां के प्रतिरूपक भी बैठा लेता है, जिससे किसी का संदेह का अवकाश न रह जाए, परन्तु करता है वह सब कुछ स्वयम्। दयालुता के अपार पारावार उसके नयनों में छलकते रहते हैं, वे अपने

स्वजन-परिजन को दिखाने के लिए अनेक रूप धारण करते है, जैसे—राधा-माधव आदि। भूत-भावन भगवान् शंकर ने बताया है कि वह अनन्तशक्ति सम्पन्न है। अपनी इच्छा से ही भक्तों को दिखाने तथा सेवा का अवसर प्रदान करने के लिए अपने को दो रूपों में विभाजित किया है। स्कन्द पुराण में महर्षि वेद व्यास ने भी कहा है कि राधा उनकी आत्मा है और अपनी आत्मा में ही स्वयं रमण करते हैं। अतएव आत्माराम शब्द से व्यपदिष्ट होते हैं। हमलोगों को उसमें मातृभाव के अभाव की शंका कदापि नहीं करनी चाहिए।

हाँ ठीक है, महाप्रलय के पश्चात् पुनः सृजन के समय वह अपने को दो रूपों में विभक्त करके दिखाता है, जिसमें एक तो स्वयं पुरुष का स्वरूप होता है और दूसरा स्त्री का। वह भी स्वच्छन्द स्त्री नहीं, जो कभी मातृ भाव को प्राप्त ही नहीं कर पाये। वह मां का स्वरूप है। जो स्वरूप स्त्री रूप में अभिव्यक्त हुआ है और जिसमें मातृता नहीं आयी तो स्वरूप सर्वथा निःसार तथा व्यर्थ है, वह किसी काम का नहीं—'न देवाय न पित्र्ये'। वह विभक्त हुआ नारी का स्वरूप मां का स्थान प्राप्त करता है और मानों दोनों पति-पत्नी हैं तथा सारे संसार के प्राणियों को अपना लाडला पुत्र बना कर सेवन-रक्षण के दायित्व का पूर्ण निर्वाह करते हैं। वह रूप चाहे लक्ष्मी का हो या पार्वती का या अन्य किसी का। इतना ही नहीं, घर-घर की नारियाँ भी लक्ष्मी-स्वरूप हैं। भारतीय संस्कृति में नारियों का इतना ऊँचा स्थान है कि कहा नहीं जा सकता। आज से नहीं, अनादि काल से ही। वर्तमान युग में कुछ स्वार्थपरायण तथाकथित महापुरुष उस छवि को धूमिल कर रहे हैं। उस चमकती हुई दीप्ति को अपने स्वार्थ की कालिमा से पोत रहे हैं और केवल ऊँची-ऊँची बातें कर रहे हैं। अस्तु।

जब नाभिकमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई, तब ब्रह्मा ने अपने संकल्प से चार पुत्रों को उत्पन्न किया। उन चारों में केवल सत्वगुण का ही समावेश था। अतः वे सांसारिक वासनाओं से अपरिचित रहते हुए विरक्त होकर तपश्चर्या में निमग्न हो गये। कुछ दिन बीत गये। सृष्टि आगे नहीं बढ़ पायी। ब्रह्मा को घोर चिन्ता सताने लगी। अपनी अनन्तशक्ति की ओर, जो उनका प्रभाव स्थान था, कातर दृष्टि से निहारा तथा करबद्ध होकर कहा—प्रभो! मैं आपकी आज्ञा का पालन करने में सफल नहीं हुआ। मेरी समझ में कोई बात नहीं आती, मैं क्या करूँ? मेरे सभी पुत्र महान् तपस्वी हो गये—जिनकी सृष्टि की गयी थी। तब उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—बेटा कोई बात नहीं, फिर प्रयास करना चाहिए। मैं उसका उपाय बताता हूँ। जाओ, अब जो सृष्टि करना, उसमें रजोगुण का भी समावेश कर देना तथा दो भागों में विभक्त करके सृजन करना। जिनमें एक रूप पुरुष का होगा और दूसरा रूप नारी का।

तब तुम्हारा संसार गतिशील होगा, अन्यथा नहीं। फिर मुझसे मिलना। ब्रह्माजी अपने निवास लौट आए और उनकी आज्ञा के अनुसार सृजन प्रारम्भ किया, जिससे आज इतना बड़ा संसार फूलता-फलता दिखाई दे रहा है।

अभिप्राय यह है कि जीवन में गतिशीलता लाने के लिए मातृभाव की अत्यन्त जरूरत है। उसकी उपेक्षा करके सांसारिक जीवन का नियमित निर्वाह सम्भव नहीं है। जीवन को रथ माना गया है और दम्पति ही उसके दोनों पहिए हैं। यात्रा तय करने के लिए रथ के दोनों पहियों को स्वस्थ होना आवश्यक है, क्योंकि एक पहिए से रथ में गतिशीलता असम्भव है।

यदि व्यक्ति सन्मार्गनिष्ठ है, तो दाम्पत्यभाव स्वीकार करना ही होगा। तभी हम देव-ऋण तथा पितृ-ऋण आदि से मुक्ति पा सकते हैं, अन्यथा नहीं। महाराज मनु ने साफ ही कहा है—एक आश्रम से गुजर कर ही दूसरे आश्रम को स्वीकार करना श्रेयस्कर है। इस सनातन धर्म की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। इस संदर्भ में यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या मानव जीवन में पिता का कोई स्थान नहीं है? नहीं, ऐसा नहीं कह सकते कि पिता का कोई स्थान नहीं है। परन्तु इतना तो कहना ही होगा कि पिता का प्यार या अन्य कोई भी सद्भाव एक अकथनीय मिठास के साथ माता के द्वारा पुत्र तक पहुँचता है। जैसे समुद्र का नमकीन पानी पुनः वर्षा द्वारा हम लोगों को प्राप्त होता है, जिसमें एक अजीब मिठास का अनुभव होता है। माता धरणी स्वरूपा है। इस पृथ्वी पर हम कितना भी अत्याचार कर बैठते हैं, फिर भी माता पृथ्वी हम बच्चों को प्यार से अपनी गोद में बैठाए रहती है। जब अपने पुत्र को सदाचार-निष्ठ समझती है, उसे किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं होने देती। जब कोई संतान दुराचार परायण हो जाती है, तो उसको पुनः यथेष्ट मार्ग पर लाने का हर सम्भव प्रयास करती है। जल्दी खीजती या झिड़कती नहीं क्योंकि वह मां है। अथर्ववेद में सत्य ही कहा है—"माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" अर्थात् यह भूमि हमारी माता है, हम भूमि के पुत्र हैं। पृथ्वी तथा माता में जो मातृता है, वह अकथनीय है। माता के गुणों का तोलन अन्य किसी से नहीं किया जा सकता। हम माता के प्यार का इतना अधिक महत्व समझते हैं कि दूसरे की कोई परवाह नहीं करते। कभी-कभी मां किसी कार्य में व्यस्त रहती है। बच्चे उसी समय किसी वस्तु के लिए हठ कर बैठते हैं। वैसी परिस्थिति में डाँट देती है। बच्चे रोने लगते हैं, तथापि अपने मां के आँचल से ही लिपटकर रोते हैं, वे दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। वे जानते और समझते हैं कि इतना प्रेम देनेवाला संसार में कोई और नहीं है। इसलिए मां को ममता की प्रतिमूर्ति कहा है—"माङ्माने" से मानयतीति

माता--उसकी निरुक्ति की गई है। यदि परिस्थितिवश पिता की तरफ से उपेक्षा की भावना महसूस करते हैं, तो तत्काल ही माता की गोद में जा बैठते हैं। माता के साथ बच्चे का प्रपत्तिभाव है। अनन्यशरण्यता है। माता प्रेम की साकार मूर्ति है, इसीलिए तो "क्वचिदपि कुमाता न भवति" तथा मनु ने पिता की अपेक्षा माता में गौरव शत गुणित अधिक माना है। जब हमें भूख लगती है, प्यास लगती है या अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता मालूम होती है, तो हम माता के पास पहुँचते हैं और अपनी सारी समस्याओं को उसके पास रख देते हैं। उन समस्याओं का समाधान मां को ढूंढ़ना ही है। कभी-कभी बालक ऐसा हठ ठान बैठता है कि मां के सामर्थ्य का नहीं होता, फिर भी मां कोई-न-कोई विकल्प निकालने का प्रयत्न करती है। इस तरह के अनेक उदाहरण हमारी संस्कृति, निधिभूत पुराणों तथा इतिहास-ग्रंथों में भरे पड़े हैं। बात है एक दृष्टि देने की। वर्तमान में हम अपने निधियों की उपेक्षा कर दूसरों की तरफ दृष्टि फैलाए देखे जा रहे हैं। यही दुर्भाग्य की बात है। किसी ने ठीक ही कहा है--"तृषाःक्षुधार्ताः जननीं स्मरन्ति" तात्पर्य यह है कि बड़ी समस्याओं की बात छोड़ दीजिए। भूख-प्यास जैसी साधारण समस्याओं से पीड़ित होने पर भी माता का ही स्मरण करते हैं। अस्तु।

हम तो यह समझते हैं कि इस प्रेमद्रवीभूता माता का गुणगान कितना भी किया जाय, वह थोड़ा ही प्रतीत होता है। जिन सौभाग्यशाली पुरुषों को माता के प्यार का सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा, वे ही इन गुणों को समझने में समर्थ हो सकते हैं। जिस गुण का मिठास वाणी से परे है, केवल अनुभवैकगम्य है, उसी प्रकार प्रेम की व्याख्या वाणी से परे है। इनके एक-से-एक उदाहरण अपने संस्कृत-साहित्य में भरे पड़े हैं। इन्हीं सभी गुणों के कारण ही माता को इस लोक में देवता का स्थान प्राप्त हुआ है। पुत्र का कर्त्तव्य है उसकी सर्वतो भावेन सेवा करना। भगवतीश्रुति कहती है--"मातृदेवो भव।" जब ब्रह्मचारी सारी विद्याओं को पढ़कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता है, उस समय अन्य उपदेशों के साथ यह भी एक महत्त्वपूर्ण उपदेश रूप में प्राप्त करता है। इन संदर्भों में श्रवण कुमार आदि की कथाओं को स्मरण किया जा सकता है। इस प्रकार वैदिक साहित्य से लेकर ऐतिहासिक साहित्यों को देखने से पता चलता है कि माता का एक महनीय स्थान है, जिसे भुलाया नहीं जा सकता। पुत्र के प्रति कर्त्तव्यों में मुख्य रूप से बताया गया है।......

जीवतो वाक्य करणात् श्राद्धेभूरिभोजनात् गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्यः पुत्रता।।

इस प्रकार श्रद्धा और ममता की प्रतिमूर्ति मां के प्रति समर्पण भाव ही पुत्र का सर्वोत्तम कर्त्तव्य है। □

गौरी चट्टोपाध्याय

□

मां का महत्त्व व उसकी पूजा

मां शब्द जिसके लिए प्रयुक्त होता है, उसके महत्व की तुलना हम विश्व की सबसे मूल्यवान वस्तु से भी नहीं कर सकते। ऐसा इसलिए कि मां के लिए ही हमारी सम्पूर्ण सत्ता होती है। यह सत्य है कि हमारी सत्ता में पिता का भी योगदान होता है, परन्तु यदि दोनों की तुलना करें, तो पिता की तुलना में मां का कहीं अधिक महत्व होता है। नवजात शिशु, जो अपनी अनुभूति को शब्द के माध्यम से व्यक्त करने में असमर्थ होता है, दो जुड़े हुए होठों को खोलकर जो ध्वनि निकालता है, उससे मां शब्द ही ध्वनित होता है, सन्तान तो मां का ही अंश होती है, अपने शरीर के सारतत्व से निर्मित सन्तान को मां अपने ही शरीर के दूध से (जो उसका रक्त ही होता है) पुष्ट करती है।[1] इतना ही नहीं, सन्तान को बड़ा करने में मां जितना स्वार्थ त्याग करती है, उतना भला कौन कर सकता है? मां बिना प्रतिवाद किये सन्तान का उत्पात सहन करती है, मां की क्षमाशीलता का क्या कहना—इसको सन्तान समझती है और इसीलिए कोई भी अन्याय करके पुनः मां के सामने खड़ी हो सकती है, क्योंकि उसको यह विश्वास होता है कि मां तो क्षमा कर ही देगी।

---

१. इसीलिए हम गाय, जिसका दूध पीते हैं उसे माता शब्द से सम्बोधित करते हैं और उसकी पूजा करते हैं।

अब हम इस मां से हटकर विश्व की मां, पूरे संसार की जननी, जन्म देने वाली पर विचार करेंगे। प्रश्न यह है कि यदि हमारी जागतिक मां इतनी क्षमाशीला है, हमारे हर दुःख-कष्ट को सहती है, तो क्या यह सम्भव है कि उससे असंख्य गुणा अधिक क्षमता रखनेवाली जगत्जननी हमारे दुःख-कष्ट को न समझे? इसीलिए ठाकुर रामकृष्ण परमहंस देव कहा करते थे—"तुमको जो भी दुःख-कष्ट हो वह मां (माता काली) से कहो, वह तुम्हारी पुकार अवश्य सुनेगी।" अतः अब यह विचारणीय है कि इस जगत् के प्रति हमारा क्या कर्तव्य हो सकता है? यदि हम यह सोचें कि विश्व का सबसे मूल्यवान पदार्थ मां के सामने रखकर मां का ऋण अदा कर सकते हैं, तो यह विचार सर्वथा अनर्थक है। ऐसा इसलिए कि मां जो कुछ हमारे लिए करती है अर्थात् उसकी कृति अतुलनीय होती है। इस पर एक कथा यूं प्रचलित है—किसी व्यक्ति के विचार में यह बात आयी कि किसी के भी प्रति ऋणी नहीं रहना चाहिए और इसीलिए मां से ऋण-मुक्त होने के उद्देश्य से उसने एक मन्दिर का निर्माण करवाया। मन्दिर जिस दिन निर्मित होकर तैयार हुआ, उस व्यक्ति ने बड़ी श्रद्धा के साथ कहा—'मां आज मैं तुम्हारा ऋण अदा करने में सफल हुआ'। ऐसा कहना ही था कि मन्दिर ढह गया। इस सामान्य कथा से इसी बात की पुष्टि होती है कि हम बदले में कुछ करके या देकर मां का ऋण नहीं अदा कर सकते। मात्र हम जो करते हैं वह है उसके प्रति हमारी कृतज्ञता को श्रद्धा के माध्यम, पूजा के माध्यम से व्यक्त कर सकते हैं और यही पुरातन काल से चला भी आ रहा है। माता की पूजा के महत्व की चर्चा के उपरान्त मातृदेवो भव की पूजा सामान्य और शक्ति-पूजा विशेष के विकास पर विचार करेंगे।

प्राचीन काल में मातृ देवी की पूजा का प्रसार एशिया और यूरोप में बहुत अधिक था, संस्कृत के तीन शब्द क्रमशः अम्बा, अक्का और अल्ला जो मां के ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, मातृ देवी को द्योतित करते हैं।

मातृ देवी की पूजा प्रारम्भिक सुमेरियनों में अधिक मात्रा में प्रचलित थी। बैबिलोन और असीरिया के निवासी भी मातृ देवी की पूजा करते थे, जिन्हें वे 'इश्तर' के नाम से पुकारते थे। हेरोडोटस से हमको यह ज्ञात होता है कि प्राचीन अरब निवासी 'अलीतात' नामक मातृ देवी की पूजा करते थे। बाद में इसी मातृ देवी का परिवर्तन पुरुष देवता 'अल्लाह' में हो जाता है, जिसे मुहम्मद साहब ने एकमात्र उपास्य के रूप में ग्रहण किया—लाइलाहि हिलिल्लाह मुहम्मदर रसूले अल्लाह—अल्लाह के अतिरिक्त और कोई ईश्वर नहीं है और मुहम्मद उसका पैगम्बर है। यह इस्लाम-धर्म के विश्वास का सूत्र या सिद्धान्त है और इसकी शिक्षा स्वयं मुहम्मद साहब देते हैं।

इसके बहुत पूर्व हित्तियों के राजधर्म में भी मातृ देवी की पूजा का उदाहरण मिलता है। अनातोलिया के यजिलीकय नामक स्थान से जो भित्ति चित्र मिलते हैं, उसमें मातृ देवी 'हेपत' को सिंहवाहिनी के रूप में चित्रित किया गया है, जिसका समीकरण पौराणिक हिन्दू धर्म के दुर्गा से किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त फ्रिजिया और कई ग्रीक नगर राज्यों में मातृ देवी की पूजा कई रूपों मे होती थी। 'सीमोली' एक धरती माता थीं, जो ग्रीक धर्म में अत्यन्त प्रचलित थीं। इससे भी पूर्व हमें एक देवी मातृ देवी का चित्रण प्राप्त होता है, जिनकी दोनों तरफ दो शेर हैं और जो हाथ से सर्प पकड़ी हुई हैं।

भारत में मातृ देवी की प्राप्ति हड़प्पन सभ्यता में होती है। इस मातृ देवी की कुछ लघु मूर्तियों का निर्माण-प्रारम्भ मोहनजोदड़ो, हड़प्पा और चन्हुदरो जैसे स्थानों से हुआ।

जब आर्य लोग भारत आये तो वे अपने साथ पूजा, मुख्य रूप से देवता की पूजा, ले आये। यदि वे किसी भी देवी की पूजा करते थे तो वे क्रमशः आदित्य की मां अदिति, पृथ्वी, उषा, द्यौस थीं। और देवियां जो शक्तिरूपा हैं, उनका नाम पूजा के विषय में आता है। वे क्रमशः अग्नि की पत्नी अग्नानि, इन्द्र की पत्नी इन्द्राणि, वरुण की पत्नी वरुणानि, विशकपि की पत्नी विशाखापाई हैं।

तन्त्र शास्त्र सामान्यतः शक्ति की पूजा से संबंधित होता है, परन्तु कुछ वैष्णव तन्त्रों की भी प्राप्ति होती है। तंत्र-पूजा का वह रूप या प्रकार है जिसके माध्यम से मुक्ति की प्राप्ति होती है, दूसरे शब्दों में तंत्र मुक्ति-प्राप्ति का साधन है।

महायान बौद्ध धर्म में तंत्र-पूजा को स्थान प्राप्त हुआ और इसके फलस्वरूप महायान बौद्ध धर्म कई शाखाओं में विभक्त हो गया, जिसमें वज्रयान का नाम आता है।

यह अनुभव किया गया है कि जीवन से पलायन एक अत्यन्त कठिन प्रस्ताव होता है। इस भूमि में मुक्ति के साधन के रूप में संन्यास की स्थापना हो चुकी थी। परन्तु अनुभव के आधार पर यह पाया गया कि कामनाओं से छुटकारा पाना सरल नहीं है। अतः इस पर विचार हुआ और सांख्य दर्शन के प्रभाव में यह सोचा गया कि अपने को प्रकृति के पराधीन कर लेना चाहिए। शिव, पुरुष को द्योतित करता है, जबकि प्रकृति शक्ति के द्वारा द्योतित होती है। शक्ति से युक्त शिव या शक्ति सहित शिव ही शिव होता है और शक्ति सहित शिव, शव हो जाता है। हमें काली, तारा और महाविद्याओं की प्राप्ति होती है, जो शिव के हृदय में खड़े होने के अन्याय का अनुभव कर व जिह्वा निकाले प्रदर्शित

होती हैं। सांख्य के अनुसार प्रकृति हमें भोग एवं कैवल्य दोनों की दाता है। यह तंत्र आगे चलकर दो भागों में विभाजित हो जाता है —१. दक्षिणमार्ग और २. वाममार्ग। वाममार्ग में देवी की पूजा के साथ भोग का समझौता पाया जाता हैं। इस सन्दर्भ में बुद्धि में पंच मकार आ जाते हैं। तथापि दक्षिणमार्ग में देवी की उपासना विना इन मकारों का आश्रय ग्रहण किये की जाती है, भगवत्पाद शंकराचार्य दक्षिणमार्ग के अनुसार शिव और शक्ति दोनों के उपासक थे। शंकराचार्य जो वेदान्त के महान् दार्शनिक थे, उनके नाम से प्रचलित ग्रन्थ 'तंत्रप्रपंचसार' कहलाता है। पद्मपादाचार्य, जो शंकराचार्य के प्रधान शिष्यों में से थे, उन्होंने शंकराचार्य की उपर्युक्त कृति पर व्याख्या लिखी।

वाममार्ग का संकेत ऋग्वेद संहिता के उन मंत्रों में मिलता है, जहाँ लोपा-मुद्रा अगस्त्य मुनि को ऐन्द्रिक सुख में प्रवृत्त कराने की चेष्टा करती है। उन मन्त्रों में यह कहा गया है कि अगस्त्य मुनि ने भोग के जीवन के साथ समझौता कर लिया था। वास्तविक शब्द जो प्रयुक्त हुए वे निम्न हैं—उभौवर्णो मुनि-रुग्रः पुपोष—संयमी मुनि ने ईश्वर की विशेषता और दानव की विशेषता, दोनों को पुष्ट किया।

तंत्र-पूजा का प्रसार कामरूप कामाख्या से लेकर मिथिला, बंगाल और फिर दक्षिण, इस प्रकार पूरे भारतवर्ष में हुआ। अलग-अलग स्थानों में तंत्र-पूजा के स्थानीय प्रकार की प्राप्ति होती है। भवानी दुर्गा के प्रति श्रद्धा का संकेत उत्तर प्रदेश के जनप्रिय विश्वास में मिलता है। कान्य कुब्ज शक्ति-पूजा का वाममार्ग और दक्षिणमार्ग—दोनों का महान केन्द्र था।

न केवल उच्च वर्गों में ही शक्ति-पूजा प्रचलित थी, वरन् भारत की पिछड़ी जाति में जैसे ओरेओन्स, सन्थाल आदि जातियों ने भी शक्ति-पूजा को अपनाया था। □

पी० के० गोड

□

प्रभु का मातृ-रूप

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतंगमय ।

शब्द कोश में सर्वाधिक मधुर शब्द 'मां' है। प्रत्येक जीव जोभी मां का दूध पीनेवाला है, जन्म लेने के बाद जो प्रथम शब्द उच्चारण करता है, वह व्यक्त-अव्यक्त रूप में मां ही है। प्रभु जो कि आदि, मध्य और अन्त हैं—अनन्त हैं, उनका गर्भ रूप ही आदि 'मां' है। इन्हें प्रकृति मां से भी सम्बोधित करते हैं। विधात्री, माया, योगमाया भी यही हैं।

अर्धनारीश्वर का रहस्य भी यही हैं। आधा वाम अंग स्त्री रूप और दक्षिण अंग पुरुष रूप में प्रभु, हृदय में विराजते हुए, आदि, मध्य और अन्त तक समाये रहते हैं। प्रत्येक जीव में प्रभु इसी प्रकार वाम और दक्षिण अंग में व्याप्त हैं। सम्पूर्ण सृष्टि में भी प्रभु इसी प्रकार ब्रह्म और मां शक्ति रूप में अपने अन्तर रूप में विराज रहे हैं। इन परमपिता और प्रकृति मां के दर्शन वही कर सकता है, जो अपनी ज्ञान की आँखों से एकता में अनेकता और अनेकता में एकता देखने की कृपा प्रभु से प्राप्त कर ले।

जो भी हम देखते, सुनते और समझते हैं। जो न हम देख सकते हैं, न सुन

सकते हैं और जहां हमारी बुद्धि नहीं जा सकती, वह सब प्रभु 'माता और पिता' रूप में ही हैं। ब्रह्म पिता रूप और शक्ति माता रूप हैं। दोनों एक ही है। भेद केवल नाम का है, ब्रह्म और शक्ति का एक ही स्वरूप है।

सभी पूज्यों में पूज्यतम पिता होता है। जन्मदाता पिता से सभी अन्नदाता पिता श्रेष्ठ होता है (इसीलिए प्रभु के ब्रह्म रूप से विष्णु रूप को अधिक पूज्य) मानते हैं। इस अन्नदाता पिता से भी कोटि गुणा श्रेष्ठ और वन्दनीय जननी माता हैं, क्योंकि वह गर्भ धारण करती है और पोषण भी।

नारी रूप में मां का स्वरूप और मां के स्वरूप में भी जननी का स्वरूप पूज्यतम है। हिन्दू-दर्शन में सोलह प्रकार की माताएँ कही गई हैं। गर्भ धारण करनेवाली, माता, स्तन पिलानेवाली माता, भोजन देनेवाली (पालन-पोषण करनेवाली), गुरु-पत्नी, इष्टदेव की पत्नी, विमाता (सौतेली मां), पितृ-कन्या (सौतेली बहन), सहोदरा (सगी बहन), पुत्र वधू, सास, नानी, दादी, भाभी, मौसी, बुआ और मामी। इन सभी को मां का आदर और सम्मान देना चाहिए।

आदि शक्ति श्रीमद्देवीभागवत के अनुसार सोलह गुणों से सम्पन्न हैं। गौरी (धैर्य, सौन्दर्य और योग की अधिष्ठात्री)।

पद्मा (धन, सम्पत्ति की अधिष्ठात्री)।

शची (बल, वीर्य और विविध कामनाओं की अधिष्ठात्री)।

मेधा (शास्त्र विद्या की अधिष्ठात्री)।

सावित्री (संसार सृष्टिक्रिया की अधिष्ठात्री)।

विजया (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि आन्तरिक शत्रुओं पर विजय दिलाने की अधिष्ठात्री)।

जया (बाह्य शत्रुओं पर विजय दिलानेवाली अधिष्ठात्री)।

देव सेना (सैन्य-संचालन-कौशल की अधिष्ठात्री)।

स्वधा (पितरों के श्राद्धादि की अधिष्ठात्री)।

स्वाहा (देवताओं के यज्ञादि की अधिष्ठात्री)।

शान्ति (योग में सहायक शान्त चित्तवृत्ति की अधिष्ठात्री)।

पुष्टि (भोग प्राप्ति की अधिष्ठात्री)।

धृति (संसार पालन की अधिष्ठात्री)।

क्षमा (क्षमा की अधिष्ठात्री)।

इष्ट देवी (महालक्ष्मी, पार्वती और सरस्वती)।

कुल देवी (शाकम्भरी, अन्न व वनस्पति देनेवाली)।

प्रति वर्ष चैत्र मास और आश्विन के शुक्ल पक्ष के प्रथम नौ दिवस में मां दुर्गा का आराधन और वन्दन किया जाता है। यूनान में इन नवदुर्गा को ईश्वर

की नौ पुत्रियों (कन्याओं) के रूप में आराधना की जाती है। सिकन्दर के माता-पिता ने भी इन्हीं की आराधना करके सिकन्दर जैसा यशस्वी पुत्र बृहस्पति से प्राप्त किया था। इन नौ दुर्गा को हम शैल पुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्द माता, कात्यायनी, काल रात्रि, महागौरी एवं सिद्धिदात्री रूप में पूजते हैं

इन्हीं मां दुर्गा का तन्त्र विद्या के अनुसार तांत्रिक साधक मां के निम्न रूपों में आराधना और यज्ञादि करके सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। वह है—विद्यास्वरूपिणी मां महाकाली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातङ्गी व कमला (ब्रह्माणी, रुद्राणी, कल्याणी)।

जिस प्रकार अखण्ड ब्रह्माण्ड में प्रभु परमपिता और माता प्रकृति के रूप में व्याप्त हैं, उसी प्रकार देही रूप में नर और नारी में व्याप्त हैं। माता जब गर्भ धारण करती है, उस समय ग्रहण को छोड़कर किसी अन्य ग्रह का प्रभाव उस बच्चे पर नहीं पड़ता है। इतना सुरक्षित और शक्तिशाली मां का यह रूप है। जन्म के समय ही बच्चे पर ग्रहों का प्रथम प्रभाव पड़ता है। सृजन में न केवल शारीरिक प्रगति बच्चे की होती है, अपितु बच्चे की शक्ल की बनावट भी मां के विचारों और ध्यान से ही बनती है। जैसा-जैसा मां देखती और ध्यान करती है, वैसी ही शक्ल बच्चे की बनती है। जैसे-जैसे विचार मां करती है, वैसे ही विचार बच्चे के होते हैं। जननी ही प्रथम गुरु भी है। कोई भी आज जो कुछ भी है, भूतकाल में भी कुछ रहा है, वह उसकी जननी की ही देन है। सभी के ऋण से मुक्ति पाई जा सकती है, मगर जननी के ऋण से मुक्ति नहीं। प्रभु के इस जननी रूप को मेरा कोटि-कोटि प्रणाम। □

चूर-चूर ह्वै अन्त लौं, रखिये कुल की लाज।
जननि-दूध-पितु-खड्ग की, अहै परिच्छा आज॥

—वियोगी हरि

श्रीमती दयाकान्ति

□

महिमामयी गंगा मां

गंगा की उत्पत्ति और स्वरूप

पहले सुरलोक में गंगाजी सुरधुनी नाम से अपनी महिमा में पूर्ण थीं। मां गंगा भगवान श्रीकृष्ण की द्रवीभूता मूर्तिमती पावनी शक्ति हैं। योगीश्वर भगवान् शिव उन्हें अपने मस्तक पर आदरपूर्ण धारण करके प्रेमघन सुन्दर रूप में विराजमान थे। गंगाजी का विहार क्षेत्र दिव्यलोक ही था।

देवर्षि, ब्रह्मर्षि, महर्षि और सिद्धर्षिगण उनका करुणा-प्रसाद पाकर प्रेम तथा आनन्द में सराबोर होते थे। देवता, विद्याधर और तत्वज्ञवृन्द उनकी गोद में आनन्द से क्रीड़ा करते थे।

भागीरथ की अलौकिक तपस्या ही उन शिव सुहागिनी, दिव्यलोक विहारिणी, ज्ञान-प्रेम पवित्रा मां गंगा को इस मर्त्यलोक में ले आई।

जिनका निवास-स्थल योगीश्वर, ज्ञानीश्वर, कल्याण घनमूर्ति श्री शिव के मस्तक पर था। सर्वपाप विवर्जित, सौन्दर्य माधुर्य-विमण्डित दिव्यधाम ही जिनका विहार क्षेत्र था। वे इस वन, जंगल और पर्वतों से पूर्ण मालिन्यमयी मर्त्यभूमि में अवतरित हुईं। इस मर्त्यलोक की धूल और मिट्टी को उन्होंने अपने पवित्र अंग में लगाया। मर्त्यलोक के निवासी अपनी सब प्रकार की मलिनता उनके अंक में डालने लगे। ये सब प्रसन्न मन से लेकर वे महासागर से मिलने

के लिए चलीं। मर्त्यलोक की मलिनता देखकर उन्होंने घृणा से मुँह नहीं मोड़ा, वहाँ से विरक्त होकर वे देवलोक को नहीं लौटीं। वे निमग्ना होकर वहने लगी, करुणा के उद्रेक से अपने अंगों को फैलाकर वे निम्न-से-निम्नतर और मलिन-से-मलिनतम भूमि में होकर वहने लगीं। मर्त्यलोक की सारी मलिनता ले जाकर उन्होंने पाताल मे पटक दी। उनके प्रवाह का भी विराम नहीं है। उन्हे कभी विश्राम नहीं है। चिरकाल के लिए उन्होंने यात्रा का पथ ही वरण कर लिया है।

मां गंगा का जो यह मर्त्यलोक में अवतरण है, यह जो उनकी अविराम गति है, यह जो पृथ्वी की मलिनता को अपने अंग का आभूपण वना लेना है। इससे उनके माहात्म्य में कोई ह्रास नहीं हुआ है। पृथ्वी पर हँस-खेलकर, नाच-गाकर, मुक्तदेह और मुक्तगति से विचित्र भाव-पूर्ण स्वयं ही अपने स्वरूप का आस्वादन करती हैं।

ये शिवानीशक्ति सदा से सत्य, प्रेम और पवित्रता के नित्य आधार भगवान् शिव के साथ अभिन्न रूप में विद्यमान थीं। उस समय कौन जानता था कि इनमें जड़ को चेतन करने तथा निर्जीव प्राणी समुदाय को संजीवनी-सुधा द्वारा वचाने की शक्ति निहित है। मर्त्यलोक के सारे कल्मप को अपनी पवित्रता द्वारा निष्कल्मप करने तथा संपूर्ण विश्व के पापी तापियों एवं पतित और दलितों को सव प्रकार के पाप-ताप एवं क्लेश और दुर्गति से मुक्त करके चिर पवित्र, ज्ञानी, कर्मी और भक्तों के समकक्ष वनाने की उनके स्वरूप में असाधारण सामर्थ्य है।

मां गंगा की यह महिमामयी शक्ति मर्त्यलोक मे प्रकट हुई, यहाँ अवतरित होकर उन्होंने अपने को करुणामयी, पतितोद्धारिणी और विश्वमंगलकारिणी रूप से प्रकट किया।

इह लोकवासी जीव उनकी स्नेहधारा पाकर आनन्द से मतवाले हो गये। उन्हें नवीन जीवन प्राप्त हुआ और उनमें नवीन आशा का संचार हुआ। मुक्ति के विपय में जिन्हें किसी प्रकार का भरोसा रखने का अधिकार नहीं था, मुक्ति ने मानों स्नेहमयी जननी की भाँति स्वयं ही आकर उन्हें अपनी गोद में उठा लिया। इस प्रवाहमयी मुक्ति जननी का आश्रय लेकर मर्त्यभूमि के वन, पर्वत, नगर, ग्राम तीर्थ वन गये। मिट्टी, जल, आग और हवा को भी नवीन शक्ति प्राप्त हो गयी। कितनी ही उपनदियों ने उनके साथ मिलने का सौभाग्य प्राप्त करके उनके अंगों में अपने अंगों को मिला दिया तथा अपने सम्पूर्ण अंगों द्वारा पतितोद्धार-कार्य का व्रत ग्रहण किया। कितनी ही शाखा-नदियों ने उनके पवित्र जल को दूर-दूर देशों में जाकर सव श्रेणी के जीवों की सेवा में अपने को समर्पित कर दिया।

मां गंगा जिन-जिन स्थानों में होकर वही हैं, उनके आस-पास के वन, जल, स्थल, वृक्ष, लता, वायु और आकाश सभी एक नवीन जीवन-शक्ति से सम्पन्न हो गये। देवनदी गंगा ने मर्त्यलोक में आकर शिवलोक, देवलोक, नरलोक और पाताललोक सभी को एकसूत्र में बांध दिया। मां गंगा ने सम्पूर्ण विश्व को पवित्र, सुन्दर और कल्याणमय वना दिया है। यहाँ उनका माहात्म्य कई गुना वढ़ गया है।

गंगे ! तव दर्शनात् मुक्तिः ॥

गंगा-माहात्म्य

नारद उवाच

प्राचीन काल की वात है, मुनि श्रेष्ठ नारदजी ने ब्रह्मलोक मे जाकर त्रैलोक पावन ब्रह्माजी को प्रणाम किया और पूछा—हे तात ! आपने ऐसी कौन सी वस्तु उत्पन्न की है, जो भगवान् शंकर और विष्णु को भी अत्यंत प्रिय हो, तथा भूतल पर सव लोगों का हित करने के लिए अभीष्ट मानी गई हो।

ब्रह्मोवाच

ब्रह्माजी ने कहा—बेटा नारद ! पूर्व काल में सृष्टि आरम्भ करते समय मैंने मूर्तिमती प्रकृति से कहा—हे देवि ! तुम सम्पूर्ण लोकों की आदि कारण जननी वनो, मैं तुमसे ही संसार की सृष्टि आरम्भ करूँगा। यह सुनकर परा प्रकृति सात रूपों में अभिव्यक्त हुई।

परा प्रकृति के रूप

१. गायत्री, २. सरस्वती, ३. लक्ष्मी, ४. उमादेवी, ५. शक्ति-बीजा, ६. तपस्विनी, ७. धर्मद्रवा—इन सात रूपों में परा प्रकृति प्रकट हुई।

१–परा प्रकृति

गायत्री माता हैं। इनको ब्रह्मविद्या तथा वेद की जननी कहते हैं। इनसे सम्पूर्ण वेद प्रकट हुए हैं। इन्हीं से सारे जगत् की स्थिति है, और स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा और दीक्षा ये भी गायत्री से ही उत्पन्न मानी गई हैं। यज्ञ में मातृका आदि के साथ गायत्री का उच्चारण किया जाता है।

गायत्री मंत्र

ॐ भूर्भुवः स्वः तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

२–परा प्रकृति

सरस्वती देवी हैं, जो सव लोगों के मुख में विराजमान रहती हैं और हृदय में स्थित हैं। तथा ये ही समस्त शास्त्रों में धर्म का उपदेश करती हैं। इनको भारती और वाग्देवी भी कहते हैं।

मातृदेवो भव।

३–परा प्रकृति

लक्ष्मी देवी हैं। जिनसे वस्त्र और आभूषणों की राशि प्रकट हुई है। सुख और त्रिभुवन का राज्य भी इन्ही की देन है। यह भगवान् विष्णु की प्रियतमा हैं।

४–परा प्रकृति

उमा देवी हैं। इनके द्वारा संसार में भगवान् शंकर के स्वरूप का ज्ञान होता है। अत: उमादेवी को ज्ञान की जननी समझना चाहिये। वे भगवान् शिव के आधे अंश में निवास करती हैं।

५–परा प्रकृति

शक्तिबीजा हैं। ये प्रकृति अत्यंत उग्र तथा समूचे विश्व को मोह मे डालने वाली हैं। समस्त लोकों में वही जगत् का पालन और संहार करनेवाली हैं।

६–परा प्रकृति

तपस्विनी देवी हैं। इन्हें तपस्या की अधिष्ठात्री समझना चाहिए। यह सारे संसार में व्याप्त होकर धीरवान् पुरुषों के हृदय में रहकर तपस्वी जीवन बिताती हैं।

७–परा प्रकृति

धर्मद्रवा हैं। जो सब धर्मों में प्रतिष्ठित हैं। उसे सबसे श्रेष्ठ देखकर मैंने अपने कमण्डलु में धारण कर लिया। परम प्रभावशाली भगवान् विष्णु ने बलि के यज्ञ में वामन रूप को धारण किया तथा विराट् रूप से पृथ्वी और आकाश को अपने चरण तल से नापा था। उस समय उनका चरण-नख ब्रह्माण्ड को भेदकर मेरे सामने स्थित हुआ। तब मैंने कमण्डलु के जल से उस चरण-नख का पूजन किया। उस चरण-नख को धोकर जब मैं पूजन कर चुका, तब उन चरणों का धोवन हेमकूट पर्वत पर गिरा। वही जल गंगाजी के रूप में होकर शंकरजी के पास पहुँचकर उनकी जटाओं में स्थित हो गया। तदनन्तर राजा भगीरथ की तपस्या से प्रसन्न होकर मां गंगा मर्त्यलोक में अवतरित हुईं।

बोलो गंगा मइया की जय!! □

(पद्मपुराण से उद्धृत)

माया मालवीय

ठाकुर और मां काली

श्री रामकृष्ण परमहंस और मां काली वस्तुतः अभिन्न थ। मां काली 'ठाकुर' में समाई हुई थीं। वे उनके लिये पाषाण-प्रतिमा नहीं, बल्कि चिन्मयी जीती-जागती शक्ति थीं। श्री रामकृष्ण के अनुसार 'काली महा-प्रकृति' हैं। सृष्टि स्वरूपिणी और प्रलयकरी दोनों हैं। वे विश्वजननी हैं, जो विभिन्न रूपों और दिव्य अवतारों के रूप में प्रकाशित होती हैं। इच्छा होने पर समस्त भूतों के अहंकार को समूल नष्ट करती हैं और उन्हें निर्विकार ब्रह्म में लीन करती हैं। जब विवेकानन्द ने ठाकुर से पूछा—"क्या आपने भगवान् को देखा है?" उन्होंने उत्तर दिया—"मैं जिस प्रकार तुम्हें देख रहा हूँ, उसी तरह उसे भी देखता हूँ, बल्कि उससे भी तीव्रतर रूप में।"

रामकृष्ण परमहंस, (रोमां रोलां, पृ० ४८) एक क्षण को भी काली से अलग नहीं थे। उनसे वार्तालाप, परिहास भी करते थे और किसी बात में शंका होने पर मां से जाकर पूछते थे। वे कहते थे कि नाक पर हाथ रखकर मैंने देखा है कि मां सांस ले रही हैं। कभी उनका हाथ पकड़ कर नृत्य भी करते थे।

श्री रामकृष्ण मां काली के दिव्य रूप-राशि से अभिभूत और मुग्ध थे। वे, मां के समस्त कार्यों में उनके संग ही रहते थे। वे उनके साथ एकाकार हो गये

थे। वे मां से जिद करते हैं, कि मां तुमने रामप्रसाद को दर्शन दिये थे, मुझे नहीं दोगी! वे गाते हैं—

"देवताओं के बीच वह कौन रमणी चमक रही है, जिसके घने काले केश मेघ श्रेणी के समान जान पड़ते हैं? वह कौन है जिसके रक्तोत्पल युगलचरण शिव की छाती पर विराजमान हैं? वह कौन है जिसके पैरों की दीप्ति सूर्य को भी मात कर रही है? वह कौन है जिसके मुख पर मधुर हास्य शोभित है और जिसका विकट अट्टहास रह-रहकर दसों दिशाओं को गुंजा दे रहा है।

"हे श्यामा! शवारूढ़ा मां! सुनो। जब मेरी अन्तिम सांस इस देह को छोड़ चलेगी तब ऐ शिवे! तुम मेरे हृदय में प्रकाशित होना। उस समय मां! मैं वन-वन घूमकर सुन्दर जवा कुसुम चुनकर ले आऊँगा और उसमें भक्ति का चन्दन मिलाकर तुम्हारे श्री चरणों में पुष्पांजलि दूंगा।" (रा० कृ० वचनामृत तृतीय पृ० ४६४)

उनकी साधना में एक समय ऐसा आया जब मां अन्तर्हित हो गईं और उनसे दूर-दूर रहने लगीं। मां के दर्शनों के लिये व्याकुल ठाकुर जमीन में लोट-लोट कर आर्त भाव से रुदन करने लगे। उनका मुखमण्डल और वक्षस्थल रुधिर से लाल हो उठा। नेत्रों से अश्रुधारा बहती थी और गात्र कम्पित रहने लगा। एक दिन असह्य यन्त्रणा से व्याकुल होकर उन्होंने अपने जीवन का अन्त ही कर डालना उचित समझा। मां के मन्दिर में तलवार उठाकर वे अपने पर प्रहार करना ही चाहते थे कि अपने सामने एक निःसीम ज्योतिपुंज का सागर लहराता देखा, जिसकी तरंगों में वे डूब गये। वे संज्ञाहीन कई दिन पड़े रहे। मां ने उनके अन्दर प्रवेश कर लिया था।

एक बार श्री रामकृष्ण अपने कुटीर के पास टहल रहे थे। रानी रासमणि के जामाता माथुर बाबू ओट से उन्हें निहार रहे थे। अकस्मात् वे चीख उठे। उन्होंने देखा कि एक तरफ जाते हुए रामकृष्ण शिव का रूप धारण किये दिखाई देते हैं और दूसरी तरफ जाते हुए काली के रूप में दिखाई देते हैं। ठाकुर कहते हैं—"इस शरीर के भीतर मां स्वयं हैं। भक्तों को लेकर लीला कर रही हैं।"

काली ब्रह्म का पर्याय

श्री रामकृष्ण कहते हैं—"जो पुरुष हैं, वे ही प्रकृति हैं। जो ब्रह्म हैं, वही शक्ति हैं। जिस समय निष्क्रिय हैं, सृष्टि-स्थिति—प्रलय नहीं कर रहे हैं, उस समय उन्हें हम ब्रह्म कहते हैं, पुरुष कहते हैं। और जब वे उन सब कार्यों को करते हैं, उस समय उन्हें शक्ति कहते हैं। प्रकृति कहते हैं। परन्तु जो ब्रह्म

हैं, वही शक्ति हैं, जो पुरुष हैं, वही प्रकृति बने हुए हैं।" (रा०कृ०व०पृ० २७६)। और भी कहते हैं—"जो ब्रह्म हैं, वही काली हैं। वे जिस समय क्रियारहित हैं। उस समय ब्रह्म, जब सृष्टि-स्थिति प्रलय करती हैं, उस समय काली अर्थात् काल के साथ रमण करती हैं।" (रा० कृ० व० पृ० ६१०)। विभिन्नता का अर्थ पृथकता नहीं है। दोनों एक ही हैं, जैसे दूध और उसकी सफेदी।

मां यन्त्री के रूप में

श्री रामकृष्ण कहते थे—"मैं तो मूर्ख हूँ। कुछ जानता ही नहीं। तो यह सब कहता कौन है ? मैं कहता हूँ मां ! मैं यंत्र हूं, तुम यन्त्री हो। मैं गृह हूँ, तुम गृहस्वामिनी हो, मैं रथ हूं, तुम रथी हो। तुम जैसा कराती हो, मैं वैसा ही करता हूँ, जैसा चलाती हो, वैसा ही चलता हूँ।" 'नाहम्-नाहम्'--'तुम हो, तुम हो।' (रा० कृ० व० पृ० ३८८)।

उनके अनुसार अगर किसी में यह विश्वास आ जाय कि मैं यन्त्र मात्र हूँ, तो वह जीवन्मुक्त हो गया। करता सब ईश्वर है, पर लोग कहते हैं, मैं करता हूँ। वे इसके लिये एक उपमा देते थे। एक हण्डी में चावल, आलू, परवल मिलाकर चढ़ा दिया। कुछ देर में सभी उछलने लगते हे मानों अभिमान कर रहे हों कि मैं उछलता हूँ, मैं कूदता हूँ। छोटे बच्चे उन्हे उछलते-कूदते देखकर जीवित समझ लेते हैं, पर जो जानते हैं, वे समझा देते हैं कि आलू आदि में जान नहीं है। हण्डी के नीचे आग जल रही है, इसलिए उसकी शक्ति से उछल रहे हैं। अगर लकड़ी निकाल ली जाये तो वे नहीं हिलेंगे। इसी तरह जीवों का यह अभिमान कि मैं कर्त्ता हूँ, अज्ञान से होता है। ईश्वर की शक्ति से सब में शक्ति है। (रा० कृ० व० पृ० ३६३)।

श्री रामकृष्ण ने उस इच्छामयी की इच्छा में ही अपनी सभी इच्छाओं और अभिमानों को डूबो दिया था। वे उनके हाथों में यन्त्र बनकर ही समस्त कार्यो को कर रहे थे। मां उन्हें आगे-आगे भविष्य की सब घटनाएँ दिखाती जाती थीं। उन्हें बहुत पहले ही पूर्वाभास हो जाता था।

ब्रह्मज्ञान अज्ञान से परे

ठाकुर कहते थे—"देखो ज्ञान और अज्ञान के पार हो जाओ। तब उन्हें समझोगे। बहुत कुछ जानने का नाम है अज्ञान। पाण्डित्य का अहंकार भी अज्ञान है। 'एक ईश्वर ही सर्वभूतों में है' इस निश्चयात्मिका बुद्धि का नाम है ज्ञान। पैर में गड़ा काँटा निकालने के लिए एक दूसरे काँटे की जरूरत होती है। काँटे को काँटे से निकाल कर फिर दोनों काँटे फेंक दिये जाते है। क्योंकि

वे ज्ञान और अज्ञान से परे हैं, पाप और पुण्य, शुचिता और अशुचिता से परे हैं।" (रा० कृ० व० पृ० ४०५)।

मनुष्य जीवन का उद्देश्य ईश्वर-लाभ

श्री रामकृष्ण कहते हैं—ईश्वर ही एकमात्र वस्तु है, बाकी सब अवस्तु। संसार में है क्या? गुठली चाटना ही है। उसे चाटने की इच्छा तो होती है पर उसमें है क्या? मैंने माता के पास एकमात्र भक्ति की प्रार्थना की थी। उनके पादपद्मों में फूल चढ़ाकर मैंने हाथ जोड़कर कहा था—मां यह लो तुम अपना ज्ञान और यह लो अपना अज्ञान। मुझे शुद्धा भक्ति दो। यह लो अपनी शुचिता और यह लो अपनी अशुचिता। मुझे शुद्धा भक्ति दो। यह लो अपना पाप और यह लो अपना पुण्य। मुझे शुद्धा भक्ति दो। धर्म को लेने से ही अधर्म को लेना होगा। पुण्य को लेने से ही पाप को लेना होगा, ज्ञान को लेने से ही अज्ञान को लेना होगा। शुचिता को लेने ही से अशुचिता को लेना होगा। संसार धर्म के दोष नहीं, परन्तु ईश्वर के पादपद्मों में मन रखकर कामना रहित होकर कर्म करना चाहिए। अगर किसी की पीठ में एक फोड़ा हो जाता है, तो सभी कार्यों को करता हुआ भी उसका मन फोड़े में ही लगा रहता है। इसी तरह घर का कार्य करते हुए भी ईश्वर की ओर मन को लगाये रहना चाहिए। (रा० कृ० व० पृ० ४१०-४११)। ईश्वर से जितना ही मनोयोग होगा, उतना ही बाहर की चीजों से मन हटता जायेगा।

सब धर्मों में एक ही सत्य

श्री रामकृष्ण के भीतर सभी भाव थे, पर उनकी आराध्या काली थी। मुसलमानों का जो अल्ला है, हिन्दुओं का जो राम-कृष्ण, ईश्वर है, ईसाइयों का जो गॉड है, जो ब्रह्म है, आत्मा है। भक्तों का भगवान् है, वही श्री रामकृष्ण का काली मां तत्व है। एक आदमी के पास एक बर्तन था। उसमें रंग घोला हुआ था। जिसे भी कपड़ा रंगाने की जरूरत होती, उसके पास जाता था। रंगने वाला पूछता था—'तुम किस रंग में कपड़ा रंगाना चाहते हो?' अगर वह कहता—'हरे रंग में' तो वह बर्तन में कपड़ा डुबोकर निकाल लेता और कहता—'यह लो अपना हरे रंग का कपड़ा'। इस एक ही बर्तन से वह लाल, हरा, पीला, नीला—सभी रंगों के कपड़े रंगता था। यह तमाशा देखकर एक ने कहा—'भाई मुझे तो वही रंग चाहिए, जो तुमने बर्तन में घोल रखा है।' इसी प्रकार श्री रामकृष्ण के भीतर भी सभी भाव हैं। उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, ईसाई—सभी धर्मों की साधना-पद्धति से अनुभव प्राप्त कर

यह सत्य घोषित किया कि सभी धर्म एक ही सत्य की ओर जा रहे हैं, यद्यपि उनके पथ भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपने मार्ग पर चलने दो। धर्म के नाम पर सम्प्रदायवादिता और संघर्ष उचित नहीं है।

स्त्री मात्र मां का रूप

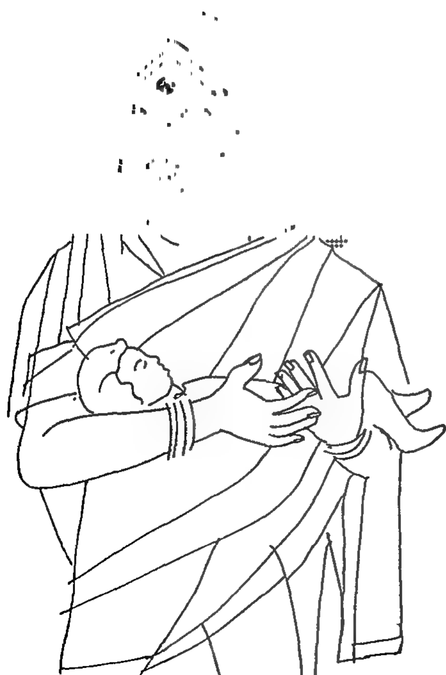
श्री रामकृष्ण स्त्री मात्र को मां रूप में देखते थे। उन्होंने नारी की मातृ शक्ति को पूजा। उसे सम्मान प्रदान किया। उनकी पत्नी शारदामणि भी उनके लिये मातृस्वरूपा थीं। पहली बार दक्षिणेश्वर में श्री मां के आने पर ठाकुर ने उनसे पूछा कि क्या तुम मुझे संसार में लाने के लिये आई हो? श्री मां ने कहा—'नहीं, तुम्हारे काम में तुम्हें सहयोग देने आई हूँ'। श्री रामकृष्ण अपने दायित्व को समझते थे, इसलिए उन्होंने श्री मां से पूछा था कि अगर तुम कहो तो वह अपने लक्ष्य, आदर्श का भी त्याग कर सकते हैं। पर जैसे ठाकुर, वैसी ही मां की उदारता। मां के जीवन में जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क में आये सबको उन्होंने समान भाव से दिव्यालोक से आलोकित किया। ठाकुर ने श्री मां की मातृशक्ति को पूरे विश्व के सामने उजागर कर दिया था। □

मनुष्य वही होते हैं, जो उनकी माताएँ उन्हें बनाती हैं।

—एमर्सन

मातृ-महिमा

माता गुरुतरा भूमेः





डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डे

प्राचीन भारतीय संस्कृति में माता

प्राचीनतम मानव-समुदाय मातृ-सत्ता पर आधारित थे, ऐसा अनेक नृतत्त्वविदों का मत है। इस मत का आधार, कतिपय जन-जातियों का पर्यवेक्षण एवं कुछ प्राचीन साहित्यिक सन्दर्भ है। यद्यपि यह अथवा इस प्रकार के अन्य मत संभाव्य-कोटि मे रखे जा सकते हैं, तथापि प्रस्तरकालीन आदिम मानव की सामाजिक व्यवस्था के विषय में निश्चयात्मक प्रमाणों की उपलब्धि के अभाव में सम्भावना को निश्चय में बदला नहीं जा सकता। ताम्राश्म युगीन सैन्धव सभ्यता में मातृ-शक्ति की उपासना के चिह्न प्राप्त होते हैं। यह कल्पना की जाती है कि प्रारम्भ में जो अरण्यानी की अधिष्ठात्री शक्ति, 'मृगाणां माता' वन जीवियों के लिये उपास्य थी, वही कालान्तर में ग्रामीण जीवन एवं कृषि के विकास के साथ उर्वरा भूमि और उसकी अधिष्ठात्री के रूप में उपास्य बन गयी। वैसे तो अत्यन्त प्राचीन काल ही में पृथ्वी और आकाश की विश्वमाता और विश्वपिता के रूप में उपासना होती थी, ऐसी कल्पना सहज है, तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि इन मूल अवधारणाओं का अनेक रूपों में विकास हुआ। वेद में देवपत्नियाँ, नदियाँ, पृथ्वी, अरण्यानी, उषा, रात्रि, वाक् आदि देवियों का उल्लेख प्राप्त होता है। आप्यायन एवं पोषण, रूप एवं सौन्दर्य, शिक्षण एवं विनयन, गृह-व्यवस्थापन एवं कर्म-विधान, इन सभी कार्यों एवं लक्षणों से दिव्य मातृ-शक्ति की अभिव्यक्ति

होती है। स्वामी दयानन्द ने अपने ऋग्वेद-भाष्य में उषा के कार्यों में घर की कन्या के कार्यो का आदर्श देखा है। मंत्रों के आधिभौतिक या सामाजिक अर्थ होने पर वैदिक देवियों के निरूपम मानव नारियों, विशेषत: माताओं के प्रतीक बन गये हैं।

इतिहास-काव्यों के युग में अनेक तेजस्वी नारियों के उदाहरण प्राप्त होते हैं। मातृत्व में स्त्री की सर्वोपरि महिमा उपाख्यायित थी। सीता में विश्वम्भरा, का उदार, स्निग्ध एवं क्षमाशीलता का रूप व्यक्त होता है, कुन्ती में अदिति का। बौद्ध एवं जैन-साहित्य निवृत्ति प्रधान होने के कारण स्त्री को बन्धन का हेतु मानते हैं और जन्म को संसार का मूल कहकर सभी सामाजिक संबंधों की ओर औदासीन्य प्रकट करते हैं। तथापि सर्वविदित मातृ-शक्तियों को वे भी स्वीकार करते हैं। संबोधि एवं प्रज्ञा को बुद्ध-माता कहा गया है। उपासकों के लिये उपदिष्ट सिगालोव वाद सुत्तन्त्र में जिसे गिहि-विनय कहा गया है, माता-पिता की सेवा उपदिष्ट है। अशोक ने अपने सर्वोपयोगी धर्म में माता-पिता की सेवा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। माता को आद्य गुरु कहा गया है, क्योंकि शिशु को उसी के स्तन्य के साथ वाणी और ज्ञान का प्रथम उपदेश प्राप्त होता है। वास्तव में मानव-मन के विकास में भाषा और व्यावहारिक संगति, दो प्रधान नियामक होते हैं। मातृ-भाषा का यह महत्त्व तो वाक् और माता के तादात्म्य से ही प्रकाशित होता है। यह भाषा ही समस्त बौद्धिक ज्ञान का वाहन है। दूसरी ओर समस्त नैतिक-शिक्षा संगति अथवा प्रत्यक्ष-दृष्ट आचार से प्रभावित होती है। विद्यालय में अथवा पुस्तकों में पढ़ी-सुनी बातों से नैतिक शिक्षा कदापि सम्पन्न नहीं होती। सम्प्रति Value-oriented शिक्षा के ऊपर जोर दिया जा रहा है, किन्तु इस प्रयास में संगति का महत्व भुला दिया गया है। माता का गुरु रूप में महत्व इस बात पर निर्भर करता है कि शिशु उससे प्रायः अभिन्न रूप से निरन्तर साहचर्य में बहुत समय बिताता है, उसके चरित्र का निर्माण माता के द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त पर मुख्यत: निर्भर करता है।

माता का प्राचीन आदर्श इसी 'आद्य गुरु' का है, जो शिशु को प्राण-शक्ति एवं प्राणाधायक ऊर्जा के साथ विद्या-प्रदान का उत्स है। गर्भ में शिशु माता से प्राण-लाभ करता है, जन्म के अनन्तर वह स्तन्य के द्वारा पुष्टि-लाभ करता है, बाल्य-काल में माता का निरन्तर साहचर्य उसे वाणी और आचार का दृष्टान्त प्रदान करता है। इनमें वाणी और नैतिक आदर्श का दृष्टान्त प्रस्तुत करना माता का सब से बड़ा कार्य है।

यद्यपि बालक के लिए ध्यान देना माता के लिये स्वाभाविक है तथापि सब

सामाजिक परम्पराएँ इस ओर समान रूप से सजग नहीं रही हैं। आधुनिक सभ्यता में स्त्री को श्रमिक के रूप में आजीविका के लिए घर से बाहर कार्य-व्यापार में संलग्न देखा जाता है। इस आदर्श में उसे मातृत्व का गुरु-रूप निवाहने का समय नहीं मिलता। शिशु-सदनों में यदि माताएँ सचमुच माताओं के रूप में शिशुओं को देख सकें तो बात दूसरी है, किन्तु यह व्यवहार में दुर्लभ है। परिणाम यह है कि आधुनिक सन्दर्भ में स्त्री का मातृरूप उपेक्षित होने लगता है। इस नये परिवर्तन-प्रवाह में पूर्णतया निमग्न होने के पूर्व यदि हम लोग पुराने आदर्श का ठीक आकलन कर सकें, तो सम्भवतः उचित होगा। □

माता का हृदय बच्चे की पाठशाला होता है।

—बीचर

कुमारी प्रीति अग्रवाल

भगवती माता—श्री अरविन्द की दृष्टि में

भारतीय दर्शन की मुख्य धारा यद्यपि अद्वैतवादी रही है, तथापि किसी न किसी रूप में रचनात्मिका शक्ति मातृ-शक्ति को सभी दर्शनों ने स्वीकार किया है। इस मातृ-शक्ति को विभिन्न नामों से वैदिक युग से लेकर अर्वाचीन दर्शन और साहित्य में अभिहित किया गया है। प्रकृति, माया, लीला—अनेक रूपों में उस सृजनात्मिका-शक्ति की कल्पना की गई है, जो परम पुरुष या परब्रह्म की चिरसंगिनी है।

श्री अरविन्द भी अद्वैतवादी है, नव्य वेदान्तियों में उनका नाम अग्रगण्य है, किन्तु उनका अद्वैतवाद आचार्य शंकर के अद्वैतवाद से इस अर्थ में भिन्न है कि वे एक ही परम सत्ता को मानकर भी इस जगत् को मिथ्या नहीं मानते। श्री अरविन्द के अनुसार जगत्-भ्रम नहीं है। माया की ऐन्द्रजालिक रचना नहीं है, वरन् भगवती माता की सृष्टि है। भगवती माता की धारण उस दिव्य शक्ति की धारणा है, जो विश्व की सृष्टि और इसकी व्यवस्था का आधार है। यह शक्ति विश्व और व्यक्ति दोनों के भीतर कार्य करती है और इनके परे भी है। मानव की योग-साधना में यही मातृ-शक्ति सहायिका होती है। श्री अरविन्द अपनी पुस्तक "माता" में कहते हैं कि जब व्यक्ति की अभीप्सा प्रबल होती है और वह अपने रूपान्तरण के लिये प्रयास करता है, तो उसकी पुकार का उत्तर यही

मातृ-शक्ति देती है। बालक जितना विकल होकर मां को पुकारता है, मां उतना ही जल्दी उत्तर देती है, वह दिव्य शक्ति भी अपने बालकों की पुकार को अनसुनी नहीं कर सकती। भगवती माता के चार रूपों की अवधारणा हमें श्री अरविन्द के दर्शन में मिलती है––महेश्वरी, महालक्ष्मी, महाकाली और महा-सरस्वती। स्पष्ट है कि देवी की उपासना को अत्यधिक महत्व देनेवाले बंगाल प्रदेश की संस्कृति श्री अरविन्द के दर्शन में पराकाष्ठा को पहुँच गई है।

भगवती माता केवल ऊपर से ही साधक की पुकार का उत्तर नही देती, वे उसकी सहायता के लिये जगत् में अवतरित भी होती हैं। माता इस संसार में आती हैं अतिमानसिक सत्ता को नीचे लाने के लिये, मानव को उसके भौतिक मानसिक धरातल से ऊँचा उठाने के लिए। यदि हम आरम्भ से ही अतिमान-सिक-स्तर पर होते, तो हमारे लिये योग-साधना का कोई अर्थ न होता और न हमें किसी दिव्य शक्ति की सहायता की आवश्यकता होती। किन्तु मानव बहुत दुर्बल है, उसे परम सत्ता तक पहुँचाने के लिये माता की सहायता चाहिए। इसीलिए दिव्य शक्ति अपने को मानवीय रूपाकार में अवगुंठित करके मानव के निकट आती है। यदि यह शक्ति मानव से दूर अपने चिदानन्द में अवस्थित रहे, तो मानव कहेगा––"मां तुम कितनी दूर हो, कितनी निष्ठुर हो! तुम मुझे प्रेम नहीं करतीं, मुझे सहारा नहीं देतीं।" माता की धारणा में यह अन्त-र्निहित है कि वह सन्तान की पुकार पर विकल होकर दौड़े, उसका हाथ पकड़कर उठाये, यदि वह धूलिधूसरित हो रहा हो, तो उसे झाड़े-पोंछे और अपने हृदय से लगा ले।

मातृ-शक्ति के अवतार की इसी धारणा का प्रकट रूप हमें श्री अरविन्दा-श्रम (पांडिचेरी) की माताजी में देखने को मिलता है। माताजी जन्म से फ्रेंच थीं, वे १९१४ में भारत आईं, श्री अरविन्द से मिलीं और उन्होंने अनुभव किया कि श्री अरविन्द भागवत चैतन्य के अवतार हैं। माताजी स्वयं असामान्य रूप से आध्यात्मिक रुचि की थीं और उन्हें स्वप्न में श्री अरविन्द के दर्शन हुए थे, किन्तु वे उन्हें श्री कृष्ण के नाम से जानती थीं।

भारत में श्री अरविन्द की साधना-भूमि पांडिचेरी में उन्होंने अनुभव किया कि उनका कर्मक्षेत्र भारत ही है। भारत को वे अपना आध्यात्मिक घर मानती थीं। आरम्भ में जब वे पांडिचेरी आईं, तो श्री अरविन्द के साथ कुछ गिने चुने साधक ही थे। श्री मां ने उन सब की देख-रेख का भार अपने ऊपर लिया। किसको क्या खाना मिलना चाहिये जैसी साधारण चिन्ता से लेकर किसकी आध्यात्मिक प्रगति में क्या बाधा आ रही है, यह सब उनका उत्तरदायित्व हो गया। धीरे-धीरे श्री अरविन्द ने आश्रम का सारा भार श्री मां पर छोड़

दिया और स्वयं योगसाधना में लीन रहने लगे। श्री मां ने 'आर्य' का प्रकाशन आरम्भ किया, जिसमें धारावाहिक रूप से श्री अरविन्द की कृतियों का प्रकाशन होने लगा। आश्रम में साधकों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती गई और अब तो यह संख्या हजारों में पहुँच चुकी है। श्री मां जबतक मानव शरीर में थीं, प्रत्येक आश्रमवासी की प्रगति पर दृष्टि रखती थीं। उनके पथप्रदर्शन में पांडिचेरी का वह छोटा-सा आश्रम, जिसमें श्री अरविन्द और उनके चार-पाँच साथी रहते थे, धीरे-धीरे एक पूरा नगर बन गया। आश्रम के अनेक विभाग हैं, जैसे शिक्षा-विभाग, पशुपालन-विभाग, उद्यान-विभाग, चिकित्सा-विभाग आदि। आश्रम की सम्पत्ति भी बहुत अधिक है, हजारों एकड़ खेती की भूमि है, फलों के बगीचे हैं। खाने-पीने के लिये आश्रम को कुछ बाहर से खरीदना नहीं पड़ता। आश्रम में ही कई उद्योग-धंधे भी सिखाये जाते हैं। हथकरघे पर वस्त्र बुनना सिखाया जाता है। यहाँ के बने वस्त्र अपनी कलात्मकता के लिये प्रसिद्ध हैं। कागज-उद्योग भी बहुत प्रगति कर चुका है, मोमबत्ती, धूपबत्ती बनाना भी सिखाया जाता है। आश्रम की बनी धूपबत्तियों की बराबरी अन्य सामान्य धूपबत्तियाँ नहीं कर सकतीं। इन सब कुटीर-उद्योगों की विशेषता यह है कि ये अर्थोपार्जन के लिये नहीं वरन् साधना के लिये हैं। श्री मां ने कर्म को साधना का अंग माना है, प्रत्येक विभाग में श्री मां का वाक्य "कर्म ही पूजा है" लिखा दिखाई देता है। सब काम साधक करते हैं और किसी भी काम के लिये उन्हें वेतन नहीं दिया जाता। साधक के लिये समर्पण अनिवार्य है, वह जो कुछ भी कर सकता है भगवान् के लिये करे, अपने को सर्वभावेन मां के हाथों में छोड़ दे। वे जो आदेश दें, उनका पालन करे। साधक के समर्पण के बाद उसका सारा भार श्री मां ले लेती हैं, खाने-पीने, वस्त्रादि की चिन्ता उसे नहीं करनी पड़ती। अपनी शक्ति के अनुरूप काम करके साधक अपनी आध्यात्मिक प्रगति के लिये मां से सहायता प्राप्त करता रहता है।

श्री मां सम्पूर्ण मानवता के लिये हैं, किसी एक देश, जाति या सम्प्रदाय के लिये नहीं, इसी धारणा के अनुरूप श्री मां ने पांडिचेरी के पास एक विश्व नगरी की आधारशिला रखी थी। इसका नाम 'आरोविल' (उषा नगरी) रखा गया है। विभिन्न देशों से एक बालक और एक बालिका अपने देश की मिट्टी लेकर आये थे और इस नगरी का आरम्भ किया गया था। आज आरोविल में हजारों साधक हैं, उनमें कुछ भारतीय भी हैं, अधिकांश दूसरे देशों के हैं। यहाँ की शिक्षा-दीक्षा ऐसी है कि ये साधक अपने को किसी देशविशेष का नागरिक नहीं मानते।

आश्रम की शिक्षा-प्रणाली भी अपने आप में अनूठी है। बालक पर बिना किसी प्रकार का भार डाले, उसकी रुचि और सामर्थ्य को ध्यान में रखते हुए उसका सर्वांगीण विकास करना इसका उद्देश्य है।

श्री मां अब पार्थिव रूप में नहीं हैं, किन्तु उनकी चेतना सम्पूर्ण आश्रम में व्याप्त है और आश्रमवासी उनकी उपस्थिति का अनुभव करते हैं। वे जो कुछ पार्थिव शरीर में कर रही थीं, उससे कहीं अधिक निराकार रूप में कर रही हैं। □



॥ मातृ-छाया में शिशु ॥



॥ सवत्सा कामधेनु ॥

डॉ० जगदीश गुप्त

□

वात्सल्य रस : एक चिन्तन

(क)

वात्सल्य रस का सांस्कृतिक आधार

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' का काव्यमयी वाणी में उद्घोष करनेवाली वैदिक संस्कृति ने एक ओर कृषि प्रधान सभ्यता का विकास किया, तो दूसरी ओर 'गो' संज्ञा से 'पृथ्वी', 'धेनु', 'बुद्धि' और 'वाक्' को देवत्व प्रदान किया। 'वत्सल' या 'वात्सल्य' के मूल में 'वत्स' शब्द आधार रूप में स्थित रहा है, जो अपने अर्थ को बिम्बात्मक रूप से ग्रहण करता प्रतीत होता है। भारतीय मानसिकता में माता और शिशु का जो चित्र प्रेरणापरक एवं सुन्दर प्रतीत होता है, वह सवत्सा धेनु का ही है। उसे मांगलिक एवं शुभशकुन सूचक भी माना जाता है। कवियों ने उपमान रूप में उसका निरन्तर उपयोग किया है। पुरुष-प्रधान दृष्टिकोण अपनाते हुए भी उसने 'मातृदेवो भव' को 'पितृदेवो भव' तथा 'आचार्यदेवो भव' से ऊपर प्रतिष्ठित किया। उसकी यह प्रवृत्ति ही कालान्तर में वैदिक देववाद को मही, सिनीवाली, लक्ष्मी, श्रद्धा, इला आदि को उन्मुख करते हुए देवीवाद के रूप में लोक-स्वीकृति पाता गया। नारी-निंदा पनपी पर मातृघाती के रूप में परशु कभी लोक-वन्द्य नहीं हो सके। देव्यापराधक्षमापन स्तोत्र की मान्यता है 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।'

भारतीय संस्कृति के मूल प्रेरणा-स्रोत के रूप में धारामयी धरती और पयस्विनी धेनु का साम्य भी इसी आधार पर विकसित हुआ है। 'सँग गोतनुधारी भूमि विचारी' बनकर गऊ सदा ही हमारी सहानुभूति का पात्र रही है। शाक्त-दृष्टि ने गो-संस्कृति के बेचारेपन को चुनौती दी और देवताओं की निरीहता को रेखांकित करते हुए साधना द्वारा 'राम की शक्ति-पूजा' तक की यात्रा पूरी कर ली। वत्सलता के 'धेन लवाई' जैसे कोमल बिम्बों से भिन्न मातृत्व के 'महिषासुर मर्दिनी', छिन्नमस्ता, दुर्गा, पार्वती, काली, कराली जैसे उग्र एवं तेजस्वी बिम्बों की शृंखला भारतीय जनमन में मातृत्व के प्रति अगाध आस्था उत्पन्न करती रही। 'मातर्गंगे' को स्मरण करते हुए 'तव तट निकटे यस्य निवासः खलु वैकुण्ठे तस्य निवासः' की आस्था जिस मातृ-दर्शन से जुड़ी रही, उसमें जड़-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल तथा अन्तर्वाह्य संश्लेष घटित होता दिखाई देता है। आदिम संस्कारों को मातृ-पूजा ने जितना बल दिया है, उतना वैदिक उपासना ने नहीं। फलतः वत्सलता की धारा भक्ति-साहित्य में विशेष रूप से आध्यात्मिक गरिमा के साथ प्रस्फुटित हुई, जो आज भी प्रेरक लगती है।

भक्ति में वात्सल्य-भाव

भक्ति रस की मान्यता है कि भक्ति ही एकमात्र रस है, शेष सभी चित्त-वृत्तियाँ भाव-कोटि तक जाकर रुक जाती हैं। दास्य, सख्य और माधुर्य की तरह, वात्सल्य भी भक्ति के क्षेत्र मे आकर भाव-विशेष होकर रह जाता है। शृंगार रस में रति स्थायी के अन्तर्गत वात्सल्य और भक्ति भाव-कोटि मे माने गये, किन्तु भक्ति का वर्चस्व होने से स्थिति सर्वथा उलट गयी। भक्ति रस अंगी हो गया और वात्सल्य, शृंगार आदि सभी रस अंग होकर रह गये। मधुसूदन सरस्वती के 'भक्ति-रसायन' तथा रूप गोस्वामी के 'हरिभक्तिरसामृत सिंधु' में प्रायः यही स्थिति लक्षित होती है। लीला भाव के अंग होकर तो वे और भी अधिक परोक्षता ग्रहण कर लेते हैं। दूसरे शब्दों में अधिक, निर्वैयक्तिकता प्राप्त करते जाते हैं। लौकिकता को अलौकिकता प्रदान करने का एक मार्ग रसपरक रहा है, किन्तु भक्ति के आविर्भूत होने पर वह अलौकिकता भी सांसारिक कोटि में ही पहुँच जाती है। भक्ति-काव्य ने संवेगात्मकता के साथ-साथ लीलात्मकता एवं आराधनात्मकता का भी निर्वाह किया है। आध्यात्मिक दृष्टि से संवेगात्मक रूप गौण और लीला एवं आराधना से संबद्ध रूप प्रधान हो जाता है। प्रायः सभी भक्त आराध्य के प्रति दास्य भाव सर्वोपरि मानते हैं। ज्ञानाश्रयी निर्गुणोपासक कबीर भी भावके बिना अपनी अभिव्यक्ति संभव नहीं मानते, फलतः अनेक भावों का सहारा लेते दिखायी देते हैं। उनमें से एक वात्सल्य भी है।

'हरि जननी मैं बालक तोरा' सगुणोपासक तुलसी तो सेवक-सेव्य भाव को अनन्य स्थान देते हैं। निजी संदर्भ में सूर सख्योन्मुख दास्य भाव के पोषक हैं, पर लीला-संदर्भ में माधुर्य, सख्य और वात्सल्य को सर्वोत्तम स्थान देते हैं। वात्सल्य के क्षेत्र में उनका कोई भी प्रतिस्पर्धी नहीं है, यह बात हिन्दी-क्षेत्र से बाहर जाकर अब अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर रही है। रूसी विदुषी साजानोवा ने पंच-शती के अवसर पर पाँच सौ पदों का रूसी भाषा में अनुवाद प्रकाशित करके वात्सल्य की गरिमा को और ऊँचा उठा दिया है।

भावों की अन्योन्याश्रयता तथा वात्सल्य

रस-प्रक्रिया में आलम्बन और आश्रय की स्थिति सुपरिचित है, किन्तु सभी रसों में इनकी अन्योन्याश्रयता संभव नहीं है। श्रृंगार की स्थिति इस दृष्टि से विशेष सिद्ध होती है कि रति उभयपक्षी स्थायी भाव है, जिसका अनुभव नायक-नायिका दोनों को युगपत् होता है। कौन किसका आश्रय और कौन किसका आलम्बन, यह तय करना प्राय: दुष्कर हो जाता है। 'दोऊ परै दोऊ लेत है बलैयाँ उन्हें भूलि गयी गैयाँ इन्हें गागरि उठाइवो'। यह समतुल्यता अथवा अन्योन्याश्रयता सख्य को छोड़कर अन्य संबंधों में संभव नहीं है। वत्सलता का भाव माता-पिता की ओर से पुत्र-पुत्री की ओर गतिशील होता है, इसका विलोम समान स्थिति उत्पन्न नहीं करता। प्रेम-संबंध उभयपक्षी होते हुए भी भावधारा एक ही दिशा से प्रवाहित मानी जाती है यानी पुत्रादि आलम्बन तो बन सकते हैं, पर वे आश्रय नहीं माने जा सकते। अत: वात्सल्य रति श्रृंगारमूलक रति की तुलना में छोटी पड जाती है। शास्त्रीयता की यह सीमा कवियों ने अति-क्रमित कर दी और कृष्णादि की शिशु सुलभ भावनाओं को कविता में पर्याप्त स्थान मिला है। 'मैया मोरी, मै नहीं माखन खायो' में भाव की पूर्णता का केन्द्र यशोदा से हटकर कृष्ण में समाहित होने लगता है, क्योंकि कृष्ण शिशु होने के साथ-साथ अवतारी पुरुष भी है, जो अपनी माता को भी मातृ-भाव से देखने की शक्ति रखते हैं। लीला-भाव में माता भी भक्त-रूप में चित्रित हुई हैं, इसीलिए विस्मय के साथ धन्य होने और प्रणत होने का भाव भी भक्ति-काव्य में बराबर मिलता है। बालरूप में उत्पन्न अपने इष्ट देव को मात्र शिशु न मान-कर अन्तत: प्रभु ही मान लिया जाता है। भक्ति-वात्सल्य की विचित्र स्थिति असंभव को संभव बनाती हुई एक प्रकार से सगुण-रहस्यवाद की सृष्टि कर देती है। गुप्त-प्रकट चरित की लीलात्मकता से साथ अन्योन्याश्रयता का जो संबंध वात्सल्य रस में प्रस्फुटित होता है, वह भक्ति की रसमयता को समकक्षता करने लगता है।

भक्ति-वात्सल्य में आत्मनिवेदन की गहराई और मातृत्व

लौकिक संदर्भ में अभिव्यक्ति का प्रवाह माता-पिता रूप वात्सल्य के आश्रय की ओर से आलम्बन की ओर जाता है जबकि भक्ति में निवेदन बालक की ओर से माता-पिता रूप ईश्वर की ओर प्रवाहित होता है। काव्य-रस में वक्तृत्व की दिशा भक्ति-रस में आकर सर्वथा उलट जाती है। लीला-रस में स्थिति उभयात्मक या अन्योन्याश्रित दिखायी देती है, जैसा निर्दिष्ट किया जा चुका है। भक्ति-प्रधान-काव्य में स्तोत्र,-साहित्य भी सम्मिलित माना जाता है, वस्तुतः कुछ स्तोत्र काव्य की गरिमा से इतने आच्छादित दिखायी देते हैं कि उनकी दीप्ति हिमशिखरों की स्मृति दिला जाती है। उनमें आत्मा के उन्नयन की जितनी शक्ति मिलती है, सामान्य काव्य में उतनी कठिनता से ही उपलब्ध हो पाती है। भाव-प्रवाह की जो ऊँचाई शैव, वैष्णव, शाक्त तथा इतर देवों के प्रति व्यक्त की गयी वह हमें अभिभूत करने में सक्षम प्रतीत होती है। मनुष्य की करुणामयी वृत्ति, समर्पण की गहनता, हृदय की निष्कपट प्रतीति तथा निर्मलता एवं दीनता सांस्कृतिक मूल्य के रूप में इन स्तोत्रों में एक स्वतंत्र धारा की तरह आज भी प्रवाहित मिलती है। वात्सल्य की दृष्टि से इनका सूक्ष्म अनुशीलन अवश्य ही किसी अधिकारी अन्वेषक को प्रेरित करेगा। संस्कृत की यह धारा हिन्दी-साहित्य को शताब्दियों तक आपूरित करती रही। यहाँ तक कि नयी कविता में भी 'प्रभु' को संबोधित करने की प्रवृति कहीं-न-कहीं दिखाई पड़ जाती है। स्तोत्रों की भाव-भूमि निश्चय ही रसात्मक है, जो आधुनिक साहित्य की विसंगति से मेल नहीं खाती, पर कहीं-कहीं पीड़ा की असहनीयता और आधारहीनता की उत्कट अनुभूति मानवीय धरातल पर हमें जोड़ती हुई लगती है। स्तोत्रों में मातृत्व की विराटता और हृदय की विशालता करुणामयी आँख के अन्तर्बाह्य संस्पर्श की सूक्ष्मता हमें कृतार्थ करती है।

(ख)

वात्सल्य रस

वात्सल्य शब्द वत्स से व्युत्पन्न और पुत्रादिविषयक रति का पर्याय है। इसका प्रयोग रस की अपेक्षा भाव के लिए अधिक उपयुक्त है, कदाचित इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने "वात्सल्य रस" न लिखकर "वत्सल रस" लिखा और वत्सलता या वात्सल्य को उसका स्थायी भाव माना, यथा—भोजराज (११ श०ई०पूर्वा०)—श्रृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यबीभत्सवत्सलभयानकशान्त नाम्नः। (श्रृं० प्र० १:६) विश्वनाथ (१४ श० ई० पूर्वा०) ने इसका लक्षण दिया है—"स्फुट चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः। स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्।"

(मा० द० ३:२५१), अर्थात् प्रकट चमत्कार होने के कारण वत्सल को भी रस माना जाता है। वात्सल्य स्नेह इसका स्थायी भाव होता है तथा पुत्रादि आलम्बन। आगे उसको विस्तार देते हुए कहते हैं—"बाल-सुलभ चेष्टाओं के साथ-साथ उसकी विद्या, शौर्य, दया आदि विशेषताएँ उद्दीपन हैं। आलिंगन, अंगसंस्पर्श, शिर का चूमना, देखना, रोमांच, आनन्दाश्रु आदि अनुभाव हैं। अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व आदि संचारी माने जाते हैं। इस रस का वर्ण पद्मगर्भ की छवि जैसा और देवता लोकमाता या जगदम्बा है।" (सा०द० :३: २५३-५४)।

भोजराज (११ श० ई०) ने शृंगार को रसराज सिद्ध करने के प्रसंग में अन्य रसों की गणना करते हुए उनकी संख्या "वत्सल रस" को मिलाकर दस बतायी है, जिससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि उनके समय तक नव रसों के समकक्ष वत्सल को भी मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। विश्वनाथ के "साहित्यदर्पण" में जिस सांगोपांग रूप में इसका निरूपण हुआ है, उससे ज्ञात होता है कि कालक्रम में इसको अधिकाधिक मान्यता एवं विकास प्राप्त होता गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि वात्सल्य रस का उद्गम-स्रोत दृश्य काव्य में न होकर श्रव्य काव्य में निहित है। भरत-(३श० ई०) के "नाट्यशास्त्र" में ऐसा कोई सूत्र नहीं है, जिसको इसकी सिद्धि हो सके। आठ नाट्य रसों के साथ शान्त को मिलाने पर अधिक-से-अधिक नव रसों को ही स्वीकृति उसमें मिलती है।

भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रट जैसे आलंकारिकों द्वारा मान्य "प्रेयस्" नामक अलंकार से वात्सल्य रस के उद्गम का कुछ संबंध सम्भव दिखायी देता है। "प्रेय: प्रियतराख्यानम्" कहकर दण्डी (६ श० ई०) ने "प्रेयस्" अलंकार को प्रीति भाव से सम्बद्ध बताया। उद्भट (८-९ श० ई०)ने इसका जो उदाहरण दिया है, उसमें "सुतबाललभ्यान्निर्विशेषा स्पृहावती", "मृगी की गोद में बैठे मृग-शावक का" भावपूर्ण चित्र समाविष्ट है, जिससे "प्रेयस्" के वात्सल्य भाव होने का आभास मिलने लगता है। रुद्रट (९ श०ई०) के "काव्यालंकार" से इसकी पुष्टि होती है। अभिनवगुप्त (१०-११ श०ई०) ने "अभिनवभारती" में नव रसों की चर्चा करने के उपरान्त अन्य रसों की सम्भावना का संक्षिप्त उल्लेख कर अपनी ओर से उनका खण्डन करते हुए लिखा है कि "वात्सल्य माता-पित्रादौ स्नेहो भयेविश्रान्त:।" अर्थात् माता-पिता के प्रति बालक के स्नेह का अन्तर्भाव भय में हो जाता है। आगे "वृद्धस्य पुत्रादावपि द्रष्टव्यम्" अर्थात् इसी प्रकार वृद्ध का पुत्रादि के प्रति स्नेह देखा जाना चाहिए। उनका तात्पर्य यह है कि वात्सल्य भावमात्र है और उसकी रसरूप में स्वतंत्र सत्ता नहीं मानी जानी चाहिए। अभिनवगुप्त से सहमति रखकर ही कदाचित् मम्मट (११श० ई०) ने

"काव्यप्रकाश" में लिखा है—"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः। भावः प्रोक्तः" (४:३५)। देवता आदि के विषय में उत्पन्न होनेवाली रति और प्रकटीकृत या व्यक्त व्यभिचारी को भाव कहा जाता है। मम्मट के रस-निरूपण से पूर्व "तद्विशेषानाह" की व्याख्या करते हुए "बालबोधिनी" टीकाकार ने जो टिप्पणी दी है, उससे पूर्वोक्त "प्रेयस्" विषयक अनुमानाश्रित धारणा प्रत्यक्ष हो जाती है—"किसी की सम्मति है कि एक शृंगार रस ही रस है, किसी ने प्रेयांस, दान्त उद्धत के साथ वर्णित नव रस को द्वादश रस माना है। जिस रस का स्थायी भाव स्नेह हो उसको प्रेयांस कहते हैं और इसी का नाम वात्सल्य है।" स्पष्ट ही यहाँ टीकाकार ने भोजराज की मान्यता का संदर्भ देते हुए प्रेयांस को ही वात्सल्य बताया है, जिसका संकेत "वत्सलप्रकृतेः" के रूप में "सरस्वतीकण्ठाभरण" में ही मिल जाता है। संस्कृत-काव्यशास्त्र में वात्सल्य की स्थिति किस प्रकार एक अलंकार से बढ़ते-बढ़ते रस तक पहुँच गयी, इसका कुछ आभास उपर्युक्त विवेचन से हो जाता है।

वात्सल्य के स्थायी भाव के संबंध में भी कहीं-कहीं भिन्न मत व्यक्त किया गया है। कवि कर्णपूर ने "ममकार" को, "मन्दारमरन्दचम्पू" के रचयिता कार्पण्य को इसका स्थायी भाव माना है। प्रारम्भ में वात्सल्य का अन्तर्भाव शृंगार के अन्तर्गत ही किया जाता रहा, क्योंकि वत्सलता रति का ही एक विशिष्ट रूप है। सोमेश्वर ने रति के तीन भेद बताते हुए लिखा है—"स्नेह, भक्ति, वात्सल्य रति के ही विशेष रूप हैं। तुल्यों की अन्योन्य रति का नाम स्नेह, उत्तम में अनुत्तम की रति का नाम भक्ति और अनुत्तम में उत्तम रति का नाम वात्सल्य है।" (काव्यप्रकाश की काव्यादर्श टीका)। यहाँ स्नेह, भक्ति और वात्सल्य में भेद किया गया है। इससे वात्सल्य या भक्ति की भावना का विलोम सिद्ध होता है। उत्तम और अनुत्तम शब्दों से कदाचित् श्रेष्ठता का अर्थ न लेकर छोटे-बड़े का अर्थ ही लिया गया प्रतीत होता है। (दे० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" का "वात्सल्य रस" नामक लेखः कोषोत्सव स्मारक संग्रह)।

केशवदास (१६-१७ श०ई०), चिन्तामणि (१७ श० ई० मध्य), भिखारीदास (१८ श०ई० पूर्व०) आदि प्रायः सभी प्रमुख रीतिकालीन काव्याचार्यों ने वात्सल्य रस की उपेक्षा की है। उन्होंने इस विषय में "साहित्यदर्पण" का उदाहरण सामने न रखकर नव रसों की रूढ़ परम्परा का पालन किया है। भारतेन्दु (१९ श०ई०उत्त०) ने अवश्य अपने "नाटक" नामक ग्रंथ में अन्य रसों के साथ वात्सल्य को स्थान दिया है, पर उसका कारण भिन्न है। भारतेन्दु ने वात्सल्य के साथ दास्य, सख्य और माधुर्य की भी गणना की है, जिससे प्रकट हो जाता है कि उन्होंने इसकी अवतारणा गौड़ीय सम्प्रदाय के भक्तिशास्त्र के

आधार पर की, जो उनके समय तक वैष्णव-भक्ति के क्षेत्र में प्रायः सर्वमान्य हो चुका होता है। भक्तिशास्त्र के अनुसार भी वात्सल्य भाव ही सिद्ध होता है, क्योंकि रस तो भक्ति स्वयं ही है, जो उक्त चारों भावों के द्वारा भावित होता है।

सूरदास द्वारा इस वात्सल्य भाव का इतना विस्तार किया गया कि "सूरसागर" को दृष्टि में रखते हुए वात्सल्य को रस न मानना एक विडम्बना-सा प्रतीत होता है। 'हरिऔध' ने मूलतः इसी आधार पर वात्सल्य को रस सिद्ध किया है। यही नहीं, उन्होंने वात्सल्य को वीभत्स, हास्य आदि अनेक रसों से तर्कसहित श्रेष्ठ सिद्ध किया है।

कृष्ण-लीला के अन्तर्गत सूर का वात्सल्य या वर्णन रसत्व-प्राप्ति के लिए अपेक्षित सभी अंगोपांगों को अपने में समाविष्ट किये है। दूसरे, भक्ति की दृष्टि वात्सल्य सूर का अपना भाव नही है। अतएव 'सूरसागर' में नन्द-यशोदा तथा अन्य वयस्क गोपियों का बालकृष्ण के प्रति प्रेम, आकर्षण, खीझ, व्यग्य, उपालंभ आदि सब कुछ वात्सल्य रस की ही सामग्री है। कृष्ण का सौन्दर्य-वर्णन तथा बाल-क्रीड़ाओं का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण भी इसी के अन्तर्गत आता है। तुलसी की "गीतावली", "कृष्णगीतावली" तथा "कवितावली" में "रामचरितमानस" से श्रेष्ठतर वात्सल्य रस की कविता मिलती है। हरिऔध के "प्रियप्रवास" और मैथिलीशरण गुप्त के "साकेत" तथा "यशोधरा" में नयी भूमिकाओं में वात्सल्य का उद्रेक प्राप्त होता है।

कदाचित् किसी प्राचीन संस्कृत या हिन्दी के आचार्य ने वात्सल्य रस के भेदोपभेद करने की चेष्टा नहीं की है। कारण स्पष्ट है कि अधिकतर उसे रस ही नहीं माना गया है। पर आनन्दप्रकाश दीक्षित ने अपने शोध-ग्रंथ "काव्य में रस" में वात्सल्य के निम्नलिखित भेद माने हैं—

१—गच्छत्प्रवास, २—प्रवासस्थित, ३—प्रवासागत, ४—करुण—ये चारों उपभेद वियोग-वात्सल्य के हैं, जो स्वयं एक भेद है।

श्रृंगार की तरह वात्सल्य के भी संयोग और वियोग के आधार पर दो भेद किये गये हैं: करुण वात्सल्य नामक विभेद करुण श्रृंगार के समानान्तर है। प्रवास पर आधारित वात्सल्य रस के वियोग पक्ष में उतने उपयुक्त नही लगते, जितने विप्रलंभ श्रृंगार में, क्योंकि एक विशेष अवस्था तक शिशु में प्रवास-सामर्थ्य ही नही होती। (दे० "काव्य में रस" अप्र० प्र० : पृ० ४९३-९६)।

(ग)

वात्सल्य रस के प्रथम उद्भावक कालिदास

कहते हैं कि प्रसादजी इन्द्र पर एक महाकाव्य लिखने की दृष्टि से वैदिक साहित्य का मंथन कर रहे थे कि "कामायनी" का कथानक उनके हाथ आ गया।

कुछ वैसी ही गति मेरी भी हुई। अपने जन्मस्थान शाहाबाद (हरदोई) से मुझे एक ऐसा मृत्पदक प्राप्त हुआ, जिस पर कालिदास के "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" के सप्तम अंक के श्लोक १४-१५ के बीच आनेवाली प्राकृत-पंक्ति "जिम्भ सिंध दन्ताइं दे गणइस्सं" के अनुरूप सिंह का मुँह फाड़कर दांत गिनते हुए सर्वदमन अर्थात् दुष्यन्त-पुत्र भरत का अंकन अत्यन्त आकर्षक रूप में मिलता है। प्राचीन चाक्षुप-कला में इससे पूर्व कहीं भरत का निरूपण मुझे देश की विपुल कला-सामग्री से कुछ-कुछ परिचित होने पर भी दिखाई नहीं दिया। फलतः मेरी उत्सुकता बढ़ी। इसलिए और भी खोज में प्रवृत्त हुआ कि "त्रिरत्न" और "श्रीवत्स" के लाञ्छनों से पृष्ठांकित वह शुंग अथवा कुषाणकालीन मृत्पदक कालिदास को गुप्तकाल में सिद्ध करनेवालों के मत पर गहरा प्रश्नचिह्न अंकित करता है। फलतः मैंने कालिदास ग्रंथावली का नये सिरे से पारायण आरम्भ किया। ऐसा सुखद श्रम सौभाग्य से ही सुलभ होता है, फिर यदि उसमें एक नया तथ्य और हाथ आ जाने से सूर की पंक्ति "सुख में सुख औरे रुचि उपजत" जैसा हाल हो जाय, तो फिर कुछ कहना ही कठिन हो जाता है।

धीरे-धीरे "कुमारसम्भवम्" के ११वें सर्ग तक पहुँच गया। अकस्मात् उसके इस श्लोक पर दृष्टि पड़ी और चकित रह गया। गंगा, अग्नि और कृत्तिकाओं के प्रणाम करने की ओर जिनका ध्यान ही नहीं गया, ऐसी पार्वती ने पुत्र का पहली बार स्पर्श-सुख लेते हुए उसे अमृत-कलश की तरह अपनी गोद में बैठा लिया और अश्रुपूर्ण नेत्रों से उसे देखती रह गई—

> सुविस्मयानन्द विकस्वरायाः
> शिशुर्गलद्वाष्प तरंगितायाः।
> विशुद्ध वात्सल्यरसोत्तराया
> देव्या दृशोर्गोचरतां जगाम॥ १९ ॥

बाद में पूरे प्रसंग को पढ़ा तो आगे एक अन्य श्लोक में पुनः वात्सल्य रस का प्रयोग लगभग उसी प्रकार उसी संदर्भ में मिला, तो मेरा विस्मय और भी बढ़ गया—

> निसर्ग वात्सल्यरसौघ सिक्ता
> सान्द्रप्रमोदाम्बुदपूरपूर्णा।
> तमेकपुत्रं जगदेकमाता
> न्युत्संगिनं प्रस्नविणी बभूव॥ २३ ॥

लगभग एक वर्ष पूर्व गुरुपूर्णिमा को कविगुरु कालिदास का यह प्रसाद पाकर मैं उनके उक्त प्रथम श्लोक की प्रथम पंक्ति के प्रथमार्द्ध में डूब गया, क्योंकि भा-,

तीय काव्य-शास्त्र की परम्परा एवं इतिहास से परिचित होने के कारण मेरे लिए यह सर्वथा कल्पनातीत था कि "वात्सल्य रस" का प्रयोग कालिदास करें और भी पारिभाषिक संगति की व्यंजना करते हुए प्राय: सांगोपांग रूप में। "आवेग" संचारी और "गलद्बाष्प" सात्विक भाव, देवी पार्वती आश्रय तथा शिशु स्कंद आलम्बन, तरंगित होने की प्रक्रिया के साथ आनन्द की दशा रसनिष्पति का संक्षेप में ही सही पूरा स्वरूप सामने ला देती है। यदि १५वें से १८वें श्लोक तक का वर्णन भी दृष्टि में रखा जाय, जैसा कि उचित भी है, तो संक्षेप की बात भी नहीं रहती। पूरा परिवेश सामने आ जाता है तथा भाव-विकास की अन्य स्थितियाँ भी स्पष्ट हो जाती हैं।

कालिदास गुप्तकाल में रहे हों तो भी उनके द्वारा "वात्सल्य रस" का इस प्रकार अंकन जो भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र के रस-सूत्र "विभावानुभावव्य-भिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:" से संगत तथा पारिभाषिक दृष्टि से सटीक दिखाई देता हो, आश्चर्यजनक ही कहा जायेगा; क्योंकि रस के रूप में वत्सल की कल्पना तथा वात्सल्य रस जैसा प्रयोग १०वीं शती ई० के बाद की वस्तुएँ मानी जाती रही हैं। भामह और दण्डी ने वात्सल्य या वत्सल शब्द का प्रयोग नहीं किया है, केवल प्रेम के एक प्रियतर[1] रूप को प्रिय नाम दिया है।

डॉ० वी० राघवन भोजराज के श्रृंगार प्रकाश[2] में प्राप्त दस रसों की मान्यता पर विचार करते हुए परम्परागत नव रसों के अतिरिक्त विशेषत: स्वीकृत दसवें रस "वत्सल" के विषय में टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि "वत्सल" वस्तुत: अपने में कोई नया रस नहीं है, जिसकी भोज ने उद्भावना की हो, क्योंकि उसकी सत्ता पहले से ही थी और वह रुद्रट के समय से मान्य है। "प्रेयस्" या "प्रेयान्" तथा वात्सल्य परस्पर भिन्न नहीं हैं। 'सरस्वती कंठाभरण' में भोज ने स्वयं इसका निर्देश किया है—

अत्र वत्सल प्रकृते:
...... स्नेह स्थायिभाव:
...... प्रेयान इति प्रतीयते।

उन्होंने वत्सल को रस तथा वात्सल्य को श्रृंगार के ६४ प्रकारों में से एक माना है।

यह बात काव्यशास्त्र के इतिहासज्ञों की दृष्टि में आ चुकी है कि नाट्य या दृश्यकाव्य-क्षेत्र से आये हुए रससिद्धान्त को श्रव्यकाव्य के क्षेत्र में पहली बार

१. श्रेय: प्रियतराख्यानम्।
२. श्रृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य
बीभत्स वत्सल भयानक शान्त नाम्न:।
आम्नासिषु: दश रसान् सुधियो, यथ तु, श्रृंगारमेव रसनाद्रसमाम नाम:॥

प्रविष्ट एवं प्रतिष्ठित करने का श्रेय रुद्रट को है। उन पर भामह और भरत दोनों का सम्मिलित प्रभाव है, तथापि मुख्यतया वे अपने "काव्यालंकार" नामक ग्रंथ में भामह की परम्परा का अनुसरण करते हैं। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में वास्तव में वे "काव्य की देहवादी" आत्मवादी धाराओं के संगम पर खड़े हैं। मुझे जब कालिदास के वात्सल्य रस वाला प्रथम श्लोक मिला तो मैंने उसे नगेन्द्र जी के "रस-सिद्धान्त" ग्रंथ के पहले कोरे पृष्ठ पर ही लिख दिया ताकि उसे उपयुक्त स्थान प्राप्त हो जाय और ग्रंथ का भी एक अभाव पूरा हो जाय। मेरा मानसिक संतोष प्रतीकात्मक ही कहा जा सकता है, क्योंकि "रससिद्धान्त और सिद्ध रस का अन्त" नामक लेख में मैंने उसके अभावों की लम्बी सूची प्रस्तुत की है। सच तो यह है कि कालिदास के श्लोक ने पूर्ति करने के स्थान पर उसके एक अभाव को और उजागर कर दिया। वास्तव में श्रव्यकाव्य में प्रथमतः रस के उद्भाव एवं मौलिक समावेश का श्रेय रुद्रट की जगह अब कालिदास को मिलना चाहिए, क्योंकि कुमारसंभवम् नाटक नहीं, महाकाव्य है। यह दूसरी बात है कि कालिदास रुद्रट की तरह काव्यशास्त्री न होकर शुद्ध कवि हैं। स्कंद के साथ वात्सल्य का संबंध कुछ विशेष दिखायी देता है। उनके एक पार्षद का नाम वात्सल था, महाभारत में ऐसा उल्लेख मिलता है। फिर रुद्रट ने तो वात्सल्य शब्द को रस के लिये प्रयुक्त भी नहीं किया है। मम्मट भी उन्हीं का अनुसरण करते हैं। "पुत्रादि विषयक रति" कहकर वे वात्सल्य से घोषित होनेवाले मनोभाव को भी रति का ही एक प्रकार मानते हुए भावकोटि में स्थान देते हैं। उन्होंने यहाँ आचार्यपाद अभिनवगुप्त का अनुसरण किया है, जो आंशिक रूप से ही क्योंकि अभिनव ने न केवल वात्सल्य को शृंगार के स्थायी भाव रति में पर्यवसित माना वरन् उसे "भय" में विश्रान्त भी बताया है। आचार्य हेमचन्द्र का मत भी स्नेह, भक्ति, वात्सल्य आदि को रति में अन्तर्निहित मानने का ही है, पर उन्होंने "वात्सल्य" शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया है तथा उसे भक्ति का विलोम बताया है। अनुत्तम की उत्तम के प्रति रति भक्ति है तथा उत्तम की अनुत्तम के प्रति रति वात्सल्य। इनका आस्वाद भाव के समान होता है। इसके विपरीत वात्सल्य को दसवां रस माननेवालों की परम्परा भी चली। यद्यपि उसके स्थायी भाव के विषय में मतभेद दिखाई देता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज इस परंपरा में प्रमुख स्थान रखते हैं, क्योंकि उन्होंने वत्सल रस का जितना सांगोपांग संपूर्ण वर्णन शास्त्रीय-विधि से किया है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। उन्होंने वात्सल्य का स्थायी भाव वत्सलतारूपी स्नेह माना है। "मन्दारमरन्दचम्पू" के रचनाकार ने "कारुण्य" को तथा कवि कर्णपूर ने "ममकार" का स्थायी रूप में निर्देश किया है। यह सभी वत्सल या वात्सल्य को रस मानते

हैं। भानुदत्त भी इसी परम्परा में आते हैं। उन्होंने अपनी "रसतरंगिणी" में लौल्य, भक्ति, कार्पण्य और माया रसों के साथ वात्सल्य को भी रसरूप में उल्लिखित किया है। भक्ति के अन्तर्गत "वात्सल्यासक्ति" के रूप में इसे समाहित करने का एक उपक्रम भक्तिशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथ "नारदभक्तिसूत्र" में शताब्दियों पूर्व किया जा चुका था, बाद में "हरिभक्तिरसामृत सिन्धु" में वात्सल्य को भी मान्यता मिल गयी।

इस प्रकार रसों की संख्या-वृद्धि में उनके विकासक्रम को देखते हुए भरतोक्त आठ नाट्यरसों के बाद सामान्यतः नवां स्थान शान्त का आता है और दसवां वात्सल्य का। यह प्रश्न भी विचारणीय है कि क्या वस्तुतः ऐसा ही है अथवा वात्सल्य का स्थान शान्त की अपेक्षा रसकोटि में परिगणित होने की दृष्टि से भी उससे भी पहले आना चाहिये। विश्वनाथ महापात्र ने वत्सल का रसरूप में निरूपण करने से पहले एक बात ऐसी कह दी है कि जिससे अन्वेषण की दिशा आगे के स्थान पर पीछे मुड़ जाती। उनका मत है कि जिस वत्सल रस को वे प्रस्तुत करने जा रहे हैं, वह "मुनीन्द्र सम्मत" है यानी आचार्य भरत ने ही स्वयं उसे मान्यता प्रदान की है। अब समस्या जटिल इसलिए हो जाती है कि ऐसा भरत ने कहाँ किया है, एक तो यह बात सुविदित नहीं है, दूसरे नाट्शास्त्र के प्राचीन संस्करणों में प्राप्त (६-१५) "चेत्यष्टोनाट्येरसाः स्मृताः" तथा परवर्ती संस्करणों में प्रक्षिप्त "नवनाट्य रसाः" से उनके द्वारा मान्य या निर्दिष्ट तथा कथित वात्सल्य रस की संगति कैसे सिद्ध की जा सकेगी, यह प्रकट नहीं है। डॉ० सत्यव्रत सिंह ने स्व-सम्पादित "हिन्दी-साहित्यदर्पण" की भूमिका में समस्या के पूर्वांश पर प्रकाश डालते हुए निम्नलिखित अंश खोजकर सामने रखा है, जिसमें भरत के द्वारा वात्सल्य शब्द का ऐसा प्रयोग हुआ है, जैसे वे उसे रस मानते हों अथवा उसके रस माने जाने की किसी परम्परा से अवगत हों।

> तत्र हास्यशृंगारयोः स्वरितोदात्तैः वीररौद्राद्भुतेषु उदात्त कम्पितैः करुण वात्सल्य भयानकेषु अनुदात्तस्वरित कम्पितैर्वर्णैः पाठ्यमुपपादयति।

डॉ० सिंह का भी यही कहना है कि "वत्सल" रस मुनीन्द्र सम्मत रस है-- यह बात नाट्यशास्त्र की इस उक्ति से ही प्रमाणित है। उद्धृत उक्ति को देखने से तो यह स्पष्ट लगता है कि यहाँ जितने भी अन्य नाम हास्य, शृंगार, वीर, रौद्र, करुण, भयानक इत्यादि आये हैं, वे सभी प्रसिद्ध रसों के हैं अतः वात्सल्य का प्रयोग भी रस के अर्थ में ही होना चाहिए। क्या ऐसा तो नहीं है कि यहाँ भरत अनजाने में किसी नाट्येतर श्रव्यकाव्य की भिन्न परंपरा को लक्षित कर रहे हों, जो उस काल में प्रचलित रही हो अथवा जिसका बीज-वपन हो चुका हो। संभव है श्रव्काव्य में वात्सल्य रस को मान्यता देनेवाली यह प्रवृत्ति उस समय तक

नाट्यक्षेत्र में भी प्रविष्ट हो चुकी हो। यदि यह संभावना दुरूह न समझी जाय तो यह मानना कष्टसाध्य न होगा कि कालिदास के द्वारा पूर्वोद्धृत श्लोक में "वात्सल्य" रस का प्रयोग ऐसी ही किसी अज्ञात परम्परा का अवशेष है, जिससे कदाचित् भरत मुनि भी अवगत थे। जब तक इस परम्परा के अज्ञात रूप को इतर विश्वसनीय प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं कर दिया जाता, तब तक यह कहना मेरे विचार से किसी प्रकार भी अनुचित न होगा कि कालिदास वात्सल्य रस के प्रथम उद्भावक थे। भरत ने वात्सल्य के साथ रस शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया होता अथवा कहीं उसका विवरण दिया होता, तो यह श्रेय उन्हें ही प्राप्त होता।

कालिदास को भरत के नाट्यशास्त्र का सम्यक्ज्ञान था यह बात "विक्रमोर्वशीय" आदि के आधार पर अनेक रूपों में प्रमाणित की जा चुकी है। अतएव यह अनुमान कि कालिदास और भरत दोनों के द्वारा वात्सल्य का यह असाधारण प्रयोग उसके रसरूप को न केवल शताब्दियों पूर्व खींच ले जाता है वरन् दोनों के कालगत व्यवधान को भी कम करता दिखायी देता है। वाल्मीकि रामायण में तो वात्सल्य शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ ही है; बाद में पुराणों में भी यह बहुधा प्रयुक्त हुआ है, जिनमें श्रीमद्भागवत सर्वोपरि है।

कालिदास ने केवल "कुमारसंभवम्" में ही वात्सल्य का रसात्मक वर्णन किया है वरन् "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" के सप्तम अंक में सर्वदमन की विविध क्रीड़ा तथा दुष्यन्त-शकुन्तला का उसके प्रति प्रभूत आकर्षण, विमुग्धता एवं भावातिरेक भी वैसा ही रसमय प्रतीत होता है। दुष्यन्त भरत को देखकर "मां वत्सलयंति" का अनुभव करने लगते हैं और भरत के लिए कालिदास ने "माउवच्छलो" शब्द प्रयुक्त किया ही है। इसी प्रकार "रघुवंशम्" में दिलीप का रघु के प्रति स्नेहभाव अतिशय तल्लीनतापरक है और यही नहीं कवि ने वहाँ भी रस की स्थिति के बोध का परिचय "रसज्ञता" शब्द का प्रयोग करके स्पष्ट रूप में दिया है, जिससे उसके "वात्सल्य रस" से अवगत होने के विषय में किसी प्रकार का संदेह शेष नहीं रह जाता। यथा—

> तमंकमारोप्य शरीरयोगजैः
> सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।
> उपान्त संमीलित लोचनो नृपः
> चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ॥ २६॥ (तृतीय सर्ग)

"विक्रमोर्वशीयम्" के अन्तर्गत भी कुमार को देखते ही विक्रम के "वात्सल्यबन्धि" हृदय में अजस्र सात्विक भाव अंकुरित हो उठते हैं और भावविभोर होकर वे भी उसके आलिंगन के लिए विह्वल हो जाते हैं—

बाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन्
वात्सल्यवन्धि हृदयं मनसः प्रसादः
संजात वेपथुभिरुज्झित धैर्यवृत्तिः
इच्छामि चैनमदयं परिरब्धुमंगैः ॥ ९ ॥ (पंचम अंक)

कुछ ऐसी ही दशा उर्वशी की भी हो जाती है। उसके वक्षस्थल में दूध की धारा उमड़ जाती है और उससे कंचुकी भींग जाती है। अपने वयस्क हुए पुत्र को वह एक टक देखती ही रह जाती है—

इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकन तत्परा।
स्नेह प्रस्रवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम् ॥ १२ ॥

कालिदास के साहित्य में वात्सल्य की रस-दशा के ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं तथा वे दृश्यकाव्य अथवा श्रव्यकाव्य किसी एक काव्य रूप तक सीमित नहीं हैं।

खोजने पर अन्यत्र भी ऐसे प्रमाण मिल सकते हैं, जिनसे कालिदास के काल में वात्सल्य रस की मान्यता और भी निर्भ्रान्त रूप से प्रतिपादित की जा सके तथा रससिद्धान्त के पूर्वोत्तर विकास में उसकी सही स्थिति का अधिक स्पष्ट बोध हो सके। मुझे विश्वास है कि काव्यानुशीलन में रुचि लेनेवाले मनीषी इस ओर अवश्य प्रेरित होंगे। ❏

माता-पिता ही सन्तान के लिए प्रथम गुरु हैं, वे सर्वथा पूज्य हैं।

—महात्मा गांधी

डॉ० शिवेश भट्टाचार्य

भारत में मातृकेन्द्रीय समाज : एक पर्यवेक्षण

एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के लिए, जिसमें माता की भूमिका, न केवल सन्तान के जैविक और मनोवैज्ञानिक विकास की दृष्टि से बल्कि, समाज में सामान्य रूप से भी, पिता की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती है, इस व्यवस्था को पहले मातृ सत्तात्मक कहा जाता था, किन्तु आधुनिक नृशास्त्री तथा समाजशास्त्री 'मातृसत्तात्मक' शब्द का प्रयोग करने से कतराते हैं। इसके स्थान पर 'मातृ-वंशात्मक' अथवा 'मातृस्थानीय' शब्दों का प्रयोग उन्हें अधिक उचित प्रतीत होता हैं। इस तरह के समाजों में स्त्री की अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण भूमिका इस शब्द से पूरी तरह से स्पष्ट नहीं हो पाती। अतः मातृसत्तात्मक अथवा मातृ-वंशात्मक शब्दों के स्थान पर इस तरह की सामाजिक व्यवस्थाओं के लिये 'मातृ-केन्द्रीय' शब्द का प्रयोग करना हमारी दृष्टि में अधिक उपयुक्त होगा।

मातृकेन्द्रीय समाज अब अपेक्षाकृत असमान्य तथा पितृकेन्द्रीय सामाजिक व्यवस्था से प्रभावित हमारी मानसिकता को विचित्र और विदेशी प्रतीत होते हैं, अतः यह भ्रान्ति सहज ही हो सकती है कि मातृकेन्द्रीय व्यवस्था एक प्राचीनतर और प्राथमिक सामाजिक व्यवस्था थी, जिसने आगे चलकर पितृकेन्द्रीयता पर आधारित एक अधिक उन्नत समाज का मार्ग प्रशस्त किया। यदि पूर्णतः नहीं तो अंशतः यह अनुमान गलत लगता है। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं

है कि मातृकेन्द्रीय और पितृकेन्द्रीय सामाजिक व्यवस्थाओं के आपसी संघर्ष में पितृकेन्द्रीय व्यवस्था ने मातृकेन्द्रीय व्यवस्था के तत्वों को आत्मसात् कर लिया, तथापि यह स्पष्टतः नहीं कहा जा सकता कि मातृकेन्द्रीय व्यवस्था दोनों में प्राचीनतर थी। क्रोवर ने ठीक ही कहा है कि हम प्रायः ऐसी चीजों को, जो हमारी ज्ञात पद्धतियों (अथवा मान्यताओं) से अन्तर रखती हैं, प्राथमिक और पूर्ववर्ती मानने लगते हैं। यदि वास्तव में पशुचारी लोगों ने पितृकेन्द्रीय व्यवस्था का विकास किया और कृषिपरक समाज मातृकेन्द्रीय व्यवस्था के विकास के लिए उत्तरदायी रहे, तो इससे मातृकेन्द्रीय व्यवस्था दोनों व्यवस्थाओं में प्राथमिक व प्राचीनतर नहीं सिद्ध होती, बल्कि पितृकेन्द्रीय व्यवस्था ही मातृकेन्द्रीय व्यवस्था के प्रारम्भ होने के पहले की सिद्ध होती है।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है, हटन का विचार है कि पशुचारी आर्यों के आगमन के पूर्व इस देश के *अधिकांश भाग में मातृकेन्द्रीय व्यवस्था थी तथा आर्यों* की पितृ-वंशात्मक एवं मूल निवासियों की मातृवंशात्मक व्यवस्थाओं के बीच हुए परिणामी संघर्ष ने जाति-व्यवस्था के विकास मे सहायता दी। जाति-प्रथा की उत्पत्ति से संबंधित हटन के सिद्धान्त से यद्यपि पूरी तरह सहमत नहीं हुआ जा सकता तथापि उपलब्ध साक्ष्य हटन की इस कल्पना की कम-से-कम, आंशिक सत्यता की ओर संकेत करते हैं कि आर्यों के पूर्व की भारतीय संस्कृति मे माता तथा स्त्री संबंधी सिद्धान्तों को वैदिक आर्यों की संस्कृति की अपेक्षा अधिक महत्व प्राप्त था। यह नितान्त गलत नहीं है कि मातृत्व-सिद्धान्त के प्रति आदर की भावना जो परवर्ती काल मे भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता बन गयी, इन आर्यपूर्व लोगों की देन थी।

भारत मे मातृकेन्द्रीय समाजों के वर्तमान उदाहरण केरल की नायर और मेघालय के खसी तथा गारो जातियों में प्राप्त होते हैं। इन तीनों की सामाजिक व्यवस्थाओं मे मातृवंशात्मकता एक प्रमुख लक्षण है। मातृवंशात्मक व्यवस्था की प्राथमिक संरचना इस प्रकार बतायी जा सकती है—व्यक्ति एक ऐसे समूह का हिस्सा होता है, जिसके सदस्य स्त्रियों की क्रमानुसार पीढ़ियों के माध्यम से आपस में जुड़े रहते हैं। एक लड़का और उसकी बहन अपनी माता की वंश परम्परा के सदस्य होते हैं (विलियम जे० गुडे, द फेमिली, दिल्ली, १९७९, पृष्ठ ६०)। वंश की परम्परा इस प्रकार माता से पुत्री की ओर चलती है। यद्यपि पुत्र अपनी माता की वंशपरम्परा से संबंधित रहता है, किन्तु उसके पुत्र उसकी मां की वंशपरम्परा से नहीं संबंधित होते, उनका संबंध उनकी पत्नी की वंश-परम्परा से होता है। इससे स्पष्ट है कि ऐसे समाज मातृवंशात्मक होने के साथ मातृस्थानीय भी होते हैं। बच्चे अपनी माता के परिवार (अर्थात् माता के मातृ

परिवार) के साथ रहते हैं और उनके पालन-पोषण की जिम्मेदारी मां पर रहती है, पिता पर, कम-से-कम वैधानिक रूप से, नहीं।

इन तीनों मातृकेन्द्रीय समाजों में, सम्पत्ति और उत्तराधिकार से संबंधित कानूनों में कोई समानता नहीं मिलती। खसी व्यवस्था इस सबंध में मातृ-सत्तात्मक व्यवस्था से सबसे अधिक मिलती-जुलती है, जिसमें सम्पत्ति का अधिकार मां के बाद उसकी सबसे छोटी पुत्री, जिसे खट्टू कहते हैं, को मिलता है तथा पारिवारिक सम्पत्ति की रक्षा और परिवार के अनुष्ठानों के सम्पादन का उत्तरदायित्व उसी पर होता है। गारो लोगों की व्यवस्था खसी लोगों की व्यवस्था से बहुत भिन्न नहीं है। इसमे सम्पत्ति का अधिकार मां के बाद पुत्री को मिलता है, किन्तु यह आवश्यक नही है, वह सबसे छोटी पुत्री ही हो, सामान्यत: सबसे बड़ी लड़की को छोड़कर किसी भी लड़की को उत्तराधिकारिणी (जिसे नोवना कहते है) के रूप में चुना जा सकता है। परिवार के प्रति नोवना की जिम्मेदारी, खट्टू की तरह ही अर्थात् पारिवारिक अनुष्ठानों का सम्पादन और पारिवारिक सम्पत्ति की रक्षा की होती है।

नायर लोगों में सम्पत्ति का अधिकार सम्पूर्ण तरवाड़ को प्राप्त होता है। तरवाड़ किसी परिवार की मां से पुत्रियों द्वारा उत्पन्न सदियों का सम्मिलित समूह होता है और तरवाड़ के सभी सदस्यों का सम्पत्ति में हिस्सा होता है। उनकी आय भी तरवाड़ में सम्मिलित कर ली जाती है। चूंकि पुत्र के बच्चों का तरवाड़ से कोई संबंध नहीं होता और वे अपनी मां के तरवाड़ से संबंधित होते हैं अत: एक पीढ़ी के बाद पुरुषों का सम्पत्ति पर कोई अनुवंशिक अधिकार नहीं रह जाता। इस प्रकार सिद्धान्तत: एक दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में उत्तराधिकार मां से पुत्री को प्राप्त हो जाता है।

प्राचीन काल के सुव्यवस्थित समाजों में मातृत्व का सिद्धांत जिसका संबंध प्रजनन और सृष्टि से माना जाता था, काफी लोकप्रिय था। भूमध्यसागर से लेकर भारत तक की सभी ताम्र-पाषाणिक संस्कृतियों में मातृपूजा के व्यापक प्रचलन के चिह्न मिलते हैं। यद्यपि जैक्वेटा हॉक्स का यह सिद्धांत कि कांस्ययुगीन क्रीट के जीवन में मातृदेवी का महत्व इतना अधिक था स्वयं मिनोअन संस्कृति का वर्णन ही 'नारी शक्ति प्रधान' (संस्कृति) रूप में किया जा सकता है' अब उतना सशक्त नहीं रह गया है (एम. आई. फिनले, आर्कियोलोजी एण्ड हिस्ट्री', हिस्टारिकल स्टडीज टुडे (सं) फेलिक्स गिलबर्ट तथा स्टीफन आर ग्रोवर्ड, न्यूयार्क १९७२, पृ० २८३ त I आगे) तथापि इसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। हिन्दू देवमंडल में मातृदेवी ने अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था और शक्ति तथा मातृका देवियों के विषय में शायद कुछ कहने की आवश्यकता भी नहीं है।

यह तथ्य कि वैदिक धर्म में देवियों के उस महत्त्व का कोई संकेत नहीं मिलता, जो महत्व उन्होंने बाद के हिन्दू-धर्म में प्राप्त किया था। (ए. ए. मेकअनल, वैदिक माइथालोजी, दिल्ली पुनर्मुद्रित, १९७४, पृ० १२४-१२५) शायद हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत देवीपूजा की आर्येतर उत्पत्ति की ओर इंगित करता है और इस उत्पत्ति की तिथि पितृकेन्द्रीय सामाजिक व्यवस्थावाले पशुचारी आर्यों के आगमन के पूर्व के किसी काल तक ले जायी जा सकती है।

नायर, खसी और गारो लोगों के समाज में प्राप्त होनेवाले मातृकेन्द्रीय व्यवस्था के अवशिष्ट चिह्नों के अतिरिक्त हटन ने कुछ अन्य भी साक्ष्य प्रस्तुत किए हैं, जिनसे आर्यों के पितृकेन्द्रीय व्यवस्था द्वारा आत्मसात् किए जाने के पूर्व मातृकेन्द्रीय समाजों के अस्तित्व की संभावना इंगित होती है। मातृप्रधान व्यवस्थाओं में स्त्री को सामान्यतः अधिक स्वतंत्रता मिलना विशेषकर नम्बूदरी ब्राह्मणों के छोटे लड़के की नायर पत्नियों तथा सबसे बड़े लड़के की नम्बूदरी पत्नियों के बीच का अन्तर, नम्बूदरी पत्नियों में कठोर पर्दा-प्रथा और नायरों में उनकी पूर्णतः लोप, देवदासी प्रथा तथा घर जवाई की परम्परा आदि सभी हटन के अनुसार पूर्वकालीन मातृकेन्द्रीयता के अवशेष हैं। (हटन, वही अध्याय १०)। इसी के साथ ही मातृनाम जोड़ने की प्रथा का भी उल्लेख किया जा सकता है, जो अत्यधिक प्रचलित प्रतीत होती है। इसके सर्वोत्तम उदाहरण आन्ध्र सातवाहन वंश के प्रसिद्ध शासकों गौतमी पुत्र शातकर्णि तथा वाशिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावि के नामों में देखे जा सकते हैं। एक परम्परा के अनुसार सिद्धार्थ ने अपना प्रिय नाम गौतम अपनी धाय मां गौतमी के नाम पर रखा था। महाभारत के प्रसिद्ध पाँच भाई पाण्डु के वंशज के रूप में (पाण्डव) जितने जाने जाते थे, उतने ही कुंती के पुत्र (कौन्तेय) के रूप में भी। एक अन्य परम्परा के अनुसार मौर्यवंश ने अपना नाम इस वंश के संस्थापक (चन्द्रगुप्त मौर्य) की माता के नाम से ग्रहण किया था। हम इस बात पर कोई तर्क नहीं करते कि यह परम्परा तथ्यों पर आधारित नहीं है, हमारे लिए इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रकार की परम्परा समाज में स्वीकार्य मानी जाती थी। कुछ ब्राह्मी अभिलेखों में 'महाभोजि' और 'महारथिनि' के अस्तित्व के उल्लेख मिलते हैं, जो इस बात की ओर इशारा करते हैं कि कुछ क्षेत्रों और संभवतः कुछ जाजायों अथवा जनजातियों में स्त्रियों को न केवल पर्याप्त स्वतंत्रता थी, बल्कि शक्ति भी प्राप्त थी। स्त्री प्रशासक अथवा योद्धा का भी कार्य कर सकती थी। (लूडर्स सूची, सं १०२१, १०३७, १०४५, ११११) अभिलेख सं १०३७ तथा १०४५ विशेष महत्वपूर्ण हैं, जिनमें एक ऐसे शासन का उल्लेख किया गया है, जिसने अपने पिता के नाम को त्याग कर केवल माता के नाम का उल्लेख किया है—और उसे (माता को) महाभोजि तथा स्वयं को 'महाभोज' कहा है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपनी वर्तमान स्थिति माता से उत्तराधिकार में प्राप्त की थी। □

डॉ० रामशकल पाण्डेय

□

शिक्षा में मां की भूमिका

शिक्षा व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया है। बालक जब जन्म लेता है तब वह अबोध एवं शिक्षा ग्रहण करने की क्षमतायुक्त प्राणी होता है। शिक्षा ग्रहणशीलता की दृष्टि से मानव शिशु अन्य प्राणियों के शिशुओं से श्रेष्ठ है। यद्यपि पशुओं एवं पक्षियों के शिशु जन्म के कुछ क्षण पश्चात् ही उठने-बैठने एवं दौड़ने की क्रिया करने लगते हैं और इस क्रिया को करने में मानव शिशु को महीनों लग जाते हैं। किन्तु यह स्थिति मानव शिशु के लिये वरदान स्वरूप है। इन क्रियाओं को सीखने में जितनी ही देर लगती है, उतनी ही विविधता की गुंजाइश रहती है। पशु इन क्रियाओं को एक ही प्रकार से कर सकते हैं, जब कि मनुष्य चलने की क्रिया ही भिन्न-भिन्न प्रकार से कर सकता है। वह पैदल, सायकिल से, अन्य यानों से और यहाँ तक कि हवाई जहाज से भी चल सकता है। इन क्रियाओं को मानव शिशु को सप्रयास सीखना पड़ता है और यहीं पर शिक्षा की भूमिका आती है।

व्यक्ति प्रारम्भ में अत्यंत सीमित परिधि में अपना जीवन व्यतीत करता है। धीरे-धीरे इस परिधि का विस्तार होता है। जन्म से पूर्व उसकी यह परिधि मां का केवल गर्भाशय होता है। बाद में केवल मां के इर्द-गिर्द ही उसका संसार होता है। ज्यों-ज्यों वह बढ़ता है, त्यों-त्यों परिवार, समुदाय, समाज

राष्ट्र और विश्व उसकी परिधि बनते हैं। धीरे-धीरे इस परिधि में रहने की क्षमता का उसे विकास करना होता है। यदि इसमें कहीं कोई कमी रह जाती है, तो बालक के समंजन में भी कमी आ जाती है।

शिक्षा का प्रारम्भ कब और कहाँ से होता है, इस पर विभिन्न धारणाएँ हैं। अनेक पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री शिक्षा का प्रारम्भ जन्म के कुछ समय पश्चात् मानते हैं। कुछ राजनेता एवं चिंतक ६ वर्ष की आयु से शिक्षा को प्रारम्भ करना चाहते हैं। अब धीरे-धीरे समाज में यह मान्यता जोर पकड़ती जा रही है कि शिक्षा का प्रारम्भ ३ वर्ष की अवस्था से ही हो जाता है। जो राष्ट्र अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था ६ वर्ष की आयु से करते हैं, वहाँ पर भी नरसरी एवं किन्डर गार्डन स्कूलों की स्थापना बालक को ३ वर्ष की आयु के पश्चात् ही शिक्षा देने के लिए हो जाती है। "जारशील्ड" एवं "कारमाइकेल" जैसे बालमनोवैज्ञानिकों का कथन है कि बालक जन्म के समय से ही शिक्षा-ग्रहण करने लगता है। कारमाइकेल ने अनेक नवजात शिशुओं पर प्रयोग करके यह बताया है कि जन्म के पश्चात् ही बालक को यदि विचार सहित कुछ करने के लिये—जैसे दूध पीने एवं ताली बजाने की क्रियाओं को करने की शिक्षा दी जाती है, तो वह इन क्रियाओं को उन बालकों से पहले कर लेता है, जिन्हें यह शिक्षा नहीं मिलती है। एलिजाबेथ हरलॉक ने तो बालक के जन्म के पूर्व की क्रियाओं पर भी कुछ परीक्षण किये हैं। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि बालक भ्रूण अवस्था में भी अपने गर्भाशय के वातावरण से अनुकूलन करता रहता है। भारतीय विचारधारा में सदैव यह माना गया है कि बालक मां के गर्भ से ही कुछ-न-कुछ सीखता रहता है। महाभारत में वर्णित अभिमन्यु का कथानक इस निष्कर्ष का सुन्दर उदाहरण है। अभिमन्यु ने चक्रव्यूह-भेदन जैसी जटिल क्रिया को गर्भाशय में ही सीख लिया था। किन्तु वह निकलने का उपाय न सीख सका, क्योंकि उस समय उसकी माता ने सम्भवतः शिक्षा की महत्ता को समझा न होगा और इसीलिए बाद के कथानक के समय वह सो गई होगी।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बालक की शिक्षा में मां की कितनी महत्वपूर्ण भूमिका है। जाने-अनजाने प्रत्येक मां अपने बालक को वे सभी विचार, भावनाएँ एवं आकांक्षाएँ प्रदान कर देती है, जिनका उसके मन में सदैव प्रभाव पड़ता रहता है। बालक मां से जो कुछ भी सीखता है, वह उस सीखने से अधिक स्थायी होता है, जिसे वह विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्व-विद्यालयों में सीखता है। शिक्षा किन साधनों से प्राप्त होती है, इस पर शिक्षा-शास्त्र में विचार किया गया है। शिक्षा के मुख्य अभिकरण दो बताये गये हैं—पहला औपचारिक और दूसरा अनौपचारिक। औपचारिक अभिकरणों में

सम्पूर्ण विद्यालयी व्यवस्था आती है, जिसमें प्राथमिक विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय की शिक्षा का समावेश होता है। इस शिक्षा की व्यवस्था का दायित्व समाज अपने ऊपर लेता है। संसार के सभी राष्ट्रों ने इस पूरी व्यवस्था की जिम्मेदारी राष्ट्र पर सौंपी है। सभी देशों में यह व्यवस्था कुछ विश्वविद्यालयों के वावजूद अनिवार्य शिक्षा पर वल देती है। अनिवार्य शिक्षा की अवधि प्रत्येक देश में अलग-अलग है। अमेरिका में हाईस्कूल तक की शिक्षा अनिवार्य है। यूरोपीय देशों में भी माध्यमिक शिक्षा लगभग अनिवार्य है। समाजवादी देशों ने भी लगभग १६ वर्ष की आयु तक की शिक्षा को अनिवार्य कर रखा है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने ६ वर्ष की आयु से १८ वर्ष की आयु तक की शिक्षा को अनिवार्य लक्ष्य रखा था, किन्तु अभी तक हम ६ से ११ वर्ष तक की आयु तक की अर्थात् प्राथमिक शिक्षा को भी अनिवार्य नहीं कर पाये हैं। इसमें भी राष्ट्र के माता-पिताओं का सहयोग अपेक्षित है। शिक्षा का दूसरा अभिकरण अनौपचारिक है। अनौपचारिक अभिकरण में परिवार, समुदाय, रेडियो, टेलिविजन, राज्य, स्काउटिंग, गर्ल-गाइडिंग आदि आते हैं। इनमें भी परिवार का महत्व सवसे अधिक वताया गया है। अनौपचारिक शिक्षा परिवार में सबसे अधिक मिलती है। परिवार में जो शिक्षा मिलती है, वह अधिक स्थायी और विविधतापूर्ण होती है। इस शिक्षा का न तो कोई पाठ्क्रम होता है और न ही कोई निश्चित अवधि या निश्चित स्थान या निश्चित टाइमटेविल होता है। परिवार की शिक्षा में कोई वंधन नहीं है। इसीलिये यह अधिक महत्वपूर्ण है। परिवार का केन्द्र माता होती है। इसीलिये उसे शिक्षा का प्रथम स्रोत कहा गया है। एक प्रकार से मां प्राथमिक पाठशाला ही है। शिक्षा-जगत् में मां का स्थान प्राथमिक विद्यालय के रूप में उसी समय से चला आ रहा है, जवसे संसार में मानव-जीवन के अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है। माता रूपी गुरु के द्वारा प्रेमपूर्वक प्राप्त की हुई शिक्षा वालक कभी भूलता नहीं। उसके व्यक्तित्व पर इस शिक्षा की अमिट छाप लग जाती है। यही कारण है कि विभिन्न शिक्षाशास्त्रियों ने माता की भूमिका की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री रूसो का कथन है—"शिक्षा जन्म से प्रारम्भ होती है तथा माता उपयुक्त परिचारिका है। Education begins at birth and the propernurse is the mother. पश्चिम के विचारकों में पेस्टलॉजी का स्थान महत्वपूर्ण है। उसने कहा है कि माता प्यार तथा स्नेह का केन्द्र है, शिक्षा का सर्वोत्तम स्थान है तथा वालक का प्रथम स्कूल है। किन्डर गार्डन पद्धति के प्रणेता जर्मनी के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री फ्रोवेल का मत है—माताएँ वालकों की आदर्श गुरु होती हैं तथा परिवार द्वारा प्राप्त की हुई अनौप-

चारिक शिक्षा सबसे अधिक प्रभावशाली एवं प्राकृतिक होती है। "Mothers are the ideal teachers and the informal education given by home is most effective and natural." मैडम मान्टेसरी ने तो माता की भूमिका की इतनी प्रशंसा की है कि उन्होंने अपनी शैक्षिक संस्था मान्टेसरी स्कूल को बच्चों का घर कहा है, जिसमें माता के प्रेम का वातावरण पाया जाता है। 'मैजनी' का विचार इस सन्दर्भ में बहुत लोकप्रिय है। वह कहता है कि बालक नागरिकता का प्रथम पाठ माता के चुम्बन एवं पिता के संरक्षण के बीच सीखता है। "Child learns the first lesson of citizenship between the kiss of mother and care of father".

प्राचीन भारत में भी माता को आदि गुरु माना गया था। प्रायः माताएँ बालक को जीवन की शिक्षा घर पर दे दिया करती थीं और उसके पश्चात् ही बालक को गुरुकुल भेजा जाता था। गुरुकुल पहुँचने पर बालक आचार्य को प्रणाम करके जब कहता था—"अथातो ब्रह्म जिज्ञासा, अथातो धर्म जिज्ञासा" तब गुरु सबसे पहले यह परीक्षा करता था कि बालक को माता के द्वारा कौन से संस्कार प्राप्त हुए हैं? स्पष्ट है कि आचार्य माता की भूमिका को महत्व देता था। यही नहीं जब ब्रह्मचारी शिक्षा समाप्त करके घर जाने लगता था, तब आचार्य बालक को यह उपदेश देता था कि वह माता की सदा सेवा किया करे। संसार के सबसे पहिले दीक्षान्त भाषण मे जिसे उपनिषद् ने स्थायी निधि बना दिया है, कहा गया है—"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव" इस समावर्तन संस्कार के वचन ध्यान देने योग्य हैं। आचार्य स्वयं छात्र से कह रहा है, किन्तु उसने अपना स्थान नम्बर तीन पर रखा है। उस आचार्य ने आठ वर्ष या बारह वर्ष या कभी-कभी सोलह वर्ष तक शिक्षा प्रदान की है और बालक को दूसरा जन्म दे दिया है। प्रारम्भ में बालक अबोध, अज्ञानी और निम्न-कोटि का था। आचार्य की शिक्षा से वह द्विज हुआ, फिर भी आचार्य ने बालक की शिक्षा में प्रथम भूमिका माता की ही मानी और यह कहा कि जीवन में बालक को सबसे पहले मातृभक्त होना है, उसके पश्चात् पिता को स्थान देता है।

जब भगवान की स्तुति की जाती है, तो उसे माता-पितामय माना जाता है, लेकिन उसमें भी आचार्यों ने माता को प्रथम स्थान दिया है। "त्वमेव माता च पिता त्वमेव" जैसे श्लोक इस तथ्य के साक्षी हैं। उस प्राचीन परम्परा का आधुनिक भारतीय समाज में भी प्रचलन है। हम सीताराम, राधे-श्याम, गिरिजाशंकर आदि कहने के अभ्यस्त हैं न कि रामसीता, कृष्णराधा या शंकरगिरिजा के। माता को प्रथम स्थान देने का यह विचार हमने ईश्वर तक में आरोपित किया। भारतीय समाज में सदैव माता के ऋण को शिक्षा

की दृष्टि से स्वीकार किया गया है छत्रपति शिवाजी ने स्वीकार किया है कि उनके अनेक गुणों की प्रचुरता उनकी माता जीजाबाई की शिक्षा से ही आई है। गाँधीजी को नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा उनकी माता के ही द्वारा प्रदान की गई थी। इसी शिक्षा के कारण महात्मा गांधी के उज्ज्वल चरित्र का निर्माण हुआ। गांधीजी ने यह तथ्य अपनी आत्मकथा में स्पष्ट किया है। हमारे धर्मग्रंथ रामायण, महाभारत आदि में भी माता की शिक्षा के महत्व का गुणगान किया गया है। राम, लक्ष्मण, भरत आदि में प्रेम, त्याग, सहनशीलता एवं बंधुत्व की भावनाओं की शिक्षा उनकी माताओं ने ही दी थी। दुष्यन्त-पुत्र भरत जिसके नाम पर हमारे देश को भारतवर्ष कहा जाता है, वीरता की शिक्षा उसकी माता शकुन्तला ने मरीचि के आश्रम में स्वयं दे दी थी। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री प्रोफेसर के० जी० सैयुद्दीन ने ठीक ही लिखा है—"व्यक्ति की शिक्षा पारिवारिक वातावरण और माता पर निर्भर करती है। यदि ये सभी वातावरण परिवार के अच्छे रीति-रिवाजों पर आधारित हैं, तो इनकी व्यक्ति की विचारधारा और विकास पर प्रशंसनीय प्रभाव पड़ेगा, तथा उसकी शिक्षा न केवल उसके लिये अपितु सम्पूर्ण समाज के लिये लाभप्रद सिद्ध होगी। उपर्युक्त उदाहरणों की पुष्टि अनेक शोध-कार्यों से भी होती है। लखनऊ विश्वविद्यालय में शिक्षा संकाय की डीन डॉ० श्रीमती देवकी तिवारी ने अपने शोध-कार्य में यह निष्कर्ष निकाला कि बालक में बोध-शक्ति का विकास माता की अभिवृत्ति पर निर्भर करता है। बालक में वस्तुओं के समझने की योग्यता माता की शिक्षा के आधार पर होती है। हम किसी वस्तु या विचार का जो अर्थ समझते हैं, वही अर्थ दूसरा व्यक्ति नहीं ग्रहण करता। इनमें भिन्नताएँ हो जाती हैं। इन भिन्नताओं का स्रोत माता की समझ है। रेमाण्ट ने लिखा है—"दो बच्चे भले ही एक ही विद्यालय में पढ़ते हों, एक ही समान शिक्षा-कोर्स से प्रभावित होते हों, एक-सा ही अध्ययन करते हों, एक ही प्रकार की उनकी वंश-परम्परा हो, फिर भी वे अपने सामान्य ज्ञान, रुचियों, भाषा, व्यवहार और नैतिकता में अपने घरों के कारण जहाँ से वे आते हैं पूर्णतया भिन्न हो जाते हैं, क्योंकि उनकी माताओं की दृष्टि में वे बालक भिन्न होते हैं। एच० सी० एन्ड-रसन ने यह निष्कर्ष निकाला है कि हमारे अपराधियों में से ८० प्रतिशत अपराधी उन घरों से आते हैं, जहाँ पर माताओं का व्यवहार असहानुभूतिपूर्ण होता है। कुछ समाजशास्त्रियों ने भी अपने अध्ययनों में यह पाया है कि समाज में बढ़ते हुए अपराधों का स्रोत माताओं का व्यवहार हुआ करता है। प्रसिद्ध विचारक एवं शिक्षाशास्त्री प्लेटो ने माताओं को अच्छी आदतों के निर्माण में सहायक बताया है। ध्यान देने की बात यह है कि सभी शोधकर्त्ता एवं विचारक शिक्षा

में माता की भूमिका का विश्लेषण करने में दो विधियों से काम लेते हैं। एक तो वे यह देखना चाहते हैं कि बालक की अच्छी आदतों के निर्माण में माताएँ किस प्रकार की भूमिका निभाती हैं और दूसरी विधि में वे यह अपनाते हैं कि अपराधों के बढ़ने में माताओं की क्या भूमिका होती है? दोनों विधियों से अनुसंधान हुए हैं और दोनों के निष्कर्ष माताओं की भूमिका को महत्वपूर्ण सिद्ध करते हैं।

माता की भूमिका शिक्षा में महत्वपूर्ण तो है, किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि सभी माताएँ इतनी सक्षम हैं कि वे बालक का समुचित विकास कर सकती हैं। भारतीय परिवार प्राचीन काल में शिक्षामय वातावरण रखते थे, किन्तु आज परिस्थितियाँ भिन्न हो गई हैं। संयुक्त परिवार लगभग समाप्तप्राय हैं, और वर्तमान युग की आर्थिक परिस्थितियाँ परिवार के वातावरण को कलहपूर्ण बनाती जा रही हैं। कुछ तो सामाजिक-आर्थिक दबाव के कारण और कुछ माताओं के आकांक्षा स्तर में परिवर्तन होने के कारण, माताओं को नौकरी करने पर विवश होना पड़ रहा है। ऐसी परिस्थिति में बालकों को जो स्नेह और सहानुभूति तथा देखरेख मिलनी चाहिए, वह उन्हें नहीं मिल पाती। इसीलिए बालक की शिक्षा में माता की भूमिका आज कुछ शिथिल होती जा रही है। शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा की दृष्टि से माता के निम्नलिखित शैक्षणिक कार्यों पर बल दिया है।

बालक के शारीरिक विकास की व्यवस्था का प्रथम दायित्व माता पर है। बालक अपनी माँ से चलना, बोलना, मैं और तुम में अन्तर करना और अपने चारों ओर की वस्तुओं के सरलतम गुणों को सीखता है। दूसरा शैक्षणिक कार्य बालक के नैतिक एवं सामाजिक प्रशिक्षण का है। बालक नैतिक एवं सामाजिक नियमों को माता से ही सीखता है। व्यवहार, परम्पराएँ अच्छे और बुरे का भाव उसे सबसे पहले माता ही दे देती है। माता का तीसरा शैक्षणिक कार्य बालक में अनुकूलन की क्षमता उत्पन्न करना है। अनुकूलन की क्षमता का धीरे-धीरे विकास होता है। सबसे पहिले बालक केवल माता के गर्भ से अनुकूलन करता है। जब वह जन्म लेता है, तो उसे अचानक नई दुनिया दिखाई पड़ती है। वह इस समय कठोरतम मानसिक आघात का अनुभव करता है। मनोवैज्ञानिकों ने इसे "शॉक" कहा है। इस समय कुछ माताओं की लापरवाही से बालक में निराशा, कुण्ठा, भय एवं साहस के अभाव का बीज बो दिया जाता है और वह जन्मपर्यन्त अपने अचेतन मन में इनसे छुटकारा नहीं पाता। जन्म के पश्चात् कुछ महीनों तक का काल मानसिक विकास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। अनुसंधानों से यह विदित होता है कि बालक में भय और प्रेम

की भावना जन्मजात ही होती है और संसार का ज्ञान सबसे पहले वह स्पर्श इन्द्रिय से ग्रहण करता है। माता ही उसका संसार है और मां को वह केवल स्पर्श से ही जानता है। स्पर्श के पश्चात् देखने, सुनने एवं सूंघने की संवेदनाओं का विकास माता की संरक्षता में धीरे-धीरे होता है। बाद के जीवन में हम जो कुछ ज्ञान ग्रहण करते हैं, उसकी आधारशिला संवेदनाओं एवं प्रत्यक्षीकरणों की इसी प्राथमिक अवस्था में रखी जाती है। बालक अपने चतुर्दिक् वातावरण से इन्हीं संवेदनाओं के सहारे विकास करता रहता है। माता के शैक्षिक कार्यों में एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि बालक में अच्छी आदतों का निर्माण किया जाय। कुछ अनुसंधान यह निष्कर्ष निकालते हैं कि हमारी अनेक आदतों का निर्माण माता की आदतों के अनुकरण पर हो जाता है। हमें स्वयं पता नही है कि हमारे खाने-पीने, उठने-बैठने, चलने-फिरने की आदतों परहमारी माताओं का कितना प्रभाव पड़ा है। हमारी रुचियों के विकास पर भी माता की रुचि का प्रभाव पड़ता है। यदि माताएँ घर पर सुन्दर और आकर्षक वस्तुओं, विचारों एवं सिद्धान्तों में रुचि रखती हैं, तो बालक भी इनमें धीरे-धीरे रुचि लेने लगता है। प्राय:यह देखा गया है कि जो माताएँ संगीत में रुचि लेती हैं, उनके बच्चे भी संगीत में कुछ रुचि लेने लगते हैं। शिक्षा की दृष्टि से माताओं का एक प्रमुख कार्य यह भी है कि वे बालक में उपयुक्त मूल्यों एवं आदर्शों का विकास करें तथा उनमें यह भावना भर दें कि वे अपने अनुरूप ही आकांक्षा-स्तर का विकास कर सकें। नि:स्वार्थता की शिक्षा, सहयोग की शिक्षा, परोपकार, सहिष्णुता एवं कर्तव्यपालन की शिक्षा बालक को सबसे पहले मां से ही मिलती है। शिक्षाशास्त्र में कुछ अनुसंधान यह भी सिद्ध करते हैं कि बालक में अनुशासन की भावना मां से ही सबसे पहले आती है। अनुशासनहीन एवं उच्छृंखल माताओं के बच्चों एवं अनुशासित माताओं के बच्चों पर कई परीक्षण हुए हैं और उन परीक्षणों में यह पाया गया है कि दोनों प्रकार की माताओं के बच्चे की भावना में सार्थक अन्तर है। कभी-कभी माताएँ अपने बालकों एवं बालिकाओं के साथ समान व्यवहार नहीं रखतीं। इस संबंध में कई शोध-कार्य हुए हैं। बालक पहला है या बीच का है या सबसे छोटा है। बालिकाओं से वह बड़ा या छोटा है, वह इकलौता है या जुड़वा है, इन सब पर शोध-कार्य हुए हैं। निष्कर्ष यह निकाले गये हैं कि वस्तुतः परिवार में बालक के स्थान या क्रम का इतना महत्व नहीं है, जितना माता के समानतापूर्ण या असमानतापूर्ण व्यवहार का है।

शिक्षादर्शन की दृष्टि से माता की भूमिका शिक्षा में निर्विवाद है। प्रकृतिवादियों एवं यथार्थवादियों की दृष्टि से माता एक शारीरिक सत्ता है और बालक

जीव वैज्ञानिक रूप से उसका एक अंग है। उसमें माता-पिता के गुणों का स्वतः अनुक्रमण हो जाता है। आदर्शवादियों की दृष्टि से माता कोई शारीरिक सत्ता नहीं है। देह धारण करते हुए भी वह एक मनोमय और आध्यात्मिक सत्ता है। बालक को वह सदा प्रेरणा ही देती रहती है। आदर्शवादियों की दृष्टि से माता कभी कुमाता नहीं होती है। पुत्र चाहे कुपुत्र हो जाए। आदर्शवाद की कल्पना है कि माता शब्द का उच्चारण करते ही बालक भौतिक जगत् से ऊपर उठकर भावनामय एवं मनोमय जगत् में प्रवेश कर जाता है। भारतीय आदर्शवाद में मां को सृष्टिकर्त्ता के रूप में देखने की परम्परा रही है। वह शक्तिपूर्ण है। बालक के व्यक्तित्व को ऊपर उठाने में वह सबसे बड़ी सहायिकाशक्ति है। हमें यह कामना करनी चाहिए कि भारतीय परिवारों में इस समय यदि कहीं कोई कमी आ गई है, तो वह शीघ्र दूर हो जाएगी और बालक की शिक्षा में माताओं की भूमिका का निर्वाह पुनः अच्छी तरह से होने लगेगा। □

डॉ० राधाकृष्ण नायडू, अञ्जली श्रीवास्तव

□

मां : मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

जिस क्षण शिशु का जन्म होता है, उसी क्षण माता का भी। यह वस्तुनिष्ठ सत्य बहुधा हम भूल जाते हैं। समझा यह जाता है कि मां दात्री है और शिशु दान का पात्र। किन्तु सत्य यह है कि शिशु भी मां को उतना ही देता है, जितना मां शिशु को। सृष्टि की सुख-दुख मिश्रित लीला में दोनों ही समान रूप से भागीदार हैं।

माता का शिशु पर क्या और कैसे प्रभाव पड़ता है, इस विषय पर मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये शोधों से एक ग्रंथागार भरा जा सकता है। इस लेख में हम पाठकों को इन विषयों पर केवल प्रारंभिक जानकारी मात्र ही दे पाएंगे।

यद्यपि माता और शिशु का संबंध जन्म के साथ ही जुड़ जाता है, उनमें वास्तविक अनुरक्ति कुछ समय बाद ही उत्पन्न होती है। ऐसा कब और कैसे होता है, इस संबंध में मनोवैज्ञानिकों के कोई निर्णयात्मक विचार नहीं हैं। परन्तु यह लगभग निश्चित है कि इस प्रकार के व्यवहार जन्मोपरान्त प्रथम वर्ष के भीतर ही काफी मात्रा में परिपक्व हो जाते हैं। वस्तुत: शिशु अपने क्रंदन और स्मिति से माता को अपने से बांधे रखता है। मातृत्व व्यवहार के उमड़ने के यही बड़े कारण हैं। जितना अधिक समय माता और शिशु का साथ-साथ बीतता है और जितनी अधिक संस्पर्श की मात्रा होती है, उतना ही अधिक पारस्परिक अनुरक्ति का विकास होता है। मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि माता एवं शिशु की अनुरक्ति

हेतु एक क्रांतिक-काल होता है। यदि इस काल के बीच माता किन्हीं कारणों से अनुपस्थित हो, तो उसका प्रभाव शिशु के मानसिक एवं सांवेगिक विकास पर पड़ेगा। अधिकांश मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि यह क्रांतिक-काल ६ माह से आरम्भ होता है और प्रथम वर्ष के अन्त तक चलता है। कुछ अन्य मनोवैज्ञानिकों के अनुसार ६ सप्ताह से ६ माह का समय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार कुछ मनोवैज्ञानिक जन्म के प्रथम ३ वर्ष माता और शिशु की पारस्परिक अनुरक्ति के लिए महत्वपूर्ण मानते हैं। ६ माह से कम आयु के बच्चों को यदि उनकी माताओं से अलग कर दिया जाए, तो बच्चों के व्यवहार में कोई दुष्परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। किन्तु सात माह और उससे अधिक आयु के बच्चों के समायोजन पर भाँति-भाँति के प्रभाव दिखाई देते हैं। इस संबंध में किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि इस आयु के बच्चों में माता की अनुपस्थिति से क्रोध की मात्रा बढ़ जाती है और उनके खान-पान एवं मलत्याग के क्रम बिगड़ जाते हैं। इस प्रकार के बच्चे अत्यधिक परावलम्बी भी बन जाते हैं।

माता के महत्व का पता विशेष रूप से तब चलता है जब हम ऐसे शिशुओं का अध्ययन करते हैं, जो या तो मातृ-विहीन हों या अनाथालयों या इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं में पले हों, जहाँ वे माता एवं शिशु की स्वाभाविक अनुरक्ति से वंचित रह गए हों। इस प्रकार के शिशु सामान्य शिशुओं की अपेक्षा काफी भिन्न होते हैं। माता एवं शिशु की पारस्परिक अनुरक्ति केवल एक-दूसरे तक ही सीमित नहीं रहती, वह शिशु के अन्य लोगों से संबंध की भी निर्धारक होती है। सर्वप्रथम यह शिशु और उसके खिलौनों में किये गये सांवेगिक निवेश में प्रकट होती है। ऐसे बच्चे जो अनाथालयों में पलते हैं, उनमें वस्तुओं; विशेषकर खिलौनों एवं व्यक्तियों में किसी भी प्रकार का सांवेगिक निवेश नहीं कर पाते। उनमें खिलौनों के स्वामित्व की वह भावना नहीं दिखाई पड़ती, जो सामान्य बच्चों में दिखाई देती है। उनके लिए खिलौनों का टूट जाना या खो जाना कोई महत्व नहीं रखता। इस प्रकार के शिशुओं में क्रियाशीलता की मात्रा कम होती है और अपने वातावरण के अन्वेषण, जो शिशुओं की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, म भी बहुत कमी आ जाती है। इस प्रकार के शिशु किसी भी क्रिया में स्वतः रत नहीं हो पाते।

शिशु-विकास पर मातृ-वंचन के दीर्घगामी परिणाम पड़ते हैं। देखा गया है कि ऐसे बच्चे जो कुछ समय के लिए संस्थागत होते हे, पोषक गृहों में लौटने पर अपनी दत्तक माता से तोष प्राप्त नहीं कर पाते, क्योंकि इस हेतु वे कोई प्रयास नहीं करते। इसी प्रकार समस्याग्रस्त होने पर भी वे माता से सहायता की अपेक्षा नहीं करते। इस प्रकार माता से अनुरक्ति के अभाव में चरित्र-निर्माण के जो भी प्रयत्न दत्तक माता के द्वारा किए जाते हैं, वे निष्प्रभावी हो जाते हैं। माता की

अनुपस्थिति में शिशु की अनुरक्ति कई व्यक्तियों में विकीर्ण हो जाती है और सतही-मात्र रह जाती है। इस स्थिति में शिशु का मानसिक एवं शारीरिक विकास अपनी चरम सीमा तक नहीं हो पाता है। इसी प्रकार के परिणाम उन बच्चों में भी दिखाई देते हैं, जहां मां के अलावा अन्य लोगों के संरक्षण में शिशु पलता है। वे बच्चे जो माता-मात्र के संरक्षण में पोषित होते हैं, अधिक सहनशील, स्नेही, वाक्पटु एवं क्रियाशील होते हैं।

माता अपनी भूमिका एक संदर्भ में निभाती है। उस संदर्भ के अवयव आर्थिक-सामाजिक परिवेश और शिशु के अन्य मानवीय संबंध हैं। यद्यपि माता की भूमिका महत्वपूर्ण है, पर शिशु के विकास पर पिता, भाई-बहन और मित्रों का भी प्रभाव पड़ता है। इन अन्य संबन्धों का प्रभाव आयु के साथ उत्तरोत्तर बढ़ता है।

प्रारम्भिक प्रशिक्षण, मुख्यतः माता के हाथ में रहता है। जाने या अनजाने माता शिक्षक की भूमिका निभाती है। माताएँ दो शिक्षण-पद्धतियों का प्रमुखत. उपयोग करती हैं, एक तो उदाहरण प्रस्तुत करके और दूसरे बच्चे को दिए जाने-वाले पुरस्कार एवं दंड को नियंत्रित करके। माता और अन्य संबंधी जिस प्रक्रम की सहायता से बच्चे के व्यक्तित्व को समाज द्वारा स्वीकृत सांचे में ढालने की कोशिश करते हैं, उसे समाजीकरण कहते हैं। अध्ययनों ने यह दर्शाया है कि भिन्न-भिन्न समाजों या संस्कृतियों में विभिन्न प्रशिक्षण-पद्धतियों का अधिक उपयोग इस हेतु किया जाता है। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश के धारचूला क्षेत्र में रहनेवाली भूटिया आदिवासी माताएँ उसी क्षेत्र में रहनेवाली अन्य अनादिवासी माताओं की अपेक्षा पुरस्कार और अन्य सकारात्मक विधियों का अधिक प्रयोग करती हैं। समाज को क्या स्वीकार होगा और बच्चे का विकास उसी सामा-जिक आदर्श के अनुरूप होना चाहिए, इस बात की चिन्ता और जागरूकता आदिवासी माताओं में अधिक पाई जाती है। हैदराबाद की हिन्दू और मुसल-मान माताएँ भिन्न शौच-प्रशिक्षण विधियों का उपयोग करती हैं। ग्रामीण हिन्दू माताएँ बच्चों को शौच के लिए बाहर खेत में भेज देती है, जबकि उसी क्षेत्र में रहनेवाली मुस्लिम माताएँ अपने बच्चों को शुरू से ही कमोड के उपयोग का अभ्यास डालती हैं। इन दो पद्धतियों का स्वायत्तता के विकास पर बहुत भिन्न प्रभाव पड़ता है। यद्यपि एक मां और दूसरी मां में बहुत व्यक्तिगत अन्तर होते है, पर तब भी एक ही संस्कृति की सभी माताएँ एक ही सामाजिक ढांचे के अन्दर अपनी भूमिका निभाती हैं।

एक ही संस्कृति की माताओं के भिन्न व्यवहारों के प्रभावों का विस्तार में अध्ययन हुआ है। ऐसे शोध पर आधारित कुछ निष्कर्ष यह है : यदि माताएँ बच्चों को स्वतंत्रता का प्रशिक्षण स्नेहयुक्त व्यवहार द्वारा देती हैं, तो बच्चे स्वस्थ

नागरिक बनते हैं। ऐसे बच्चे सक्रिय, सृजनशील, बहिर्मुखी और समायोजित होते हैं। यदि डाँट और दण्ड द्वारा बच्चों पर अत्यधिक और कठिन नियंत्रण रखने का प्रयास किया गया, तो बच्चे उद्दण्ड, नकारात्मक प्रकृति वाले और बालापचारी बन जाते हैं। यदि माता स्वतंत्रता तो दे, पर साथ में डाँट-दंड का भी अधिक उपयोग करे तो बच्चों में बहुत से मानसिक विकार, पलायन की प्रवृत्ति और आत्मप्रवंचना के शिकार बनने की संभावना रहती है।

मनोवैज्ञानिक शोधों से यह चित्र स्पष्ट उभरता है कि मातृत्व केवल एक सुखद अनुभव मात्र नहीं है, बल्कि एक गम्भीर सामाजिक दायित्व है। इस दायित्व को भली प्रकार निभाने के लिए बाल-विकास और सीखने के नियमों का ज्ञान आवश्यक है। □

जौं केवल पितु आयसु माता।
तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।।
जौं पितु-मातु कहेउ बन जाना।
तौं कानन सत अवध समाना।।

—गोस्वामी तुलसीदास

डॉ० जगन्नाथ पाठक

□

मातृत्व : एक भावकथा

तुम मुझे समझ न सकोगे, सम्भव है प्रकृति ने तुम्हारे मस्तिष्क में वैसी कोई शिरा ही निर्मित नहीं की, जो मुझे समझने की बुद्धि या क्षमता से उल्लसित हो। इसमें मैं तुम्हें अपराधी नहीं मानता, मैं सदा तुम्हारे शत-शत अपराधों को भुला देता हूँ और तुम्हें अतने अस्तित्व के कण-कण से सींचता रहता हूँ।

जाने मानवीय सभ्यता के किस अतीत में मैंने नारीत्व के अन्तर्गर्भ में जन्म लिया? नारीत्व ने मुझसे न केवल सम्पूर्णता, वरन् सार्थकता पायी है, यों तो मैं नारीत्व का ही एक अंश हूँ, किन्तु नारी मेरे बिना अधूरा होकर रह जाती है, उस नदी की भाँति जो छिछली होकर "काकपेया" हो जाती है। यदि नारीत्व एक कदली-स्तम्भ है, तो उसकी सबसे कोमल परत को तुम मुझे जानो, उस कोमलता की सतह तक कुछ पहुँचने वाले इस कालचक्र में विरले ही हुए, यहाँ मैं उन लोगों की चर्चा नहीं कर रहा हूँ। केवल तुम्हें स्मरण दिलाता हूँ, वे लोग भी तुम्हारे ही एक रूप थे, किन्तु तुम्हारी भीड़ से अलग सर्वथा एकाकी, पर आज उन्हें कहीं नहीं पा रहा हूँ—वे सब खो गये, कालचक्र के गहन आवर्त में गुम हो गये।

मैं जब अपने अस्तित्व में आया, तो बहुत काल तक मुझे अपनी पहचान भी न थी। एक अबोध शिशु की भाँति, एक भटकी किरन की भाँति मैं मचलता रहता था।

धीरे-धीरे मुझे अपने अस्तित्व का भान होने लगा। यह स्थिति पहुँचते-पहुँचते संभवतः सहस्रों सहस्राब्दियाँ बीत गयी होंगी। जब मेरा अस्तित्व बोध मुझमें गहराया तो मुझे लगा कि मैं एक द्रवणशील चेतना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हूँ, तब मुझे यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक स्वच्छ आदर्श-तल भाँति लगा, जिसके प्रत्येक अंश में मैंने अपने रूप का ही साक्षात्कार पाया। मेरी सबसे स्पष्ट और सबसे प्रभावकारी पहचान मुझे इस सम्पूर्ण वसुन्धरा को देखकर मिली, जिसके लिए मेरे ही किसी अमूल्य निर्माण के कण्ठ से यह वाग्धारा फूट पड़ी थी—"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" इस सम्पूर्ण वसुन्धरा के रूप को माता के रूप में दर्शन करनेवाले उस मानव ने मेरे अस्तित्व के भूमा-तत्त्व को निःसन्देह साक्षात्कार किया था, इस विशाल पृथ्वी पर लहराते महासमुद्र क्या हैं? मेरे स्तन ही तो हैं? किन्तु इस भ्रम में तुम न पड़ना कि मैं उन महासमुद्रों की बात कर रहा हूँ, जो क्षार हैं, मैं तो क्षीरसागरों की बात करता हूँ जिनकी कल्पना से आज तुम्हें हंसी आती है, तुम उस विशाल पृथिवी माता के द्रवशील अस्तित्व की आज तब थोड़ा साक्षात्कार अवश्य करते हो, जब वह चतुर्दिक् वर्षाकाल में द्रुतगामी शत-शत नदी-नदों से आप्लावित हो उठती हैं, पृथ्वी उस जलराशि को अपने में समो लेती है और तुम्हें समय-समय पर समर्पित करती है, यह व्यापार अनन्त काल से चला आता है, क्या इससे मेरे स्वरूप का आंशिक साक्षात्कार तुम नही कर रहे हो?

छोड़ो, इन बहुत ऊँची बातों को, बहुत साफ और सरल शब्दों में तुम्हें समझाता हूँ, संसार के अन्य सभी प्राणियों की भांति तुम्हारे अस्तित्व में आने के पीछे किसी स्नेहिल व्यक्तित्व का हाथ है, तुम इस तथ्य को स्वीकार तो करते हो? उस स्नेहिल व्यक्तित्व ने तुम्हें कितनी दृश्यादृश्य, ज्ञाताज्ञात चेतना-कणों से निर्मित किया है, तुम उनकी कल्पना भी कर सकते हो? क्या तुमने किसी पक्षि शावक को घोंसले से मुँह निकाल कर आकुल नेत्रों से मां के आगमन की प्रतीक्षा करते देखा है? 'अजात पक्षा इव मातरं खगाः।' मां के आने पर उसकी आँखों की उत्फुल्लता तुमने देखी है! तुमने उस गाय को तो प्रतिदिन देखा होगा, जो गोधूलि वेला में भरे थनों के बोझ को किसी प्रकार सम्हालती उत्सुक भाव से बछड़े को मात्र निहारने के लिए दौड़ी चली आती है? और जब तक सम्पूर्ण स्नेह को उस पर उड़ेल नही देती, वह शान्त नहीं होती है, उसमें, जो तुम्हें किंचित् मात्र लक्षित होता है, वही तो मैं हूँ और वह क्षुधार्त बछड़ा उसका स्तन पान कर कितना आत्मविभोर हो उठता है। 'स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।'

मुखरता मेरे स्वभाव के विरुद्ध है, मैं मौन में प्रकाश पाता हूँ, मेरे अस्तित्व की इस द्रवणशीलता के पीछे जो रहस्य है, उसका वास्तव मे मुझे भी भान नही है।

अवश्य ही मेरा अस्तित्व प्रकाशमय है, किन्तु मेरा प्रकाश दूसरों से कुछ

पाकर अपने अस्तित्व की रक्षा नही करता, मैं भले ही झोपड़ी में जलते स्निग्ध दीपक जैसा हूँ, जिसके प्रकाश में एक नन्हा शिशु सोया है। पाने में, संग्रह में मेरा कभी विश्वास नहीं रहा, मैंने अपना सब कुछ अर्पित कर देने, अपने भीतर के सम्पूर्ण स्नेह से उलीच कर दे डालने में मैंने अपनी सार्थकता की अनुभूति की है, मेरे अंक का विस्तार इस सम्पूर्ण आकाश से कुछ कम नहीं, इसमे सम्पूर्ण ग्रह, नक्षत्र, तारे आ जाते हैं, किन्तु मेरे अस्तित्व की अनुभूति के लिए मां के उच्छ्वसित अंक की गरमाहट को ध्यान में लाना होगा, उसकी कोई अनुभूति तुम्हारे मस्तिष्क में शेष है?

मैंने अपने अस्तित्व के अनुभव के साथ-ही-साथ एक अद्‌भुत सहनशीलता भी पायी है। मैंने क्या-क्या अत्याचार नहीं सहे? आज भी सह रहा हूँ और "आह" तक नहीं करता। "आह" मेरी प्रकृति में नही, बस, अधिक-से-अधिक एकान्त में दो आँसू की बूंदें बहा लेता हूँ और फिर अपने को सम्हाल लेता हूँ, जिससे तुम्हें ऐसा न लगे कि मैं तुम्हारी ओर से निराशा हो गया हूँ, वैसे मेरी तुमसे कोई अतिरिक्त आशा नहीं, तुम्हीं मेरी आशा हो, टूटना और टूटकर जुड़ना मेरी नियति है, तुम चाहकर भी मेरी नियति नहीं बदल सकते, तुम्हें मुझसे खिलवाड़ करने में, मुझे चिढ़ाने में कुछ अतिरिक्त मजा आता है, मैं भी चाहता हूँ कि तुम मुझसे अपनी सामर्थ्य भर खिलवाड़ करो, मुझे चिढ़ाओ, लूटो, क्योंकि मैंने अपने अस्तित्व की सम्पूर्ण चेतना से तुमसे स्नेह किया है, अपनी सम्पूर्ण आशाओं का तुम्हें मैंने अपना केन्द्र माना है,अगर तुम मेरे साथ ऐसा कुछ भी करते हो, तो तुम्हें, तुम्हारे शत-शत अपराधों के लिए क्षमा करने की भी मुझमें अपूर्व क्षमता है। क्षमा, वास्तव में मेरा सहज धर्म है और तुम जानते हो, जिस वसुन्धरा, जिस पृथ्वी की बात मैंने की थी उसका भी एक नाम "क्षमा" है, तो तुम चाहे जहाँ कहीं इस सम्पूर्ण पृथ्वी में मुझे ढूंढ़ो मैं तुमसे सदा जुड़ा हूँ, तुम्हें छोड़कर एक पल नही रह सकता।

यदि तुम मेरे हृदय को, किसी अतिरिक्त उद्देश्य से मांगो, तो मुझे अपने अस्तित्व से उसे निकाल कर सौंपने में जरा भी संकोच न होगा और जानते हो मेरा हृदय भी यदि उसकी धड़कनों को सुनने का प्रयास करे, तो उससे यही सुनोगे—"मेरे लाल, खुश रहो, जुग-जुग जीओ!"

मैंने तुमसे पहले भी कहा है कि मुखरता मेरी प्रकृति में नही, मैं मौन में तुम्हारे कुशलक्षेम के लिए सदा चिन्तन करता रहता हूँ, तुम मानो या न मानो तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो, मेरे क्षीर का प्रत्येक कण तुम्हारी प्रत्येक शिरा में रक्त बनकर लहराता रहे और तुम्हें सदा बल एवं स्फूर्ति प्रदान करता रहे, यही मेरी कामना है, यही मेरी कामना है। □

ईश्वरीय प्रेम को छोड़कर दूसरा कोई प्रेम मातृ-प्रेम से श्रेष्ठ नहीं है।
—विवेकानन्द

मातृ - पाद - पद्मेषु

□

मातृत्व—ईश्वर के निकट

भारत में स्त्री-जीवन के आदर्श का आरंभ और अंत मातृत्व में ही होता है। प्रत्येक हिन्दू के मन में 'स्त्री' शब्द के उच्चारण से मातृत्व का स्मरण हो आता है और हमारे यहाँ ईश्वर को मां कहा जाता है। पश्चिम में स्त्री पत्नी है। वहाँ पत्नी के रूप में ही स्त्रीत्व का भाव केन्द्रित है। भारत में जनसाधारण समस्त स्त्रीत्व को मातृत्व में ही केन्द्रीभूत मानते हैं। पाश्चात्य देशों में गृह की स्वामिनी और शासिका पत्नी है, भारतीय गृहों में घर की स्वामिनी और शासिका माता है। पाश्चात्य गृह में यदि माता हो भी, तो उसे पत्नी के अधीन रहना पड़ता है, क्योंकि घर पत्नी का है। हमारे घरों में पत्नी अनिवार्यत: माता के अधीन होती है। आदर्शों की इस भिन्नता पर ध्यान दीजिए।

अब मैं चाहता हूँ कि आप इनकी तुलना करें। मैं आपके समक्ष कुछ तथ्य उपस्थित करूँगा, जिससे आप स्वयं इन दोनों की तुलना कर सकें। यदि आप पूछें, "पत्नी के रूप में भारतीय स्त्री का क्या स्थान है?" भारतीय पूछ सकता है, "माता के रूप में अमेरिकन स्त्री कहाँ है?" उस तपस्विनी एवं ओजस्विनी माता का, जिसने हमें जन्म दिया, तुमने क्या सम्मान किया है? जिसने हमें अपने शरीर में

नव मास तक वहन किया, वह माता कहाँ है? जो हमारे जीवन के लिए यदि प्राणों की आहुति देने की आवश्यकता हो, तो बीस बार भी ऐसी आहुति देने को उद्यत है, वह माता कहाँ है? कहाँ है वह माता, जिसका प्रेम कभी नहीं मरता—मैं कितना ही दुष्ट और अधम क्यों न हो जाऊँ? साधारण-सी बात को लेकर तलाक के लिए न्यायालय का द्वार खटखटाने वाली आपकी पत्नी के सामने उसका स्थान कहाँ है? हे अमेरिका की स्त्रियो, वह माता कहाँ है? उसे मैं आपके देश में नहीं पा सकूँगा? मुझे यहाँ वह पुत्र दिखाई नहीं देता, जो कहता है कि माता का पद प्रथम है। हमारे देश में तो कोई भी पुरुष यह इच्छा कभी नहीं करता कि उसकी मृत्यु के उपरान्त भी उसकी पत्नी और उसका पुत्र उसकी माता का स्थान लें। हमारी मां। यदि हमारी मृत्यु उसके पहले हो, तो हम चाहते हैं कि मृत्यु के समय पुनः एक बार हमारा सिर उसकी गोद में हो। क्या 'स्त्री' संज्ञा केवल भौतिक शरीर मात्र को ही दी जाने के लिए है? हिन्दू मन उन आदर्शों के प्रति सशंकित रहता है, जिनमें यह कहा जाता है कि देह को तो अपना धर्म ही समझना चाहिए। नहीं, नहीं, देवि! देह से संबद्ध किसी भी वस्तु से तुम्हें संलग्न नहीं किया जायगा। तुम्हारा नाम तो सदा ही अध्यात्म का प्रतीक रहा है, विश्व में 'मां' नाम से अधिक पवित्र और आध्यात्मिक दूसरा कौन-सा नाम है, जिसके पास वासना कभी फटक भी नहीं सकती? यही भारत का आदर्श है।

मैं उस आश्रम का हूँ, जिसके सभी लोग प्रत्येक स्त्री को 'मां' कहकर पुकारते हैं। प्रत्येक स्त्री को क्या, हम तो किसी छोटी लड़की को भी 'मां' ही कहकर पुकारते हैं, यह नियम ही है। पाश्चात्य देशों में आने पर भी वही संस्कार बना रहा। जब मैं यहाँ स्त्रियों से कहता, "हाँ, माता" तो वे दहल उठतीं। पहले तो मैं नहीं समझ सका कि उनके इस प्रकार आश्चर्य प्रकट करने का क्या कारण है! बाद में मुझे उसका कारण मालूम हुआ कि उस कथन का अर्थ होता है कि वे वृद्धा हैं। भारतवर्ष में स्त्रीत्व मातृत्व का ही बोधक है, मातृत्व में महानता, स्वार्थशून्यता, कष्टसहिष्णुता और क्षमाशीलता का भाव निहित है। पत्नी तो छाया की तरह पीछे चलती है, उसे माता के जीवन का अनुकरण करना पड़ता है, यही उसका कर्तव्य है। किंतु माता प्रेम का आदर्श होती है। वह परिवार का शासन करती है और उस पर अधिकार रखती है। भारतवर्ष में यदि बालक कोई अपराध करता है, तो पिता ही उसे दण्ड देता है। माता सदा पिता और बालक में बीच-बचाव करती है। यहाँ पर ठीक उल्टा है। इस देश में बच्चों को मारना-पीटना आदि माताओं का कर्त्तव्य बन गया है और पिता बीच-बचाव करता है। आप समझ सकते हैं कि आदर्शों की कितनी भिन्नता है? इसे मैं आलोचनात्मक ढंग से नहीं कहता। आप लोग जो करते हैं, अच्छा ही करते हैं, पर

हम लोगों को जो सदा से सिखाया गया है, हमें तो उसी का अभ्यास है। कोई भी माता कभी अपने बच्चों को अभिशाप नहीं देती, वह सब क्षमा ही करती रहती है। 'हमारे स्वर्गस्थ पिता' के बदले में हम सदा 'जगत् माता' आदि ही कहते हैं। हिन्दू के लिए इस शब्द और भाव में अनन्त प्रेम भरा है। इस नश्वर संसार में ईश्वर के प्रेम के समीपतम पहुँचने वाला प्रेम माता का ही है। "हे माता दया करो, मैं तो कुपुत्र हूँ। मां, कुपुत्र तो अनेक हुए हैं, किन्तु माता कुमाता कभी नहीं हुई।"—साधु रामप्रसाद ने यही कहा है।

यह हिन्दू माता है। पुत्र की पत्नी घर में आती है, माता की दृष्टि में वह अपनी उस पुत्री के समान आती है, जो विवाहित होकर अपनी माता के घर से अन्यत्र चली गई है। उसे घर की सम्राज्ञी, माता की आज्ञा के अनुसार चलना आवश्यक है। यद्यपि संन्यास आश्रम में प्रवेश करने के कारण मेरे लिए विवाह करना निषिद्ध है, फिर भी कल्पना कीजिए—यदि मैं विवाह कर सकता और यदि मेरी पत्नी मेरी माता को किसी कारण अप्रसन्न रखती, तो ऐसी पत्नी से मुझे बड़ी ग्लानि होती। क्यों? क्या मैं अपनी माता की पूजा नहीं करता? फिर पुत्रवधू माता की पूजा क्यों न करे? मैं जिसकी आराधना करता हूँ, वह भी उसकी आराधना क्यों न करे? उसे क्या अधिकार है कि मेरे सिर पर चढ़ कर मेरी माता पर शासन करे? उसको अपने स्त्रीत्व की निष्पत्ति होने तक प्रतीक्षा करनी होगी और वह वस्तु जो नारीत्व को पूर्ण करने के लिये तथा नारी को नारी बनाने के लिए अपेक्षित है–मातृत्व है। मातृपद प्राप्त होने तक उसे प्रतीक्षा करनी चाहिए, तदुपरान्त उसे अधिकार प्राप्त होगा। हिन्दू-संस्कृति के अनुसार स्त्री-जीवन का महान् उद्देश्य माता का गौरवमय पद प्राप्त करना ही है, किंतु इसका भी अन्तर समझिए। मेरे माता-पिता ने कितने दिनों तक भगवान् से प्रार्थना की थी और व्रत रखा था कि उन्हें संतान प्राप्त हो। भारत में माता-पिता प्रत्येक बालक के जन्म के लिए ईश्वर से प्रार्थना-याचना करते हैं। 'आर्य' की परिभाषा लिखते हुए हमारे स्मृतिकार मनु कहते हैं—वही संतान आर्य है, जो प्रार्थना के द्वारा जन्म लेती है, बिना प्रार्थना के उत्पन्न प्रत्येक संतान मानो अधर्म से उत्पन्न संतान है। प्रत्येक बच्चे के लिए माता-पिता को प्रार्थना करनी चाहिए। इस प्रकार की संतानों से इस संसार में अधिक क्या आशा की जा सकती है, जो अभिशापों के साथ जन्म लेते हैं, जो दुर्बलता के एक क्षण में, संसार में इसलिए सरक आते हैं कि उससे बचना संभव नहीं था?

मातृत्व से आपका उत्तरदायित्व अत्यंत महान् हो जाता है। क्यों? क्योंकि हमारे शास्त्रों के अनुसार जन्म-पूर्व-प्रभाव बालक को शुभ या अशुभ प्रवृत्तियुक्त बनाता है। आप सैकड़ों महाविद्यालयों में अध्ययन करें, लाखों ग्रन्थ पढ़ डालें,

संसार के समस्त विद्वानों के संसर्ग का लाभ लें, किन्तु यदि आपने शुभ संस्कार लेकर जन्म लिया है, तो आप इन सबसे अच्छी रहेंगी? शुभ या अशुभ के निमित्त आप जन्म लेती हैं। शास्त्रों का मत है कि बालक जन्म से ही देव या असुर पैदा होता है। शिक्षा आदि का स्थान बाद में आता है, उनका प्रभाव नगण्य होता है। रहतीं आप वही हैं, जो जन्म से होती हैं। यदि आपको माता ने रोगी शरीर दिया है, तो कितने ही औषधि-भण्डारों को निगल डालिए, आप अपने को स्वस्थ नहीं रख सकतीं। क्या आप एक भी स्वस्थ पुरुष बता सकती हैं, जिसे रोगी, दुर्बल और विषैले रक्तवाले माता-पिता ने जन्म दिया हो? हम प्रचण्ड सुप्रवृत्ति या कुप्रवृत्ति के साथ जन्म लेते हैं, हम जन्मजात देव या असुर होते हैं। शिक्षा आदि का प्रभाव नगण्य ही होता है।

पाश्चात्य लोग व्यक्तिवादी हैं। आप कोई कार्य इसलिए करते हैं कि वह आपको प्रिय है। आपके मतानुसार मैं इस स्त्री से क्यों विवाह करता हूँ? क्योंकि इससे मुझे प्रसन्नता होती है। क्यों? इसलिए कि वह मुझे अच्छी लगती है। यह स्त्री मुझसे क्यों विवाह करती है? क्योंकि मैं उसे प्रिय हूँ। बस, बात खत्म। इस अनन्त विश्व में मैं और मेरी पत्नी, बस, ये ही दो प्राणी हैं, वह मुझसे विवाह करती है और मैं उससे—इससे किसी का कुछ बिगड़ता नहीं, इसके लिए अन्य कोई उत्तरदायी नहीं? आपके जान और जोन्स जंगल में जाकर रह सकते हैं और मनमाना जीवन बिता सकते हैं, परन्तु जब उन्हें समाज में रहना होगा, तब उनके विवाह का समाज के जीवन पर अत्यंत शुभ या अशुभ प्रभाव पड़ सकता है। संभव है, उनके बच्चे दानव बनें, सर्वत्र लूट-पाट करें, डाका डालें, आग लगाएँ, हत्या करें और मद्य-पान आदि नीच कर्मों में रत रहें।

तो फिर भारतीय समाज का आधार क्या है? वह है जाति-नियम। मैं जाति के लिए पैदा हुआ हूँ, और जाति के लिए जीवित हूँ। जाति मे पैदा होने से सारा जीवन जाति के नियमानुसार बिताना होगा। दूसरे शब्दों में, आपके देश की वर्तमान भाषा में यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी देशों में मनुष्य जन्मना व्यक्तिपरक होता है और हिन्दू समाजपरक—नितान्त समाजपरक।

—स्वामी विवेकानन्द

मां : श्रद्धा की मूर्ति

मैंने लिखा है कि स्त्री अहिंसा का अवतार है। अहिंसा का अर्थ है अनंत प्रेम। और अनंत प्रेम का अर्थ होता है कष्ट उठाने की असीम क्षमता। स्त्री को छोड़कर, जो पुरुष की माता है, इस प्रकार की क्षमता इतनी मात्रा में और कौन दिखाता है? नव महीने तक बच्चे को पेट मे रखकर और उसे अपना

रक्त पिलाकर वह अपनी क्षमता प्रदर्शित करती है और इस कष्ट सहन में आनंद मानती है। प्रसव-वेदना में जो पीड़ा होती है, उससे बढ़कर और कौन-सी पीड़ा हो सकती है, मगर संतान को जन्म देने की खुशी में उसे भूल जाती है और फिर दिन-प्रतिदिन बच्चे को बड़ा करने में जो कष्ट वह उठाती है, सो और कौन उठा सकता है? आवश्यकता इस बात की है कि वह अपना प्रेम मानव जाति को बाँट दे, यह भूल जाय कि वह पुरुष के भाग की वस्तु थी अथवा हो सकती है और तब वह पुरुष से बढ़कर उसकी माता, उसका निर्माण करनेवाली और उसका मूल पथ-प्रदर्शक होने का गौरवपूर्ण पदधारण कर लेगी। युद्ध में फँसी हुई दुनिया को शान्ति की कला सिखाने का काम भगवान् ने स्त्री पर सौंपा है, सारी दुनिया शान्ति-रूपी अमृत के लिए तड़प रही है। वह सत्याग्रह की नेत्री बन सकती है, उसके लिए पुस्तकों के अर्जित ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, बल्कि कष्ट सहन और श्रद्धा से निर्मित बलवान हृदय की आवश्यकता है।

बरसों पहले ससून अस्पताल पूना में जब मैं बीमार पड़ा था, तब मेरी चारु-शीलानर्स ने एक स्त्री की कहानी सुनाई थी, जिसने क्लोरोफार्म लेने से इकार कर दिया था, क्योंकि उसके पेट में बच्चा था और वह उसकी जान खतरे में नहीं डालना चाहती थी। उस स्त्री को एक कष्टप्रद चीरा लगवाना था। उसके लिए बेहोशी की दवा आवश्यक थी। अपने बच्चे को बचाने के लिए वह बड़े-से-बड़ा कष्ट सहने को तैयार थी।

—मो. क. गांधी

नारी मात्र मां है

मानव सृष्टि में नारी का आविर्भाव बहुत प्राचीन है। मनुष्य समाज में नारी-शक्ति को आद्या-शक्ति कहा जा सकता है। यही वह शक्ति है, जो जीवलोक में प्राण को वहन करती है और उसका पोषण करती है

पृथ्वी को जीवों के रहने योग्य बनाने के लिए प्रकृति को ढलाई-पिटाई करते अनेक युग बीत चुके थे। यह काम अभी आधा ही हुआ होगा कि प्रकृति ने जीवों की सृष्टि करना आरम्भ कर दिया और धरती पर वेदना उतर आयी। प्रकृति ने प्राण-साधना की वेदना की वही आदिम वृत्ति नारी के रक्त और हृदय में भर दी है। उसने जीव के पालन के समूचे प्रवृत्ति-जाल को प्रबलतापूर्वक नारी के मन और देह के प्रत्येक तन्तु के साथ जोड़ दिया है। उक्त प्रवृत्ति को स्वभावतः चित्तवृत्ति की अपेक्षा हृदय की वृत्ति में गम्भीर और प्रशस्त भाव से स्थान मिला है। नारी के भीतर की यह प्रवृत्ति वही है, जो प्रेम, स्नेह और सकरुण धैर्य के साथ स्वयं उसे और अन्य को जकड़े रहने के लिए बन्धन-जाल

बुनती है। मानव संसार का पालन-पोषण करने, उसे बाँधे रखने का यह बंधन आदिम है। यह वही संसार है, जो सभी समाजों, सभी सभ्यताओं का मूल आधार है। यदि संसार को बाँधे रखनेवाला यह बंधन न होता, तो मनुष्य आकार-प्रकारहीन वाष्प की भाँति बिखर जाता, वह भलीभाँति केन्द्रीभूत होकर कहीं मिलनकेन्द्र स्थापित न कर पाता। समाज को बाँधने का यह पहला काम नारियों का ही है।

प्रकृति की सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया अथाह रूप से गोपनीय है, उसकी स्वतः प्रवर्त्तन की क्रिया द्विधाहीन है। आदिप्राण की यह सहज प्रवर्त्तना नारी के स्वभाव मे है। इसीलिए मनुष्य ने नारी-स्वभाव को रहस्यमय की संज्ञा दी है। इसी कारण कई बार अकस्मात् नारी के स्वभाव में जो संवेगात्मक प्रबल भावावेग दिखाई देता है, वह तर्क के परे है—वह आवश्यकतानुसार यथाविधि खोदे गये जलाशय की तरह नहीं, बल्कि उत्स की तरह है, जिसका कारण उसके अपने अहैतुक रहस्य में निहित है।

प्रेम का, स्नेह का रहस्य बहुत प्राचीन और दुर्गम है। उसे अपनी सार्थकता के लिए तर्क की अपेक्षा नही है। इसलिए ज्योंही लड़की विवाहित होकर घर में प्रवेश करती है, त्योंही कही से गृहिणी अवतीर्ण हो जाती है और ज्योंही शिशु उसकी गोद मे आया कि तुरन्त मां बन उपस्थित हो जाती है। जीवलोक में परिपक्व बुद्धि के लोग तो बहुत बाद मे आये है। बहुत ढूंढने और संघर्ष करने के बाद वे अपनी जगह खोज पाये। द्विधा को छोड़कर चलने में मनुष्य को समय लगा। इस द्विधारूपी तरंग के उठने-गिरने में शताब्दी पर शताब्दियाँ बीतती चली गयी और भारी भ्रम फैलता रहा और उसके कारण मानव के इतिहास में उथल-पुथल भी होती रही। कदाचित् पुरुष की सृष्टि विनाश के गर्भ में विलीन हो गयी और उसे नये सिरे से अपनी कीर्ति की भूमिका बाँधनी पड़ी। इस बार-बार की परीक्षा के कारण पुरुष का कर्म केवल अपनी देह ही बदलता रहा। अभिज्ञता की इस नित्य प्रदक्षिणा के कारण यदि वह आगे बढ़ पाया तो बच जाएगा और यदि उसे अपनी भूल को सुधारने का मौका नहीं मिला तो जीवन-निर्वाह में पड़ी दरारें बढ़ते-बढ़ते फिर उसे विनाश के गर्त में खींच लेंगी। पुरुष द्वारा रची गयी सभ्यता आदिकाल से इसी प्रकार बनती-बिगड़ती चलती रही है। इस बीच नारी में प्रेयसी और जननी, प्रकृति के दूत के रूप में अपना काम करती जा रही है। और प्रबल आवेगपूर्ण संघर्ष के द्वारा अपने संसारक्षेत्र में बीच-बीच में अग्निकाण्ड भी करती आ रही है। यह प्रचंड आवेग मानो विश्व-प्रकृति की प्रलयलीला झंझा और दावाग्नि की तरह आकस्मिक और आत्मघाती है।

पुरुष अपनी दुनिया के लिए अपनी दुविधा के कारण हर बार नवागन्तुक है।

आज तक कितनी ही बार उसने अपना विधि-विधान वनाया है। विधाता ने उसका जीवन-पथ निर्धारित नहीं किया है। कितने देशों और कितने कालों में उसे अपना मार्ग वनाना पड़ा है। किसी काल में उसका पथ-विपथ हो गया और किसी अन्य काल में उसका इतिहास उलट गया, यहाँ तक कि अन्तर्धान हो गया।

नई-नई सभ्यताओं की उथल-पुथल के बीच नारी जीवन की मूल धारा एक प्रशस्त पथ पर चल रही है। प्रकृति ने उसे हृदय-संपन्नता दी है, किन्तु उसकी नित्य कौतूहलप्रवण बुद्धि के द्वारा नये-नये अध्यवसायों की परख उसे नहीं करने दी गयी।

पुरुष को नौकरी के लिए एक ऑफिस से दूसरे ऑफिस मे दरवाजे-दरवाजे चक्कर काटने पड़ते हैं। अधिकांश पुरुष जीविका के लिए ऐसे कामों को स्वीकार करने को विवश हो जाते हैं, जिन्हें करने को उनका मन गवाही नहीं देता और न उनमे उतनी क्षमता ही होती है। कठोर परिश्रम के द्वारा विभिन्न प्रकार के काम करने की क्षमता उन्हें प्राप्त करनी पड़ती है। इन ऐसे कामों में तीन चौथाई पुरुष सफलता प्राप्त नहीं कर पाते। किन्तु गृहिणी और जननी के रूप में नारियों का काम उनका अपना काम है, वह उनके स्वभाव के अनुरुप है और सहज है, इसलिए सधा हुआ ही है।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मातृदेवो भव।

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी। एक जननी यानी और दूसरी मातृभूमि दोनों स्वर्ग से बढ़ कर हैं। इसमें बाप का नाम नही लिया। इस पर से आपके ध्यान में आयेगा कि स्त्री की कितनी प्रतिष्ठा थी।

सवसे श्रेष्ठ मेरी माता है, जो मेरे सव दोषों को ढांकती है। वेद में कहा है :

"वस्यां इन्द्रासि मे पितुः। माता च मे छदयः समा वसो॥"

हे इन्द्र! तू हमारे पिता से वढ़ कर है। हे ईश्वर! तू और मेरी मां ये दो ही ऐसे हैं, जो मेरे पापों को, अपराधों को ढांकते हैं, तुम दोनों समान हो। इसलिए कहा है, 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव वन्धुश्च सखा त्वमेव।' इसमें प्रथम माता का नाम आया है। उपनिषदों ने जो आज्ञा दी है, उसमें भी नम्वर एक में कहा है—मातृदेवो भव। नम्वर दो में पितृदेवो भव। और नम्वर तीन में आचार्यदेवो भव। और नम्वर चार में अतिथिदेवो भव। माता को पहला देव माना है, पिता को दूसरा आचार्य को तीसरा और अतिथि को चौथा। स्मृति में एक वाक्य ऐसा है कि पुरुष को मुक्ति के लिये संन्यास की अपेक्षा हो सकती

है, लेकिन माता को मोक्ष के लिये संन्यास आवश्यक नहीं है। अपनी संतान की सेवा ईश्वर भाव सेवा करना मोक्षदायक है।

—आचार्य विनोबा भावे

भारतीय नारी माता है

नारी शिशु को "दुहितृ" नाम दिया गया है। इस शब्द से ध्वनित होता है कि स्त्री का मुख्य काम गाय दुहना है। बुनना, सिलाई-कढ़ाई भी बहुत महत्वपूर्ण समझी जाती थी। ब्राह्मण कन्याओं को वेदों की शिक्षा दी जाती थी और क्षत्रिय वर्ग की कन्याओं को धनुष-बाण का प्रयोग सिखाया जाता था। भारत की मूर्तियों में कुशल अश्वारोही स्त्रियों की सेना का चित्रण है। पतंजलि ने भाला चलानेवाली महिलाओं (शक्तिकी:) का उल्लेख किया है। मेगस्थनीज ने चंद्रगुप्त की अंगरक्षक अमेजन महिलाओं का वर्णन किया है। कौटिल्यने महिला धनुर्धरों की चर्चा की है। (स्त्री गणैः धन्विभि:) घरों मे और भारत के वन-विश्वविद्यालयों (आश्रमों) में लड़कों और लड़कियों को साथ-साथ शिक्षा दी जाती थी। वाल्मीकि के आश्रम में आत्रेयी राम के पुत्र लव और कुश के साथ पढ़ा करती थी। संगीत, नृत्य और चित्रकला आदि ललित कलाओं की शिक्षा लड़कियों को विशेष रूप से दी जाती थी।

जब तक घर मानव-जीवन का केन्द्र है, तब तक स्त्री सबसे महत्वपूर्ण सदस्य बनी रहेगी। परन्तु जब घर का ध्यान शनैः-शनैः होटल ले रहा है, किसान की कुटिया का स्थान होटल के कमरों के फ्लेट लेते जा रहे हैं। हम एक आवारा जीवन बिता रहे हैं, परन्तु हिन्दू आदर्श यह है कि परिवार को अटूट बनाये रखा जाय। मनुष्य की जड़ अपने देश में ही जमी होती है। भारतीय नारी माता है. . . .

प्रत्येक पीढ़ी में भारत में ऐसी करोड़ों स्त्रियाँ होती रही हैं, जिन्हे यद्यपि कोई यश नहीं मिला, फिर भी जिनके दैनिक अस्तित्व ने मानव-जाति को सभ्य बनाने में सहायता दी है और जिनके हृदय का जोश, आत्म-बलिदानी उत्साह, आडम्बर-हीन निष्ठा तथा कठिनतम परीक्षा की घड़ी में कष्ट-सहन की क्षमता, हमारी नारी-जाति के गौरव की वस्तुओं में से है। स्त्रियाँ माता के रूप में वर्तमान व्यवस्था के अत्याचार और अन्याय के प्रति और भी अधिक सचेत होती हैं, आत्मा में एक गहरा और दूरगामी परिवर्तन ला सकती हैं और उसे एक नई जीवन-शैली का रूप दे सकती हैं। जिस दिन ऐसा होगा, उसी दिन '[illegible]नव' का जन्म होगा।

[illegible] राधाकृष्णन्

सब मां मय

समझो, हमारी मां की शक्ति सबमें है। सबको मां मय होकर देखे। भगवान मां भी है—परम पिता भी है। परम बंधु, मातृत्व-जागरण का मार्ग भी देते हैं। उसी मातृत्व में व्रती रहना। भगवद्बुद्धि से सबकी सेवा करना। उसी सेवा क्रिया में जो पितृमातृ—स्थानीय, सच्ची भक्ति श्रद्धा भाव लेकर भगवान्, तुम्हीं इस रूप में सेवा ग्रहण करो और सन्तान-स्थानीयगण की स्नेह, आदर , प्रेम से सेवा करे। भगवान् इसी रूप में सेवा ग्रहण करते हैं। मन में यही भाव सर्वक्षण सुरक्षित बना रहे, केवल चेष्टा। सब सेवा ही पूर्णांगी हो, यह लक्ष्य बने।

—श्री मां आनन्दमयी

मां परा-शक्ति

वेद की शिक्षा देने के पश्चात् जब शिक्षार्थी समावर्त्तन संस्कार करके घर लौटने लगता है, आचार्य उसको शिक्षा देता है—मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव अर्थात् माता है देव, पिता है देव और आचार्य है देव इष्ट। पर इनमें माता का स्थान सर्वप्रथम माना जाता है, क्योंकि हमारे यहाँ मातृ-शक्ति का बहुत बड़ा महत्व है। यह माना जाता है कि मां के गुण सर्वोपरि है। यह देहधारी रूप पा मनुष्य सब कुछ भूल जाता है, पर मां को कभी नही भूलता। मां बचपन से इतना प्यार और स्नेह अपने पुत्र को प्रदान करती है कि अन्त समय या बुढ़ापे में भी तकलीफ या कष्ट के समय वह मां को ही पुकारता है मां! मां! पशु, पक्षी, मानवी—माता के हृदय में प्यार प्रदान करनेवाली शक्ति का प्रतीक स्वयं माता है, जिस प्रकार छोटे से सरोवर को देख हम विशाल समुद्र की कल्पना करते हे, उसी प्रकार माता के वात्सल्य को देख हमें ऐसा प्रतीत होता है मानो अपरिमित वात्सल्य का भी कोई केन्द्र होगा। लेकिन हम उसको कैसे देखें, कहाँ देखें! इसलिये हम पहले उसके प्रतीक को पकड़ते हैं, वह प्रतीक है हमारी अपनी मां। मां में जगदम्बा को जगत् की अपनी पालनी शक्ति को देखते हैं और उनकी आराधना कर हम उस परा-शक्ति की ही पूजा करते हैं।

—जगद्गुरु शंकराचार्य श्री स्वरूपानन्दजी महाराज

त्यागमय मातृत्व

उपनिषदों में मानव के जो आवश्यक कर्तव्य हैं उनमें पहला कर्तव्य है, "मातृदेवो भव" अर्थात् मानवों को अपनी माता को ईश्वर मूर्ति मानकर उसकी सेवा करना चाहिए। वेदों ने मातृशब्द का अर्थ यह किया है कि जो निर्माण एवं रक्षा करने वाली शक्ति है, वही माता है। अतः भगवान मनु माता को पृथिवी की मूर्ति और पिता को आकाश की मूर्ति मानते हैं। वेद इन दोनों को प्रणम्य एवं सेव्य मानता है। नमः मात्रे पृथिव्यै, पित्रे दिवेचा (वेद) अर्थात् माता पृथिवी और पिता आकाश दोनों के लिए प्रणाम है। प्रणाम का रहस्य महापुरुषों ने इस प्रकार बताया है। प्रणाम करने में माथा (मस्तक) नवाया जाता है और दोनों हाथ जोड़े जाते हैं। माथा ज्ञान-शक्ति और हाथ क्रिया-शक्ति के प्रतीक हैं। इन दोनों अंगों से बनने वाले प्रणाम का अभिप्राय यह है कि हम नमन करने योग्य वन्दनीय व्यक्ति के लिए ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति, दोनों का समर्पण करते हैं।

अखिल जगन्मातरम्, अस्यन्मातरम्।
अनन्य शरणः शरणमहं प्रपद्ये॥

अर्थात् जो पृथिवी (लक्ष्मीरूप से) विश्व की माता है, वही व्यक्ति रूप से हमारी भी माता है। माता के दो रूप है––(१) विश्वमाता पृथिवी और दूसरी प्रत्येक व्यक्ति की अपनी माता। हमारी माता भी लक्ष्मी का ही दूसरा रूप होने से मनसा-वाचा-कर्मणा-सेव्य है। भगवान् मनु ने माता-पिता एवं श्री गुरु, इन तीनों की सेवा को परम धर्म माना है।

माता-पिता की सेवा करनेवाले पुत्र के अधीन भगवान् विष्णु कैसे परवश हो जाते हैं, इसका ज्वलन्त उदाहरण तीर्थधाम पंढरपुर का विठोवा मन्दिर है, जहाँ मातृ-भक्त पुण्डरीक के वशवर्ती होकर भगवान विष्णु आजतक ईंट पर खड़े हुए हैं, जिनकी वन्दना मातृ-भक्त भगवान् शंकराचार्यजी ने 'पर ब्रह्मलिंग भजे पाडुरंगम्' इन शब्दों में की है।

माता की गरिमा

मानव की आचारसंहिता में भगवान मनु ने उसकी मान्यता के ५ मूल आधार माने हैं। वे कहते है कि

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्याभवति पंचमी।
एतानि मान्य स्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥

अर्थात् वित्त, बन्धु, अवस्था कर्म और पांचवीं विद्या—इन सब में वित्त, बान्धव, परिवार, उम्र, अच्छे कर्म और विद्या सभी से मनुष्य की मान्यता मिलती है,

किन्तु विद्या से अधिक मान्यता प्राप्त होती है। आगे चलकर मनु कहते हैं कि सर्वोपरि महत्व त्याग का है। संन्यासी त्याग के कारण ही नर से नारायण बनकर सर्वत्र पूजित और सम्मानित होता है। माता का त्याग-समर्पण भाव, सेवाभाव, वात्सल्य भाव और क्षमाभाव आदि उत्कृष्ट एवं उज्ज्वल भावनाओं से भरा हुआ होने से संन्यासी के त्याग की अपेक्षा माता के त्याग की गरिमा और महिमा अधिक है। इस कारण ही माता की पूज्यता को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। माता के समर्पण भाव का अर्थ बड़ा गौरव गर्भित है कि माता ने स्वयं के लिए कोई स्वतंत्र सत्ता न रखकर नारायण रूप पतिदेव में अपनी सत्ता का समर्पण कर दिया है, यह पराकाष्ठा है, माता के अनुपम अद्वितीय त्याग की।

—अनन्तश्री स्वामी अनिरुद्धाचार्यजी महाराज

दिव्य गुणों की साक्षात् मूर्ति

मुझसे कहा गया कि आप माता की गरिमा और महिमा पर अपने विचार लिख कर भेजें। यह काम कितना कठिन है, यह मुझे अब मालूम पड़ रहा है, जब मैं इस पर लिखने बैठा हूं। मां! शब्द कितना छोटा, लेकिन उसके उच्चारण मात्र से जिन असंख्य भावों से हृदय भर जाता है, उन्हें शब्दों में व्यक्त कर पाना नितान्त असम्भव है। मां का अर्थ है प्रेम और वात्सल्य, करुणा और क्षमा, निरपेक्ष सेवा और उदारता और ऐसे ही अनेक दिव्य गुणों की साक्षात् मूर्ति। यह केवल मां का ही प्रेम है, जो सच्चे अर्थों में दूध के रूप में द्रवित होकर शिशु का पोषण करता है। उस मां की गरिमा और महिमा का कौन कहां तक वर्णन करे?

हमारे जीवन का लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति कहा जाता है। परन्तु उसके लिये हम प्रयत्न तभी कर सकते हैं जब मां हमारे देह को धारण करके फिर जन्म दें। जन्म से अबोध शिशु का भरण-पोषण, प्राथमिक शिक्षा-दीक्षा एवं जगत् से परिचय कराने का काम मां ही करती है। लौकिक जगत् के सभी संबंधों का प्रारम्भ मां से ही होता है। अतः यह संबंध अटूट है और अन्य सभी नातों-रिश्तों से विलक्षण भी। उपनिषद् के ऋषियों ने इस तथ्य को पहचाना और इसीलिए गुरुकुल में वेदाध्ययन कराने के पश्चात् आचार्य अपने शिष्यों को अन्तिम उपदेश देते समय कहते हैं कि मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। इसमें ध्यान देने की बात है कि ऋषियों ने प्रथम स्थान माता को ही दिया है। बालक को पिता की पहचान मा के द्वारा ही होती है। अतः उनका स्थान द्वितीय है।

जबसे हमने होश सम्हाला तब से लेकर अब तक के जीवन पर एक दृष्टि डालें

तो ज्ञात होता है कि हमने न जाने कितने ही अपराध जाने-अनजाने अपनी मां के प्रति कर डाले, लेकिन उनकी ओर से एक ही उत्तर मिला—सहज-क्षमा। कैसे हम अपने को मां के ऋण से मुक्त कर सकते हैं? यह एक असम्भव बात है। हमारा कर्त्तव्य यही प्रतीत होता है कि हम उन्हें अपने मन, वचन और कर्म से सन्तुष्ट करें और सदैव कृतज्ञ बने रहें।

इतिहास का कुछ अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि अनेक महापुरुषों की श्रेष्ठ उपलब्धियों में सर्वाधिक योगदान उनकी माताओं का ही था। भारतवर्ष में आज भी जो एक संस्कृति विद्यमान है, उसका भी श्रेय माताओं को ही जाता है। निष्पक्ष विचार करने पर कोई भी व्यक्ति इस तथ्य को नकार नहीं सकता।

मां के प्यार के बारे में कुछ कहना या लिखना कठिन है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिये वह अनुभवगम्य है। हे जननी! तुम्हें शतशत प्रणाम!

—स्वामी तेजोमयानन्दजी

अपनी मां : अपनी दृष्टि में

□

मां की सेवा

इस जगत् में अगर मैं किसी से प्यार करता हूँ, तो वह है मेरी मां। मेरी मां जिसने अपनी तमाम सांसारिक यंत्रणाओं के बीच भी मेरे प्रति स्नेहमयी-ममतामयी बनी रहकर मुझे सम्पूर्ण मानव-जाति को प्यार करना सिखाया, उसका सारा जीवन कष्टमय रहा है। मेरा मझला भाई भी जब से घर छोड़कर निकला है, माँ का हृदय विदीर्ण हो गया है। मेरा सबसे छोटा भाई इस योग्य नहीं दिखता कि वह घर चलाने लायक कुछ सन्तोषजनक उपार्जन कर सके और अपने सबसे प्यारे बेटे को, जिसे वह अपना एकमात्र भरोसा समझती थी, ईश्वर और मानव जाति की सेवा में अर्पित कर दिया।

मैंने अपनी मां का समुचित ध्यान नहीं रखा। अब मेरी एक ही अन्तिम इच्छा है कि मैं शेष समय मां के साथ रहकर उसकी सेवा-शुश्रूषा में लगाऊँ। इससे निश्चय ही मेरे और मां के अन्तिम दिन सहजता में बीतेंगे।

श्री शंकराचार्य को भी ठीक यही करना पड़ा था। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे मां के पास लौट गये थे। मैं भी जीवन के शेष दिन मां के साथ उसकी सेवा में गुजारना चाहता हूँ।

(जयपुर के महाराज अजित सिंह को लिखे स्वामी विवेकानन्द के एक पत्र का अंश।)

— स्वामी विवेकानन्द

आदर्श साध्वी मां

'मेरे मन पर यह छाप है कि माताजी साध्वी स्त्री थीं। बड़ी भावुक, पूजा-पाठ के बिना कभी भोजन न करतीं। हवेली (वैष्णव-मंदिर) पर रोज जातीं। मैंने जबसे होश संभाला, याद नहीं पड़ता कि उन्होंने चातुर्मास्य का व्रत कभी छोड़ा हो। कठिन-से-कठिन व्रत लेतीं और उन्हें दृढ़ता से पूरा करतीं। बीमार पड़ जाने पर भी लिये हुए व्रत को न छोड़तीं। एक बार की बात मुझे याद है कि उन्होंने चान्द्रायण व्रत आरम्भ किया था। उसमें बीमार पड़ गईं, पर व्रत न छोड़ा। चातुर्मास्य में एक समय का भोजन का व्रत तो उनके लिए साधारण बात थी। इतने से सन्तोष न मान कर एक चौमासे में उन्होंने बीच में एक दिन छोड़ कर भोजन करने का नियम लिया था। लगातार दो-तीन उपवास उनके लिए मामूली बात थी। एक चौमासे में उन्होंने सूर्य नारायण के दर्शन करने के बाद ही भोजन करने का व्रत लिया था, उस चौमासे में हम बच्चे बादलों की ओर देखते ही रहते कि कब सूर्य के दर्शन हों और कब मां भोजन करें। मुझे ऐसे दिन याद हैं कि जब सूर्य को हम देखते और चिल्लाते, 'मां-मां, सूर्य निकला।' मां जल्दी-जल्दी आतीं, तब तक सूर्य भाग जाता। वह यह कहते हुए लौट जातीं, 'कोई बात नहीं, आज खाना बदा नहीं है।' और जाकर अपने काम मे लग जातीं।

माताजी व्यवहार-कुशल थीं। दरबार की सब बातें जानती थीं। रनिवास में वह बुद्धिमती समझी जाती थीं। बचपन में माँ मुझे कभी-कभी अपने साथ राजमहल में ले जाया करती थीं। मां जी साहिबा से उनकी जो बातचीत होती उनमें से कुछ मुझे अब तक याद है।

मां के सामने तीन प्रतिज्ञाएँ

'माता को तसल्ली कैसे हो? उसने सब तरह से जांच शुरू की। कोई कहता, युवक विलायत जाकर बिगड़ जाते हैं। कोई कहता, मांस खाते हैं। कोई कहता, वहाँ शराब के बिना काम ही नहीं चलता। माता ने यह सब मुझे सुनाया। मैंने कहा, 'पर तू मेरा विश्वास नहीं करती? मैं तुमसे विश्वास-घात नहीं करूँगा। कसम खाकर कहता हूँ कि इन तीनों चीजों से बचूंगा।'

गाँधीजी के सामने अनेक बार मांसाहार के पक्ष में विशिष्ट लोगों ने विचार रखे, लेकिन वे मां के सामने प्रतिज्ञा करने के कारण अपने विचारों पर सुदृढ़ रहे।

—मो० क० गांधी

मां स्वरूपरानी

'··· मां से बिलकुल नही डरता था, क्योंकि में जानता था कि वह मेरे सब किये-धरे को माफ़ कर देंगी और उनके इस ज्यादा और बेहद प्रेम के कारण में उन पर थोडा-बहुत हावी होने की कोशिश करता था। पिताजी की बनिस्पत में मां को ज्यादा पहचान सका था और वह मुझे पिताजी से अपने ज्यादा नजदीक मालूम होती थीं। में जितने भरोसे के साथ माताजी से अपनी बात कह सकता था, उतने भरोसे के साथ पिताजी से कहने का स्वप्न में भी ख्याल नही कर सकता था। वह सुडौल कद से छोटी नारी थीं और में जल्द ही करीब-करीब उनके बराबर ऊँचा हो गया था और अपने को उनके बराबर समझने लगा था। वह बहुत सुन्दर थीं। उनका सुन्दर चेहरा और छोटे-छोटे खूबसूरत हाथ-पाँव मुझे बहुत भाते थे। मेरी मां के पूर्वज कोई दो पुश्त पहले ही कश्मीर से नीचे मैदान में आये थे।

'हिन्दू पुराणों और रामायण-महाभारत की कथाएँ भी में सुना करता था। मेरी मां और चाचियाँ सुनाया करती थीं। ··· कभी-कभी में अपनी मां या चाची के साथ गंगा नहाने जाया करता था, और कभी इलाहाबाद, काशी या दूसरी जगह के मन्दिरों में भी या किसी और बड़े साधु-संन्यासी के दर्शन के लिये भी जाया करता था।

६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक (१६३२) राष्ट्रीय सप्ताह आया। हमलोग यह जानते थे कि इस सप्ताह में बहुत-सी बातें हुई थीं। लेकिन मेरे लिए एक घटना के सामने बाकी सब बातें फीकी पड़ गईं। इलाहाबाद में मेरी मा उस जुलूस में थीं, जिसे पुलिस ने पहले तो रोका और फिर लाठियों से मारा। जिस वक्त जुलूस रोक दिया गया था, उस वक्त किसी ने मेरी माताजी के लिए एक कुर्सी ला दी। वह जुलूस के आगे उस कुर्सी पर सड़क पर बैठी हुई थीं। कुछ लोग, जिनमें मेरे सेक्रेटरी वगैरह शामिल थे और जो खास तौर से उनकी देखभाल कर रहे थे, गिरफ्तार करके उनसे अलग कर दिये गए और इसके बाद पुलिस ने हमला किया। मेरी मां को धक्का देकर कुर्सी से नीचे गिरा दिया गया और उनके सिर पर लगातार बेंत मारे गये, जिससे उनके सिर में घाव हो गया और खून बहने लगा और वे बेहोश होकर सड़क पर गिर गईं। सड़क पर से उस वक्त तक जुलूस वाले तथा दूसरे लोग भगा दिये गये थे। कुछ देर बाद किसी पुलिस अफ़सर ने उन्हें उठाया और मोटर में बिठाकर आनन्द-भवन पहुँचा गया।

इस घटना के कुछ दिन बाद जब इन सब बातों की खबर मेरे पास पहुँची, (क्योंकि हमें उन दिनों एक साप्ताहिक अखबार मिला करता था) तो अपनी

कमजोर और बूढ़ी मां के खून से लथपथ धूल-भरी सड़क पर पड़े रहने का ख्याल मुझे रह-रह कर सताने लगा। मैं यह सोचने लगा कि अगर मैं वहाँ होता तो क्या करता? मेरी अहिंसा कहाँ तक मेरा साथ देती? मुझे डर है कि वह ज्यादा हद तक मेरा साथ नहीं देती। क्योंकि यह दृश्य शायद मुझे उस पाठ को बिलकुल भुला देता, जिसे सीखने की कोशिश मैंने बारह बरस से भी ज्यादा समय से की थी और उसका मुझ पर या मेरे राष्ट्र पर क्या असर होता, इसकी रत्ती भर भी परवाह न करता।

—पं० जवाहरलाल नेहरू

धर्मप्राणा मां

माता और दादी मुझे बहुत प्यार करतीं। बचपन से ही मेरी आदत थी कि मैं सन्ध्या को बहुत जल्द सो जाता था और उधर कुछ रात रहते ही, बहुत सबेरे ही, जाग जाता था। घर पक्का था, पर बना था पुराने तरीके पर। जाड़ों में खास करके, लम्बी रात होने के कारण, रात रहते ही नींद टूट जाती और उसी समय से मां को भी मैं सोने नहीं देता। रजाई के भीतर-ही-भीतर उनको जगाता। वह जाग कर परानी (प्रभाती) भजन सुनातीं। कभी-कभी रामायण इत्यादि की कथाएँ भी सुनाती। उन भजनों और कथाओं का असर मेरे दिल पर बहुत पड़ता। इसी प्रकार जब तक रोशनदान में बाहर की रोशनी नजर नहीं आती, पड़ा रहता और मां से भजन गवाता रहता या कथा कहलाता रहता।

—डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

संसार का सबसे पवित्र शब्द

'मां, मां—संसार का सबसे पवित्र शब्द यह है, जो इससे वंचित रहा, उससे बढ़कर अभागा और कौन है? ओ३म्, राम, रहीम ये शब्द इतने पवित्र इसीलिए माने गये कि इनके अन्त में मां का प्रथम अक्षर है, कभी इच्छा होती है, नास्तिक होते हुए भी, ऐसा कह दूँ?'

—'मां, मां, प्रणाम मां!' तुम मुझे छोड़कर उस सन्ध्या को कहाँ चली गई, मां? तुम चली गई और मेरे लिए छोड़ गई टकटकी बँधी, गीली-गीली, डबडबाई पुतलियों की वह करुण-कोमल स्मृति, जो मुझे व्याकुल बनाती है, रूलाती है, ढाढस देती है और अहर्निश रक्षा करती है। प्रणाम मां, मां, मां!"

—रामवृक्ष बेनीपुरी

मेरी मां

"मेरी मां" (कमला नेहरू), इस विषय पर लड़की का बोलना कितना कठिन है। मन में हजारों तस्वीरें आती हैं। कौन-सी आपके सामने रखूं, अपने रञ्ज को भूलने के लिये उन सबको बरसों से छिपाने की कोशिश कर रही थी, लेकिन आपके लिये उनका पर्दा खोलती हूँ। कुछ खास बात तो बतला नहीं सकती, क्योंकि हमारी जिन्दगी जनता के सामने एक खुली किताब की तरह है और आप उससे परिचित होंगे।

जो पहली बात मुझे याद है वह उस जमाने की है जब गान्धीजी कुछ बरसों से हिन्दुस्तान में आए थे और सत्याग्रह, स्वदेशी और खादी जैसे इन्कलाबी ख्याल पैदा हुए थे। इनका असर मेरे पिता और दादा पर जोरों से पड़ा। दावतें बन्द हुईं। मखमल, साटिन इत्यदि उतारे गए और चौराहे पर खूब चमकती रङ्ग-बिरङ्गी गड्डी बनाकर धूमधाम से जला दिए गये। खादी पहनना शुरू हुआ और वह कैसी खादी थी—खुरदुरी, टाट जैसी मोटी। मां का सारा शरीर छिल जाता था, लेकिन इस लिबास में भी उनकी खूबसूरती और नजाकत फूल जैसी खिलती थी।

गहने-कपड़े का उनको बिलकुल शौक नहीं था। अपने छुटपन में अपने भाइयों के साथ खेलती-घूमती थीं। इस आदत से उनको एक दफा काफी परेशानी उठानी पड़ी। जब वे नौ या दस साल की थीं तो कुछ समय के लिये सारा परिवार जयपुर गया। वहां सख्त पर्दा था और कमलाजी से कहा गया कि वे केवल डोली में बैठकर बाहर जा सकेंगी। रोने-पीटने से कुछ नहीं बना। लेकिन जिसको अभी तक पूरी आजादी थी, वह इस कैद में कैसे रहे? जब देखा कि उनका चेहरा उतरता जा रहा है और दिन-पर-दिन वजन घट रहा है, तो मेरी नानी घबराईं और एक तरकीब सोचीं। उस दिन से रोज सुबह वे (मेरी मां) अपने भाई के कपड़े पहन, बालों को पगड़ी में छिपाकर भाइयों के साथ घूमने जाने लगीं। किसी को पता नहीं चला, लेकिन उनके सचेतन दिमाग पर इस घटना का भारी असर पड़ा और वे सदा पर्दे के विरुद्ध प्रचार करती रहीं।

एक दफा और भी उन्होंने मर्दों का लिबास पहना, सन् १९३० में, जब वे कांग्रेस की वालण्टियर बनी थीं। मुझे भी बचपन से अक्सर लड़कों के कपड़े पहनाती थी। इससे जनता को बड़ी हैरानी होती थी। अक्सर मुझसे लोग पूछते थे, तुम्हारा भाई कहां है? मैं जवाब देती कि मेरा कोई भाई नहीं है, तो कहते, वाह! हमने अपनी आँख से देखा है। १७ वर्ष की उम्र में जब वे अपने माता-पिता के घर को छोड़कर आनन्दभवन की झलकती दुनिया में आईं

तो उनको क्या मालूम था कि कितने लम्बे और दु:ख-भरे मार्ग पर चलना होगा।

उस वक्त मेरे दादा की वकालत खूब चल रही थी और वे प्रान्त के सबसे बड़े आदमियों में गिने जाते थे। बड़े दिमाग और बड़े दिल के आदमी थे, शौकीन तबियत के। खूब कमाते थे और खूब खरचते थे। हमारा घर हमेशा मेहमानों से भरा रहता--तरह-तरह के लोग, बड़े अफसर, लेखक, कवि, अङ्ग्रेज, हिन्दुस्तानी आदि आते रहते थे। रोज दावतें होतीं और दादाजी की हँसी से घर गूंज उठता। घर के दो हिस्से थे। एक तरफ अङ्ग्रेजी तरीके के बैठने और खाने के कमरे और दूसरी तरफ देशी तरीके के। रोज दोनों तरह के खाने बनते। मेरी फूफी की मैट्रन अङ्ग्रेज थी और हमारी मोटर चलानेवाला भी एक मिस्टर डिक्सन था। काशमीरी घरों में औरतें पर्दा नहीं करतीं और मेरी दादी विलायत घूम आई थीं। तब भी घर की सँभाल और मेहमानदारी का बोझ अधिकतर मेरी मां पर पड़ा। नये तरीके सीख ही रही थीं कि जिन्दगी पलट गयी और सारा परिवार बहुत जोरों से कांग्रेस के आन्दोलन में भाग लेने लगा। जेल की यात्राएँ तथा अनेक कठिनाइयों शुरू हुईं।

अपने उत्साह और हिम्मत से मेरी मां ने गाँधीजी पर कुछ असर डाला होगा, क्योंकि गाँधीजी ने खास तौर पर स्त्रियों को पुकार दी कि वे भी बाहर निकलें और काम का बोझ उठाने में अपने भाइयों को सहायता दें। मां अपने बचपन का प्रण नहीं भूली थीं। जीवन-भर गाँधीजी जहाँ जाते, औरतों को पर्दे से निकालने का प्रयत्न करते और समझाते कि अपने अधिकारों के लिये किस तरह लड़ें। उनके कहने से हजारों औरतें कांग्रेस का काम करने निकली।

मां को अब बीमारी घेर रही थी, तब भी वे कांग्रेस की वालण्टियर बनीं और लोगों में काम करती रहीं। बाद में जब नेता लोग गिरफ्तार होने लगे तो वे और जोरों से काम में पड़ीं और इलाहाबाद शहर तथा जिले का सङ्गठन अपने ऊपर इस बल और दृढ़ता के साथ उठाया कि सब दङ्ग रह गये। चारों ओर से उनकी योग्यता की प्रशंसा हुई। उनके पति जवाहरलालजी और ससुर मोतीलालजी फूले नहीं समाए। लेकिन सबके मन में चिन्ता भी थी, क्योंकि उनकी सेहत आहिस्ता-आहिस्ता टूट रही थी। मगर वे किसी की भी न सुनतीं। सन् १९३० में आखिर में वे कांग्रेस वर्किङ्ग कमेटी की सदस्या बनाई गईं और थोड़े दिन बाद ही गिरफ्तार कर ली गईं। गिरफ्तारी की खबर रात ही को मिल गयी थी। उस रात भर हम लोग जागते रहे। ऐसे मौके पर भी दूसरों का ख्याल होता। जो भी काम अधूरे रह गये थे, उन्हें पूरा करने की कोशिश की, जिससे उनके जाने के बाद किसी को कठिनाई न हो।

कहते हैं कि जब दु:ख और पीड़ा इन्सान पर पड़ती है, तब ही उसका असली

चेहरा दिखाई देता है। जो कमजोर होते हैं, उनको दुःख तोड़कर दबा देता है। लेकिन जो बहादुर होते हैं वे उस दुःख से सीखकर और बढ़ सकते हैं और उनके भीतर छिपी हुई ताकत और स्वाभाविक सौन्दर्य चमक उठता है। कमलाजी ऐसी ही थीं।

डाँटती तो वे कभी भी नहीं थीं, न ऊँची आवाज से बोलती थीं, लेकिन उनका प्रभाव ऐसा था कि जो कहती थीं, वही होता था। हमारे यहां पण्डित मदन-मोहन मालवीय के भतीजे संस्कृत पढ़ाने आते थे। वे मां का बहुत आदर करते थे और उनसे डरते भी थे। मुझे बड़ा आश्चर्य होता था कि इतनी मधुर, दुबली-पतली औरत से डर कैसा? पण्डितजी कहते, 'अरे तुम्हें नहीं मालूम? ये बड़ी शक्ति की देवी हैं, जो चाहे कर सकती हैं।' इस पर मां हमेशा हँसती थी, परन्तु कुछ शक्ति उनमें जरूर थी, जो भी उनसे मिलता, उस पर गहरा प्रभाव पड़ता। मैं तो मानती हूँ कि मेरे पिताजी पर भी उनके विचारों का गहर असर पड़ा। अक्सर उनके पास साधु-महात्मा भी आकर बैठते थे।

जैसे पूजा-पाठ आम तौर से होता है, उससे वे बहुत बिगड़ती थीं। कहती थीं कि जो लोग ऊपर से ईश्वर का नाम लेते हैं, लेकिन विचारों की उधेड़-बुन में पड़े रहते हैं, उन्हें दिखावटी धर्म की जरूरत होती है। मन्दिर जाना भी इस वजह से पसंद नहीं करती थीं। लेकिन मां की भक्ति बहुत गहरी थी। रोज हम लोगों से गीता तथा रामयण का पाठ करवाती थीं। जैसे-जैसे उनकी उम्र बढ़ती गई, उनकी यह भक्ति और एक अन्दरूनी शक्ति भी बढ़ती गई। बाद में वे अक्सर गङ्गा नदी के किनारे समाधि में घण्टों बैठी रहती थी।

सेवा-भाव तो उनमें था ही। गरीबों की पढ़ाई और बेहतरी में खास तौर पर दिलचस्पी लेती थीं। जब १९२८ में मेरे दादा ने अपने बड़े घर को कांग्रेस को दान किया और उसका नाम "स्वराज्यभवन" रख दिया, तो मां ने उसके एक हिस्से में अस्पताल खोला।

३६ वर्ष की उम्र में अपने घर और प्यारे देश से हजारों मील दूर उनका देहान्त हुआ। आखिर तक वे मुस्कराती रहीं और उल्टे हम लोगों को ढाढस देती रहीं। उनकी आखिरी इच्छा थी कि उनका अस्पताल बन्द न होने पाये। इस इच्छा को पूरा करने के लिये महात्मा गांधी, पण्डित मदनमोहन मालवीय और उनके दूसरे सराहनेवालों ने उनके स्मारक के नाम से इलाहाबाद में स्त्रियों के लिये अस्पताल खोल दिया। गांधीजी के हाथों उसका उद्घाटन हुआ। सैकड़ों मील से मरीज आते हैं। मुझे खुशी है कि जैसी सेवा वे अपने जीवन में करती थीं, वैसी ही उनके नाम से अब भी हो रही है।

—इन्दिरा गांधी

माता के चरणों के नीचे स्वर्ग है।

—हज़रत मोहम्मद

मातृ-वन्दना के स्वर

□

माता का प्रतीक

मां का महत्व, शक्ति का महत्व स्त्री-जाति का महत्व है। संसार में जो कुछ सत्य, शिव या सुन्दर है, वह स्त्री-जाति के कारण है। एक ईसाई पादरी ने लिखा है कि महिलाओं का समुदाय अपनी साधु आत्मा से संसार को पवित्र कर रहा है। गुण तथा धर्म का, पवित्रता तथा स्नेह का प्रतिबिम्ब स्त्री है। चाहे किसान की सन्तान हो या राजा की, हर एक के बच्चे को इनके द्वारा उदारता तथा पवित्रता की शिक्षा मिलती है। बन्दियों का सुधार इनके द्वारा होता है, रोगियों को शान्ति इनके द्वारा मिलती है। जीवन के तूफ़ानों से टकराते हुए प्राणियों को ये शान्ति प्रदान करती हैं। आहत और पतित को इन्हीं से शान्ति मिलती है।

मां कहिए, माता अहिए, महिला कहिए या अंग्रेजी में मदर कहिए, हमारे जीवन में सब से प्यारा शब्द माता, सब से प्यारा शब्द 'म' है। बच्चा पैदा होते ही, किसी भी देश या सभ्यता का रहनेवाला हो, 'म' अक्षर का उच्चारण करता है। मिस्र के प्राचीन लोगों का विश्वास था कि सृष्टि के आरंभमें केवल तरंगें थीं—तरंग का आकार ~~~ इस प्रकार हुआ। आकाश और

जल की तरंगों से पृथ्वी बना ~~~ था। तरंगों का आकार ही बदल कर M म बन गया। किसी भाषा में पहला अक्षर M है, दूसरा अक्षर W वहीं तरंगों का उल्टा स्वरूप है।

M से अंग्रेजी शब्द Mother माता बना।

W से अंग्रेजी शब्द Wife पत्नी बना।

माता और पत्नी ही संसार में प्रधान रस हैं। जीवन में प्राण के समान हैं।

. . . माता सृष्टि के आदिकाल की तरंगों का प्रतीक है। 'म' अक्षर उन तरंगों का द्योतक है।

—परिपूर्णानन्द वर्मा

मां ! तुम्हें बारम्बार नमस्कार है !

जीवन सृष्टि का सूचक है और जीवन एवं सृष्टि का सत्य मां का सत्य है। चर-अचर सभी का अस्तित्व मां के कारण है। वह सृष्टिकर्त्री मां सृष्टि के द्वारा विश्व में व्याप्त है। वे विश्वमय हैं, विश्व की आद्या शक्ति है, जननी और संरक्षिका हैं। इस मातृरूपा शक्ति के प्रति सभी प्रणत हैं—

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

विश्वरूप होते हुए मां व्यक्तिरूप हैं। वे प्रत्येक का सत्य हैं—विश्व में जो कुछ भी आता है, व्यक्त एवं उत्पन्न होता है, उसका कारण मां है। यह विश्व जननी, भुवनेश्वरी अपना प्यार समान रूप से सबको देती है, उसके प्यार में किसी प्रकार की कृपणता नहीं है। यह हमारा स्वभाव और संस्कार है, जो उसके प्यार को उसकी अखण्डता और सर्वव्यापकता में ग्रहण नहीं कर पाता है, इस कारण, स्नेह आनन्द से अपने आपको वंचित पाता है।

व्यक्ति रूप मां के लिए यह माना जाता है कि मां कुमाता नहीं होती है, चाहे उसकी संतान कुसंतान हो। फिर भी इस सत्य का निराकरण नहीं किया जा सकता कि मातृरूपेण स्त्री कभी अत्यन्त कुटिल, निष्ठुर, अमानवीय एवं आसुरी स्वभाव से युक्त होती है। किन्तु यह मातृतत्त्व को निन्दनीय सिद्ध नहीं करता। स्त्री अपने वास्तविक रूप में, मातृरूप में, पूजनीय है। वह प्रेम, दया, वात्सल्य की जीवंत प्रतिमा है। वह सहज ही अपना सब कुछ अपनी संतान के लिए अर्पित कर देती है। स्त्री का निन्दनीय रूप स्त्री-विशेष कीसी मा पर प्रकाश डालता है। किसी स्त्री के संस्कार, उसकी अविकसित चेतना उसके मातृत्व को आच्छादित कर सकते हैं, पर मिटा नही सकते। मातृत्व अपनी मौलि-

कता में वह शक्ति है, जो सभी संतानों के संरक्षण, पालन और विकास के लिए सतत प्रयत्नशील है। वे माताएँ जो अपनी संतानों और दूसरों की संतानों में भेद देखती हैं अथवा जो संतानों के लिए कुटिल हैं, विमाता रूप हैं, उनका भाग्य अंततः कैकेयी-सा हो जाता है—पश्चाताप की अग्नि या अभाग्य ही उनकी नियति बन जाती है। वे कभी भी विश्व में व्याप्त मातृरूप आनन्द की प्राप्ति नहीं कर सकती हैं।

विश्वरूपा और व्यक्तिरूपा मां विश्वातीत भी हैं। वे व्यक्ति या जगत् तक सीमित नहीं हैं। अपने विश्वातीत रूप में वे सभी शक्तियों का सत्य हैं। लक्ष्मी, दुर्गा, सरस्वती एवं महाकाली, महासरस्वती, महालक्ष्मी, माहेश्वरी आदि उन्हीं में निहित हैं। वे महासरस्वती और महालक्ष्मी हैं, ज्ञान और ऐश्वर्य-दायिनी हैं। वे माहेश्वरी और भव्या हैं एवं कल्याणरूपा हैं। विश्वकल्याण उनका स्वभाव है, और इसलिए, वे महाकाली, दुर्गा एवं चामुण्डा रूप में अशुभ का संहार करती हैं। अपनी संतानों को सन्मार्ग की ओर ले जाने के लिए वे क्रोधित होती हैं। मां का वह रूप उनके उस अनंत प्यार और अनुकंपा को इंगित करता है, जो अपनी संतानों को दिव्यता और आनंद से युक्त करना चाहता है।

अतः मां का क्रोध किसी तानाशाह, नृशंस व्यक्ति का क्रोध नहीं है। वह क्रोध यशोदा की वह सांटा है, जिसे देखकर कृष्ण खिलखिलाते हुए उनसे चिपट जाते हैं अथवा दिखावटी भय से दो पग पीछे हट जाते हैं। मां के वात्सल्य का आनंद लेने के लिए ही ज्ञानातीत सत्य मां कौसल्या के चाहने पर बालक बन कर रुदन करने लगता है।

इस शांतिस्वरूपिणी, आनंदस्वरूपा एवं कल्याणदायिनी मां को बारंबार नमस्कार है। नमो देव्यै जगन्मात्रे शिवायै सततं नमः।

—शान्ति जोशी

मातृभक्ति

माता के महत्व का गान शब्द से नहीं किया जा सकता है। वह अनुभव का विषय है। अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द मां के महत्व के प्रतिपादन में असमर्थ हो जाता है, क्योंकि इतना पवित्र प्रायः विश्व का कुछ भी नहीं है। भगवान् शंकराचार्य ने अपनी आराध्यतमा की स्तुति में मातृशक्ति के वात्सल्य, कृपा तथा करुणा आदि के साथ उनकी सहिष्णुता का वर्णन किया है —

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति

हमारी संस्कृति धरती को मां के रूप में देखती है, क्योंकि वह सर्वसहा है।

वह धनधान्य से पूर्ण होकर अपनी सन्तान की रक्षा करती है। (आवास) शरण देकर सन्तति-सुख के लिए अपना सब कुछ अर्पित कर देती है।

हमारी नीति कहती है—"माता मित्रं पिता चेति स्वभावत् त्रितयं हितम्"। यहाँ भी मां का पहला स्थान है। परम्परा कहती है कि पिता हित में लगता है और माता रक्षा करती है। अतएव पिता से दश गुणा अधिक मां का महत्व है। "मातवे रक्षति पितेव हिते नियुक्ते" एवं "पितुर्दशगुणा माता"।

वस्तुतः स्वयं विचारने पर भी मां का स्थान सर्वोच्च ही बनता है। गर्भ के समय से ही उनके लिए नाना प्रकार की यातनाएँ अर्थात् शारीरिक एवं मानसिक कष्ट सहना आरम्भ हो जाता है और सन्तति-प्राप्ति की सुखद कल्पना में डूबी महिला उन कष्टों को नगण्य मानती है और यह कष्ट-सहिष्णुता, त्याग तथा तपस्या सन्तति के लिए आजीवन चलता ही रहता है। सन्तति-जन्म के समय वैद्यों का कहना है कि मां का भी पुनर्जन्म ही होता है, क्योंकि प्रसव-वेदना के साथ त्रिदोष (कफ, पित्त एवं वायु का प्रकोपों) उस समय उपस्थित रहता है। जन्म के बाद सन्तति के लिए देवाराधन, ग्रहशान्ति, विविध टोटका, अर्थात् लोकानुमत मांगलिक आचरण, व्रत एवं अनुष्ठान को चलाती हुई निरन्तर संरक्षण, संवर्द्धन, संपोषण के लिए मां अपना जीवन अर्पित कर देती है।

इतना ही नहीं, इनकी शिक्षा-दीक्षा तथा लोकव्यवहार में पाठक के लिए उनका सर्वविध प्रयास सतत चलता रहता है।

गया में मां को पिण्डदान करते समय मां के स्वरूप का परिचय सन्तति को मिलता है। जब मन्त्र में बारंबार कहा जाता है कि अमुक प्रकार का कष्ट तूने मेरे लिये सहा, अतः मैं पिण्ड दे रहा हूँ।

मां अपनी सन्तति के हित के लिए परमप्रिय पति को भी कदाचित् छोड़ देती हैं, अपना तो मोह ही नहीं होता। मां वात्सल्य, त्याग-तपस्या तथा सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति होती है।

भगवती दुर्गा सभी प्राणियों के लिए मातृस्वरूपा हैं। ऐसी पौराणिक अवधारणा है—

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता

दश महाविद्याओं की जननी के रूप में आराधना करने का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि वह मेरे समस्त अपराधों को क्षमा करके केवल शुभ, हित और संरक्षण देती रहे। अतएव वह उपमान है और देवता उपमेय। बिना आधार के बिना आधेय नहीं रहता, अतएव मां के बिना सन्तति का अस्तित्व ही संदिग्ध हो जाता है। मां इस एक अक्षर में क्या जादू है—इसका अनुभव प्रायः सब को मालूम ही है।

मां का आदर, आराधनशुश्रूषा, परिचर्या, भक्ति, विश्वास जितना किया जाए, कम ही होगा। सन्तति सर्वत्र मस्तक ऊँचा कर सकती है, यदि मां के समक्ष सादर अवनत शिर रहे।

—किशोरनाथ झा

सृष्टि विधात्री—मां

ईश्वर द्वारा निर्मित समस्त जड़-चेतन पदार्थों में स्त्री का निर्माण उसकी अप्रतिम प्रतिभा द्योतक है। मनु महाराज ने लिखा है, "जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं।" स्त्री की धन्यता—मां बनने में है, उसके मातृत्व में है। अनेक कल्याणों की भाजन मां पूजनीया है। प्रजापति ने प्रजा की उत्पत्ति और विस्तार के लिये मां की सृष्टि की है।

मां शब्द हिन्दी शब्द कोश का प्राय: सबसे छोटा नाम है, लेकिन इस एक शब्द का स्मरण ही हमें असीम आनन्द और श्रद्धा से भर देता है। हमारी आँखों के सामने एक छवि उभरती है, जिसके सामने हमारा मस्तक नत हो जाता है। मां अपने लिये कुछ नहीं चाहती, वह मात्र चाहती है—अपनी सन्तति का मंगल, यश, उसका नाम!

नंदजी जब कृष्ण को मथुरा पहूँचाकर आ जाते हैं, तो यशोदा मां करुण स्वरों में उनसे पूछती है—

प्रियपति! वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है?
दु:ख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा, नेत्र-तारा कहाँ है?

कहते हैं—नारी जाति के लिए उसका पति ही परमेश्वर है, वह सारा जीवन उस परमेश्वर की सेवा में समर्पित कर देती है। परन्तु वह नारी जब मां बन जाती है, तब उसका सारा प्यार सिमिट कर अपने पुत्र पर उमड़ पड़ता है, वह अपने पति की आभा पुत्र में देखती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वह पुत्र के लिये पति तक से झगड़ पड़ती है। ऐसी मां सब के लिये वन्दनीया है।

मां के लिए पुत्र अनन्त पुण्य का फल है, तो मां भी पुत्र के लिये देवी स्वरूपा है। मां के साथ किसी प्रकार का दूरत्व को बोध न होने के कारण ही पुत्र उसे 'तू' कहकर पुकारता है।

इस संसार में यदि कहीं स्वर्ग है, तो वह अन्यत्र नहीं, सिर्फ मां के आँचल के तले है। वह पुत्र सचमुच अभागा है, जिसे मां का प्यार नहीं मिला।

इस सृष्टि विधात्री—मां को शत-शत प्रणाम।

—रजनी सेवटिया

सत्यं शिवं सुन्दरम्

'मां'--केवल मां है, बस 'मां' है--धरती पर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का अवतरण ! मातृत्व 'सत्यं' की तरह अडिग, 'शिवं' की तरह मांगलिक एवं 'सुन्दरम्' की तरह मोहक है।

वह प्रेय और श्रेय की रचनात्मक ज्ञान धारा है, जिसमें है समुद्र-सा गांभीर्य और गगन-सा अनन्त विस्तार।

बच्चों के विकास में कौन महत्वपूर्ण ? पिता, समाज, गुरु, विद्यालय ! ना, मां--सिर्फ मां। जिस प्रकार भगवान् शेष नाग के सहस्रफणों पर यह धरती टिकी हुई है, उसी प्रकार समग्र मानव जाति की मानवता एक मात्र मां पर, केवल मां पर टिकी हुई है।

मां तो सबके साथ है--आजीवन, अहर्निश, कभी सशरीर सामने, कभी स्मृतिरूपा नेपथ्य में और कभी शक्तिस्वरूपा हृदय में।

—शोभा कनोई

मां की गोद में खेलता भविष्य

माता के रूप में नारी का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप देखने को मिलता है। 'मां' शब्द में ही एक अनिवर्चनीय पवित्रता है। अपनी सन्तान के लिये मां हिम की भाँति निर्मल और गंगा के समान पवित्र है। यदि वसुन्धरा पर कोई ऐसी वस्तु है, जो कि भगवदीय प्रेम की अधिक-से-अधिक स्मृति दिला सकती है, तो वह मां है। इसी से श्रुति ने कहा है—"मातृदेवो भव" पृथ्वी पर भगवान् की स्वरूपभूता माता ही है।

नारी का सनातन मातृत्व ही उसका स्वरूप है। वह मानवता की नित्य माता है, उसका जीवन क्षणिक वैषयिक आनन्द के लिये नहीं, वह तो जगत् को प्रतिक्षण आनन्द प्रदान करनेवाली स्नेहमयी जननी है, वह माता के रूप में जगद्-धातृ जगज्जननी का प्रत्यक्ष अवतार है। संसार की अधिष्ठात्री देवी है। मातारूपिणी नारी के हृदय से मातृशक्ति का वह शान्तिमय वात्सल्यपूर्ण शक्ति-स्रोत प्रवाहित होता है, जिससे वह इस संसार की ज्वाला को अपने आँचल से ढक कर शान्त कर देती है।

नारी पुरुष की जननी है, पौरुष की जननी है। मनुष्य जाति को ममता का पाठ पढ़ाकर सेवाभाव से प्लुत कर देनेवाली एक मात्रशक्ति मातृत्व ही है। प्रकृति की अनन्त शक्ति माता में ही विराजमान है। नारी-शक्ति से ही विश्व की समस्त शक्तियों का जन्म होता है।

नारी जब जननी बनकर संतान के सम्मुख आती है, तब तो वह अपने समस्त स्नेह को अपनी संतान पर उँड़ेल कर सेवा का अनुपम आदर्श उपस्थित कर देती है। माता ही दूध पिलाकर बच्चे का लालन-पालन करती है। माता ही उसके खाने-पीने, खेलने-कूदने और नहाने-धोने की चिन्ता करती है। माता में ही ऐसी शक्ति है, जो संतान पर जरा-सा कष्ट पड़ने पर अपने सभी कष्टों को विस्मृत कर देती है और सन्तान के दु:ख में सहानुभूतिपूर्वक अपने जीवन को त्याग की वेदी पर न्योछावर कर देती है। स्वयं गीले मे सोकर सुत को सूखे में सुलाती है। स्वयं भूखा रहकर बच्चे को भोजन खिलाती है, स्वय प्यासी रहकर पुत्र को पानी पिलाती है, स्वयं न नहाकर पुत्र को नहलाती है, अपने तन से भी अधिक मान कर आत्मा की प्रतिकृति आत्मीय को सुख पहुँचाती है।

संतान के प्राण संकट में पड़ने पर अपने प्राणों का मोह त्याग देती है। जिस समय संसार सोता है, उस समय माता अपने बालक का रुदन सुनकर चौंक उठती है और रोते हुए बच्चे को गोदी में लेकर उसका बार-बार मुख चूमती है और पुचकारती है। लोग बाहर साधना करके साधु कहलाते हैं, किन्तु वह घर में रहकर भी उग्र साधना करती है। आदर्श मां के लिये संसार में कोई असाध्य कार्य नहीं, वह जो चाहे कर सकती है, उसका महत्व सबसे बड़ा है, भगवान् ने भक्तों से और आदर्श माताओं से ही हार मानी है।

माता की शिक्षा आजीवन बच्चों के पास अक्षय निधि की तरह सुरक्षित रहती है। मां ही उनके शारीरिक, मानसिक, नैतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक सुप्त शक्तियों का सर्वाङ्गीण एवं सन्तुलित विकास करने के लिये सुदृढ़ आधार भित्ति का निर्माण करती है।

माता का प्रेम अपनी सन्तान के प्रति अवर्णनीय है। मां शब्द में ही अतुल आनन्द है। मातृत्व वह स्रोत है, जो सदा अक्षुण्ण, अबाध रूप से बहता रहता है। वैभव में या गरीबी में, सुख में या दुख में उसके प्रेम का मधु-स्रोत एकरस प्रवाहित है। मां बन कर नारी—बड़े-से-बड़े कष्टों को हँसते हुए झेल सकती है—बस, सिर्फ एक अबोध शिशु धूलि-धूसरित तुतलाता हुआ मां-मां की अस्फुट ध्वनि के साथ उसका आलिंगन कर ले। मां के लिए यह शिशु शिशुमात्र नहीं है, आशा है, भविष्य है, स्वप्न है—ना, वह तो उसके लिये साक्षात् प्रभु है। बच्चे के लिए मां—देवता ; मां के लिए बच्चा—भगवान् !

— श्रीकान्ता

मातृदेवो भव

भारतीय संस्कृति में नारी माता के रूप में सर्वाधिक आदर की पात्र मानी गई है। इसीलिए हमारे वैदिक वाङ्मय में सर्व प्रथम 'मातृदेवो भव' का उद्घोष है। तदनन्तर 'पितृदेवो भव' एवं फिर 'आचार्यदेवो भव' है। निम्नांकित सूक्ति में माता को कितनी अनुपम उपमा दी गई है—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

हमारे प्राचीन इतिहास के अवलोकन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि अतीत में हमारे यहाँ मातृ प्रधान व्यवस्था थी, जिसके अनेकानेक उदाहरणों से हमारे धार्मिक ग्रन्थ भरे पड़े हैं। लौकिक बोलचाल में भी सीताराम, राधाकृष्ण एवं लक्ष्मीनारायण आदि बहुप्रचलित नाम नारी की प्रधानता के प्रमाण हैं। निस्संदेह नारी गरिमामय है।

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता:' से भी यही प्रकट होता है कि प्राचीन भारत में नारी का स्थान पुरुष से ऊँचा था। भगवान् राम ने माता की आज्ञा का पालन करने के लिए ही चौदह वर्ष का वनवास भोगा था, जो एक विश्वविश्रुत घटना है। कवि की यह उक्ति कितनी सार्थक है—

नास्ति गंगा समोतीर्थः, नास्ति मातृ समो गुरुः।
सर्वदेवमयी माता, स्मृतश्चार्ति प्रनाशिनी॥

—स्वामी गणेशदास विरक्त

मातृ-महिमा

हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणापि दोषै
र्नज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा।
सर्वाश्रयाऽखिलमिदं जगदंशभूत-
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या॥



आचार्य श्री धर्मेन्द्र महाराज

हिन्दू-धर्म का मातृ-दर्शन

हिन्दू-धर्म के उद्धारकर्त्ता आचार्यों में जगद्गुरु भगवान् आदिशंकराचार्य का स्थान सर्वोच्च और सर्वोपरि है। परमहंस मुनियों के परमाराध्य देवाधिदेव महादेव भगवान् नीलकंठ शिव एवं आदिशंकराचार्य के रूप में धराधाम पर अवतीर्ण हुए थे। परम वीतराग भगवान् शुकदेव के समान वे जन्म से ही तत्त्व-ज्ञान-संपन्न थे। अल्पायु में ही उनका अन्तर्निहित तेज दशों-दिशाओं को प्रकाशित करने लगा था। संसार में उनका रंच मोह न था, संसार बंधनों से मुक्त होकर अज्ञान मोहग्रस्त मानव समुदाय को ब्रह्मज्ञान का अमृत पिलाने के लिये वे आतुर थे। इसीलिए ब्रह्मचर्यव्रत से सीधे संन्यास-धर्म को अंगीकार करने को वे कृत-संकल्प थे।

जन्म से ही आत्माराम परम कैवल्य-धन-सम्पन्न वीतराग शंकर के श्रेयोमार्ग में कोई प्रत्यक्ष बाधा भी न थी। फिर वे संन्यास-दीक्षा और गृह-त्याग के निश्चय को क्रियान्वित करने में स्वयं को स्वतंत्र अनुभव नहीं कर रहे थे। रोकने वाला एक बंधन था। मोह का नहीं, श्रद्धा का। भोग का नहीं, भक्ति का। कातरता का नहीं, कर्त्तव्य का। अपनी जन्मदात्री जननी की आज्ञा प्राप्त किये बिना वे गृह-त्याग नहीं करना चाहते थे।

"मां की अनुमति के बिना मैं गृह-त्याग नहीं करूँगा। संन्यास प्राप्त हो

या न हो। मां की आज्ञा की अवहेलना शंकर नहीं करेगा।" शिशु शंकर का यह दृढ़ निश्चय था।

सामान्य पुत्रों के प्रति भी मातृ-मन में अगाध ममता होती है। शंकर तो साक्षात् शिव-स्वरूप थे। ऐसे पुत्ररत्न को मां भला कैसे छोड़ सकती थीं? आदि शंकराचार्य को संन्यास की अनुमति नहीं मिली। अनुमति प्राप्त करने के लिए तब उन्होंने अपने योगबल से एक जटिल स्थिति का सृजन किया। सरिता में स्नान करते हुए बालक शंकर का चरण एक हठी ग्राह ने ग्रस लिया और वह उन्हें गहरे जल में खींचने लगा।

शंकर ने तट पर खड़ी जननी को पुकार कर कहा—"मां! यह ग्राह मुझे खींच रहा है।"

मां आकुल हो उठीं। अपने पुत्र की क्षमता को वे जानती थीं। कातर कंठ से बोलीं—"बेटा! तुम चाहो तो ग्राह से तुरन्त मुक्त हो सकते हो। यह जलजन्तु तुम्हारा बलपूर्वक अनिष्ट नहीं कर सकता। तुम मुक्त क्यों नहीं हो जाते?"

शंकर ने कहा—"मां! यह जलजन्तु नहीं है। मेरी नियति है। नियति का निवारण मैं कैसे करूँ? मेरा जन्म जगत् के उद्धार के लिए हुआ है। मैं वह नहीं कर पा रहा हूँ, इसलिए मेरी नियति मुझे यहाँ से खींच रही है। मेरा यह जन्म व्यर्थ है, तो मुझे वापस नहीं जाना होगा, जहाँ से मैं आया हूँ।"

मां समझ गयीं। बोलीं—"बेटा! तुम जगत् का ही उद्धार करो। उसके साथ-साथ मैं भी तर जाऊँगी। तुम बाहर आ जाओ पुत्र! अब मैं तुम्हें घर में नहीं रोकूँगी। मैं जान गयी हूँ कि तुम एक के नहीं हो, सब के हो।" और भगवान् शंकराचार्य को संन्यास की अनुमति मिल गयी।

आज जो वैदिक धर्म सुरक्षित है, वह भगवान् आदिशंकराचार्य के तपस्तेज का प्रसाद है, भगवान् शंकराचार्य ने २८वर्ष की अल्पायु में ही अपनी लीला का संवरण किया था, किन्तु इतनी अल्प अवधि में ही उन्होंने आसेतु हिमाचल—सम्पूर्ण आर्यावर्त में आर्य-संस्कृति और वैदिक धर्म की विजय-पताका फहरा दी। नास्तिकों को निर्मूल किया। धर्म का उद्धार किया। चारों दिशाओं में चार दिव्य मठों की स्थापना की और रक्त का एक बिन्दु गिराये बिना महान सांस्कृतिक क्रान्ति को साकार किया। भगवान् शंकराचार्य का दर्शन एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की प्रभुता स्वीकार नहीं करता।

एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति!

सृष्टि का नियन्ता एक ब्रह्म है। दूसरा कोई नहीं। इस शुष्क और शुद्ध वेदान्त की स्थापना करनेवाले भगवान् आदिशंकरराचार्य ने किसी दूसरे

की सत्ता को कभी स्वीकार नहीं किया। निर्मल वैराग्य और विशुद्ध संन्यास धर्म के वे सर्वोच्च प्रतीक पुरुष हैं। सांसारिकता से कोई संबंध न रखनेवाले ऐसे जगत्-गुरु भगवान् शंकराचार्य ने संसार के सारे संबंधों का त्याग तो किया, किन्तु मातृ-भक्ति का त्याग वे भी न कर सके।

संन्यासी प्रत्येक सांसारिक ऋण और दायित्व से मुक्त होता है। देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण—इन तीन ऋणों की स्मृति दिलाने के लिए ही ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत के तीन सूत्र धारण कराये जाते हैं। यज्ञोपवीत ब्रह्मचारी का व्रत-बन्ध है, तो गृहस्थ धर्म का कवच है और वानप्रस्थ के लिए पवित्र धरोहर है। किन्तु इन तीनों आश्रमों में क्रमशः तीनों ऋणों से मुक्त होकर वानप्रस्थ पुरुष जब संन्यास धर्म अंगीकार करता है, तब यज्ञोपवीत को विसर्जित कर देता है। सन्यासावस्था ऋण मुक्ति की अवस्था है। भगवान् शंकराचार्य तो जन्मजात संन्यासी थे। नैष्ठिक ब्रह्मचारी से वे सीधे संन्यास में प्रविष्ट हुए थे। संसार का कोई ऋण उन पर नहीं था। उन्होंने अपना ही क्या संपूर्ण जाति का ऋण उतार दिया था। ऐसे भगवान् शंकराचार्य ने भी संसार को तो छोड़ा, किन्तु मातृ-ऋणानुबन्ध का त्याग वे नहीं कर सके।

अपनी जन्मदात्री को निर्वाण के निकट जानकर वे अपनी दिग्विजयिनी शिष्य मण्डली के साथ मां के द्वार पर आ खड़े हुए। अपने विश्वविजयी परमयशस्वी ईश्वरस्वरूप जगद्-गुरु पदासीन पुत्र को द्वार पर खड़ा देख माता के निस्तेज दृष्टिदीप प्रसन्नता से चमक उठे। "मेरा जगज्जयी पुत्र, मेरा शंकर, सारे संसार का वंदनीय जगद्गुरु, मेरा प्राणप्रिय वत्स मुझे मेरे अन्तिम समय में दर्शन देने आया है। जननी की ममता का अमृतकोष नयनों के मार्ग से छलकने लगा। भगवान् शंकराचार्य ने, परम वंदनीय जगद्गुरु ने, आगे बढ़कर जननी के चरणों पर अपना महिमामण्डित ज्योतिर्मय मस्तक रख दिया। संन्यासी भगवान् के अतिरिक्त किसी के सम्मुख नतमस्तक नहीं होता। भगवान् शंकराचार्य तो सामान्य संन्यासी नहीं थे। वे तो संन्यास धर्म के उद्धारक और प्रतीक पुंज थे। कैवल्य की साक्षात् प्रतिमा। वैराग्य के अकलुष ज्योतिस्तंभ भगवान् शंकराचार्य को अपनी जन्मदात्री के चरणों में झुकते देख उनके परम प्रतापी शिष्यों की आँखें सजल हो गयीं। माता के बुझते हुए प्राणदीप में ज्योति का अंतिम ज्वार उठा। उन्होंने हाथ बढ़ाकर पुत्र के मस्तक को हृदय से लगा लिया और ब्रह्मस्वरूप आत्मज को आलिंगन में आबद्ध करके स्वयं भी ब्रह्म में लीन हो गयीं।

मातृदेवो भव ! (तैत्तिरीय उपनिषद् १/११/२३)

माता में ईश्वर को देखो, माता ही प्रथम गुरु है। उसकी वंदना करो।

अपने शिशु के मूक कंठ को वही भाषा क बोल प्रदान करती है। अपनी भाषा को हम अपनी मां के मुख से सुनकर ही सीखते हैं। इसीलिए संसार के प्रत्येक कोने में अपनी भाषा को "मातृभाषा" कहा जाता है। कोई कितनी ही भाषाओं का प्रखर पंडित क्यों न बन जाय, उसे प्राणाधिक प्रिय वही भाषा प्रतीत होती है, जिसमें उसकी जननी ने उससे सर्वप्रथम बोलना प्रारंभ किया था। मातृभाषा कितनी भी असंस्कृत क्यों न हो, निरपवाद रूप में विश्व के सभी मानव-समुदाय अपनी मातृभाषा को ही मधुरतम मानते हैं और अपनी मातृभाषा के वर्चस्व के लिए राष्ट्रों के भूगोल तक बदल डालते हैं। मूक मानवता के कंठ को भाषा प्रदान करनेवाली माता ही मानव-सभ्यता की प्रथम गुरु है। जीवन में सबसे बड़ा संस्कार जननी के दूध के साथ प्राप्त जननी की भाषा का, मातृभाषा का, पड़ता है। मातृभाषा से बढ़कर मानव-जीवन को प्रभावित करने वाली दूसरी कोई शक्ति नहीं है। इस प्रकार माता मानवता की प्रथम गुरु है। इसीलिए उपनिषद् का आदेश है—माता में ईश्वर को देखो, उसके पश्चात् पिता में ईश्वर को देखो।

पितृदेवो भव ! (तै०उ० १/११/२)

हिन्दू-धर्म ईश्वर को सर्वप्रथम मां के रूप में देखता है। फिर पिता के रूप में। शिशु गणेश को मां पार्वती ने द्वार पर खड़ा कर दिया था। प्रहरी शिशु ने अपने पिता साक्षात् भगवान् सदाशिव को भी अन्तःपुर में प्रविष्ट नहीं होने दिया। वह अड़ गया। प्राण रहते उसने भगवान् को प्रवेश की अनुमति नहीं दी। भगवती ने ही पुनर्जीवित शिशु गणपति को परिचय दिया—"बेटा! ये तुम्हारे पिता हैं। इनसे क्षमा माँग लो!" निरुपाय शिशु ने कोई तर्क नहीं दिया। उठकर भक्तिभाव से अपने जगद्वंद्य पिता के चरणों में मस्तक टिका दिया।

भगवती जगज्जननी विदेहनन्दिनी के दोनों शिशु भी अपने पिता को नहीं जानते थे। अग्निपरीक्षोत्तीर्ण, सतीशिरोमणि सहधर्मिणी का त्याग करनेवाले 'हृदयहीन सम्राट्' का यज्ञाश्व रोककर जब वे अपने पिता के सामने युद्ध-संकल्प से कटिबद्ध होकर डट गये, तो जगज्जननी हाहाकार करती हुई बीच में आ खड़ी हुई। कातर कंठ से पुत्रों को पुकार उठीं—"अभागे! किस पर बाण चला रहे हो? ये तुम्हारे पिता हैं। ये मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। ये मूर्तिमान धर्म हैं। ये अयोध्या के राजाधिराज रघुकुलभूषण सम्राट् भगवान् श्री राम ही तुम्हारे पिता हैं। इन्हें प्रणाम करो।"

और दोनों क्षुब्ध शिशुओं ने अपने धनुष-तूणीर फेंक दिये। रोष का त्याग करके दोनों अपने पिता के चरणों में लोट गये।

हिन्दू-धर्म ने देखा है कि ईश्वर सर्वत्र मातृरूप में विराजमान हैं। परम पुरुष ने प्रकृति बनकर ही सृष्टि का सृजन किया है, उसे धारण किया है और वही उसके संहार की भी भूमिका रचती है।

> तहि दुर्गा दशप्रहरण धारिणीम्।
> कमला कमलदल विहारिणीम्।
> वाणी विद्या दायिनीम्।
> नमामित्वां ...... मातरम्।
>
> (बंकिमचन्द्र)

हिन्दुओं ने संसार की सम्पूर्ण शोभा को खुली आँखों से देखा और अनुभव किया कि यह तो मां का दिव्य सौन्दर्य है, उन्होंने कहा—"तुम शोभा हो! द्युति हो! कांति हो! छटा हो! श्री हो! मां हो!"

हिन्दुओं ने सम्पदा को देखा और अनुभव किया, यह भी हमारी मां का रूप है। यह हमारा पोषण करता है। वे बोलें—"तुम सम्पदा हो! लक्ष्मी हो! श्री हो! मां हो!"

हिन्दुओं ने साक्षात्कार किया विद्या का, ज्ञान का, और कहा—"तुम प्रज्ञा, मेधा, वाणी और विद्या हो! तुम अनुभूति भी हो! अभिव्यक्ति भी हो! तुम्हीं भाषा हो! अभिधा हो! लक्षणा हो! व्यंजना हो! तुम सरस्वती हो! अजस्र रसवंती हो! मां हो!"

हिन्दुओं ने भाषा में भी मातृशक्ति के दर्शन किये भक्तिभाव से पुकारा—"हिन्दी माता! संस्कृति माता! बंगला माता! तमिल माता!"

हिन्दुओं ने बल का साक्षात्कार किया और अनुभव किया, यह भी हमारी मां का स्फूर्त स्वरूप है। उन्होंने वन्दना की—"तुम्हीं तो हो मां! हमारी शक्ति, हमारी स्फूर्ति, हमारी ऊर्जा, हमारी विजय और हमारी सफलता! तुम्हीं कीर्ति हो! विजयदात्री हो! विजयिनी हो! जया हो! जयन्ती हो! मंगला हो! भद्रकाली हो! दुर्गा हो! मां हो!"

हिन्दुओं ने जीवनदायिनी पयस्विनी सरिताओं में भी अपनी मां के ही दर्शन किये—"तुम गंगा मैया हो! यमुना मैया हो! सरयू मैया हो! नर्मदा मैया हो!

> नर्मदेहर! नर्मदेहर! दर्मदेहर पाहिमाम्!
> नर्मदेहर! नर्मदेहर! नर्मदेहर रक्षमाम्!

कोटि-कोटि धाराओं में प्रवाहित होकर जगत् में जीवन का रस-संचार करनेवाली तुम हमारे करुणामय की करुणा हो। हमारे पाप, ताप, अभिशापों को हरनेवाली तुम हमारी मां हो!

हिन्दुओं ने पशुदेहधारिणी ईश्वरीय करुणा को गो के रूप में देखा और गद्गद होकर बोल उठे—"अरे! तुम पशु नहीं हो! तुम तो मूर्तिमयी करुणा हो, कल्याणी हो, हमारी जन्मदात्री से भी बढ़कर हमारा मंगल करनेवाली गो-माता हो!"

मातरः सर्वभूतानां गावः सर्व सुखप्रदा।

"हे गैया मैया! तुम तो हमारी ही नहीं, जगत् के सब भूतों की, सब प्राणियों की वंदनीया मां हो!"

हिन्दुओं ने तुलसी को देखा तो हाथ जोड़ लिये—"तुलसी मैया! हमारा राग हरो! शोक हरो! हमें सुख-सौभाग्य का अक्षय वर दो!"

हिन्दुओं को अपने तीर्थ भी पतितपावनी जननी की गोद जैसे आत्मीय प्रतीत हुए। वे भक्तिभाव से पुकार उठे—

"हे काशी मैया। अयोध्या मैया। मथुरा मैया। द्वारिका मैया।"

तीर्थ ही क्यों, हिन्दुओं ने तो अपने नगर, ग्राम और खेड़ों को भी मातृभाव से ही देखा है। करोड़ों निरक्षर ग्रामीण हिन्दू भाव से विभोर होकर पुकारते हैं—"बोलो, बस्ती माता की जय!"

अपनी जाति को (बिरादरी को) तो हिन्दू सदा से अपनी माता के रूप में देखते रहे। "कोई हमें हमारी जातिमाता से पृथक् न कर दे।" हिन्दू-हृदय में सनातन काल से सबसे बड़ा भय यही रहता है। आज के यांत्रिक युग में जब लौह-यंत्रों की निरन्तर संगति में मानव-मन भी लौहवत् जड़ हो गये हैं, जब कोई जाति, बिरादरी और 'बस्ती' तो दूर, देशमाता की भी परवाह नहीं करता, तब जग के कण-कण में मातृ दर्शन करने और उसका हार्दिक सान्निध्य पाने की, हिन्दू-हृदय की प्यास को कोई कैसे समझेगा?

बंगाली हिन्दू अपनी बेटी का लाड़ लड़ाता है, तो विभोर होकर बोल उठता है—"तुमि आमार लॉक्खी मां!"

"तुमि आमार दुर्गा मां!"

"तुमि आमार सरस्वती मां!"

तुम मेरी लक्खी मां हो! तुम मेरी दुर्गा मां हो! तुम मेरी सरस्वती मां हो! हिन्दुओं का स्वाधीनता, संग्राम भी मातृ-पूजा का बृहद् अनुष्ठान रहा है। उसे सफलता ही तब हुई, जब उसने मातृपूजा के उपक्रम का स्वरूप ग्रहण किया। हिन्दू पृथक्-पृथक् जयघोषों के साथ पृथक्-पृथक् समूहों में विदेशी दासता के विरुद्ध संघर्ष करते रहे और असफल होते रहे। उन्हें सफलता तब मिली। जब उन्होंने सभी उद्घोषों और जय-उद्घोषणाओं को 'वन्देमातरम्' महामंत्र में विलीन कर दिया। उनकी देशभक्ति, धर्मनिष्ठा, राष्ट्रप्रेम और

स्वातंत्र्य चेतना को यथार्थ अभिव्यक्ति देनेवाला महामंत्र 'वन्देमातरम्' विश्व भर में देशभक्ति की सर्वोत्कृष्ट और सार्थकतम अभिव्यक्ति है और यह अभिव्यक्ति हिन्दू-चेतना में समायी मातृभक्ति का उज्ज्वल उदाहरण है।

कल्याण के मुस्लिम सूबेदार की परम सुन्दरी षोडशी कन्या को सामने समर्पिता देखकर छत्रपति शिवाजी महाराज ने मुक्त कंठ और मुग्ध मन से कहा—

"अहा! कैसा दिव्य सौन्दर्य! देवि! शोक! मैं जीजाबाई के गर्भ से उत्पन्न हुआ, तेरे गर्भ से नहीं। यदि तेरे गर्भ से मेरा जन्म हुआ होता, तो मैं भी तेरे ही समान सुन्दर हो जाता।" और इन अलौकिक वेदमंत्रोपम पवित्र शब्दों को सुनकर यवन कन्या शिवाजी महाराज के चरणों में लिपट गयी तथा छत्रपति को जन्म देनेवाली परम पूजनीया मां जीजाबाई का मुख सात्विक गौरव से उद्दीप्त हो उठा। सभा विह्वल होकर पुकार उठी—

"छत्रपति शिवाजी महाराज की जय!"

"राजमाता जीजाबाई की जय!!"

हिन्दू-जाति! तू धन्य है। सृष्टि के कण-कण में ईश्वर के मातृ-स्वरूप की अमृत छवि देखनेवाली हिन्दू-संस्कृति! □

माता ही पृथ्वी पर ऐसी भगवती है, जिसके कोई नास्तिक नहीं ।

—ई० लेगोव

डॉ० प्रभाकर माचवे

□

मातृशक्ति राष्ट्रशक्ति : आधुनिक भारतीय कविता का साक्ष्य

पूर्व

पूर्व भारत में आधुनिक युग का नवजागरण बंगाल से आया। 'वंदेमातरम्' और 'जनगणमन' इसी भूमि से निकले गान हैं। ऋषि बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मातृभूमि-पूजा के स्वर उनकी अन्य अनेक रचनाओं में उठे हैं। बंकिम ने प्रश्न किया—'के वोले मां तुमि अबले ?' रवीन्द्रनाथ ने भारत को भारततीर्थ कहा और आवाहन किया कि महामानवों के इस महातीर्थ पर—

एशो हे आर्य, एशो अनार्य, हिन्दू-मुसलमान
एशो एशो आज तुमि इंग्राज, एशो एशो खृष्टान
एशो ब्राह्मन शुचि कर मन धरो हाथ सवाकार
एशो हे पतित, होक अवनीत सब अपमानभार
मार अभिषेके एशो एशो त्वरा मंगलघट ह्यनि जे भरा
सबार-पाशे-पवित्र करा तीर्थतीरे

रवीन्द्रनाथ के 'स्वदेश संगीत' में ऐसे सब मातृ-भूमि परक गान संकलित हैं, जैसे "हे अमार देशेर माटी, तोमार घरे ठेकाई माथा !" आदि। रवीन्द्रनाथ का गीत 'सोनार बांगला' स्वाधीन बांगलादेश का राष्ट्रगीत बना। "जदि तार डाक शूने केऊ ना आशे, तबे एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे !" गांधीजी की आश्रम भजनावलि का प्रतिदिन प्रार्थना का प्रिय गीत बना। भारतीय जन-नाट्य आंदोलन (इप्टा) ने 'बाँध भेंगे दाओ, बाँध' अपना प्रधान संघगीत चुना।

अतुल प्रसाद सेन ने "ऊठ गो भारत लक्ष्मी ! ऊठ आदि जगत्-जन-पूज्या !" गान रचा और 'त्रिशतिकोटि नर-नारी' को 'भारत-श्मशान' को 'पुनः कोकिलकुंजित कुंज' बनाने के लिए पुकार दी। द्विजेंद्रलाल राय 'मेवाड़ पतन' और 'दुर्गादास' नाटकों के रचयिता ही नहीं थे, राष्ट्रीय कविता के बांग्ला में लोकप्रिय गीतकार भी थे। उनका गान है—"शे दिन ! सुनील जलधि हइते उठिलो जननि ! भारतवर्ष उठिलो निवेशे कि कलरव, शे कि मां भक्ति, शे कि मां हर्ष !" इस गीत में मातृभूमि को 'जय मां जननी ! जगत्तारिणी ! जगद्धात्री !' और 'जगन्मोहिनी' कहा गया है !

काजी नजरुल इस्लाम ने तो 'चल् चल चल्' जैसे कई क्रांतिकारी 'चलन-गीत' (मार्चिंग सॉंग) लिखे। 'अबेलार डाक' में उन्होंने लिखा—

'मा गो आमार शक्ति कोथाय पथ-पागले धरे राखार ?'

'मा र श्री चरणारविंदेषु' कवितायें कहा--शून्य नाहि रहे कभू माता ओ विधाता !'

बुद्धदेव वसु ने भी भारत-विभाजन पर एक मार्मिक कविता प्रतीकवादी शैली मे लिखी थी। असम की भाषा असमिया में चंद्रकुमार अगरवाला और अम्बिकागिरि राय चौधरी ने राष्ट्रीय रचनाएं दी हैं। अम्बिकागिरि की कविता—'जाग, जाग, जाग' में यह प्रेरणादायी पंक्तियाँ हैं—

जाग, जाग, जाग, भारत-सन्तान हिन्दू-मुसलमान जाग
...जाग वराह-मिहिर, रवना, लीलावती, कालिदास, भवभूति, माघ
...जाग प्रेमविभोरा गोपिका मधु-मुरली की पहचान जाग !
...जाग मातृ-चरण पूजा की बलि में लाखों पुत्रों का जीवन-दान
...जाग भारतमाता का गौरव-रवि मिटा सभी कालिमा निशान !

नलिनीबाला देवी ने 'परम तृष्णा' जैसी कवितायें लिखीं—

आज ही की नहीं तुम मेरी, सुन्दर धरती
जन्म-जन्म की, हो युग-युग की तुम मेरी
अनन्त काल की शांति-निवास-गेह मेरी
हो स्वप्न-लीला भूमि तुम अतीत की।

ओड़िया भाषा में आधुनिक जागरण के एक अग्रदूत मधुसूदन राव (१८५३-१९१२) ने 'वसंत गाथा' कविता में लिखा—

महान् समुद्र की महान् प्रणव झंकार
शंख के मंद्रनाद युक्त घोष में अनवरत रूप से सुनाई देती है
अनन्त अपार सिंधु मेरा महात्म्य है
मेरा अंतर अनन्त के नाद में नादमय है
...अविद्या के प्रमाद में, हे पथिक, क्या तुम पागल हो गये हो
तुम किस प्रकार अपनी जन्म-भूमि की बात भूल गये ?
...जगत् में सारी अमृत-संतानों को जगाओ !

उत्कलमणि गोपबंधु दास (१८७६ से १९२८) ने 'भापा और देशभक्ति' निबंध में अनेकता में एकता के सूत्र एक आर्य-सभ्यता और संस्कृत भापा की महत्ता के विपय में कहा था—"कैसे भारत देश में देशभक्ति की प्रतिष्ठा होगी ? कुछ लोग दूसरों की ओर देखते हैं और केवल पश्चिम के ऊपर भरोसा रखते हैं। कन्या-कुमारी से हिमालय के साथ कोई संपर्क है ऐसा सोचने का समय-समय पर साहस ही नहीं हो पाता है। परंतु विशेपता यह थी कि मूल आर्य-सभ्यता मेरुदण्ड के रूप में रहती थी। क्रमशः शूरसेन या महाराष्ट्र के आर्य-जनों के साथ मगध के आर्यो के पार्थक्य का जन्म हुआ। प्रादेशिक स्वातंत्र्य बढ़ता गया, केवल संस्कृत भापा और वैदिक भाव ही इस सारे स्वातंत्र्य में सुदृढ़ एकता रख सका और आज तक रखता है।"

पश्चिम

भारत के पश्चिम में महाराष्ट्र, गुजरात, सिन्ध के वासी रहते हैं। उन प्रदेशों की आधुनिक कविता का साक्ष्य मातृभूमि के स्वाधीनता-आन्दोलन में अद्‌भुत साहस, निर्भयता और वीरश्री युक्त बलिदान का है। छत्रपति शिवाजी और उनके रणबांकुरों ने 'हिन्दू पदपादशाही' के लिए कई रण-संग्राम किये। उनकी वीर-गाथाओं से प्रेरित होकर अनेक कवियों ने लिखा। वासुदेव वामनशास्त्री खरे (१८५८ से १९२४) की उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में लिखी 'जन्मभूमि' कविता है, जिसमें वे कहते हैं : "जब मैं छोटा था, तब तुम्हारे अंक में खेलकर तृप्ति पाता था। उसी अंक में बड़ा बनता गया।" और—

निःसत्त्व निर्धन तुला म्हणतात लोक।
वाटे मला लवहि त्यांत नसे विवेक।।
लक्ष्मीस देह जननाप्रत वारिराशी।
सेवार्थ तो सतत सिद्ध तुझ्या पदाशीं।।

(लोग तुझे निःसत्त्व और निर्धन कहते हैं। पर मेरे विचार में इस बात मे जरा भी विवेक नहीं है। समुद्र से लक्ष्मी का जन्म हुआ। वही समुद्र तुम्हारे चरणों पर सदा सेवा करने के लिए सिद्ध है।)

'विनायक' कवि, जिनका पूरा नाम विनायक जनार्दन करंदीकर (१८७२ से १९०२) "देशभक्तों के लिए बंदिशाला ही प्रासाद है, शृंखलाएँ पुष्पमालाएँ है, शूली ही राजदंड है; मृत्यु उन्हें अमरता देती है।" लिखकर मातृमूर्ति का 'हतभागिनी' के नाम से चित्र खींचते हैं—"वह अपनी हथेली पर माथा टिकाये बैठी है। उसके बाल बिखरे हुए हैं। उसाँसें भर रही है, नयन अश्रुपूरित हैं। उसके वस्त्र जीर्ण और अपूर्ण हैं। दरिद्रता के कारण वह निरन्न है। आकाश की छाया

के नीचे है। वह इसलिए दुखी है कि वह गुलामी में है। उसके बच्चे आपस में लड़ रहे हैं।" स्वातंत्र्य वीर विनायक दामोदर सावरकर (१८८३ से१९६६) प्रसिद्ध क्रांतिकारक और १८५७ को 'प्रथम स्वाधीनता-संग्राम' कहनेवाले इतिहासकार बड़े सशक्त कवि भी थे। उन्होंने १९०९ में जहाज पर एक कविता लिखी—"हे सागर मेरे प्राण तलफला रहे हैं। मुझे पुनः मातृभूमि की ओर ले चल!" उसमें वे लिखते हैं—

> शुक पिंजरि वा हरिण शिरावा पाशीं। ही फसगत झाली तशी।।
> भूविरह कसो सतत साहूं या पुढतीं। दशदिशा तमोमय होती।।

(जैसे तोता पिंजड़े में या हिरन पाश में फँस जाता है। वैसे हमलोग गुलामी में पड़े हैं। मातृभूमि का विरह अब मैं सहन नहीं कर सकता। दसों दिशाएँ अंधेरी लग रही हैं।) अपनी माता को अबला कह कर फँसाया। इस अब्धिभूमि को अब डरना चाहिए—"अबला न माझिही माता" (बंकिमचन्द्र के "के बोले मा तुमि अबले ?" की यह प्रतिगूंज है) में अगस्ति बनकर इस समुद्र को सोख जाऊँगा, ऐसी कवि की प्रतिज्ञा और अटल विश्वास है।

अनेक राष्ट्रभक्त कवि मराठी में हुए। दुर्गा प्रसाद तिवारी ने बड़े 'पोवाडे' लिखे। साने गुरुजी ने जेल में 'पत्री' नामक काव्यसंग्रह लिखा, जिसकी सब कविताएँ प्रकाशित करने पर सरकार ने 'बंदी' लगा दी। बोरकर ने 'प्रहात्यायन' काव्य रचा।

सन् १९३२ में नारायण केशव बेहरे (१८९०-१९५८) ने 'सप्तर्षि' नामक एक १६ पंक्तियों की कविता लिखी, जिसके कारण उन्हें जेल जाना पड़ा। कविता जब्त हुई। उसमें केवल एक ध्रुवपद था—सप्तर्षि आकाश में आनन्द से चमक रहे हैं। और सात बलिदानी वीरों के नाम श्लेष से गुंफित थे। उदाहरणार्थ राजगुरु, सुखदेव, भगत सिंह के नाम यों थे —

> रामदास गुरु राजा या। आत्मत्याग प्राण त्याचा। केसरी।।
> जरि सुखासि मानी देव। मातृपर्वी वाही जीव। आपुला।।
> राष्ट्रास। प्राण वाहिले। धन्य जाहले।।
> सातवें सात। स्वातंत्र्यदेविचे भगत। सिंह हे।।

आनन्दराव टेकाडे (१८९० से १९६५) का 'हा हिन्द देश माझा' हर बच्चे के जबान पर गूंजनेवाला गाना १९२१ में लिखा गया। हरिहर गुरुनाथ सलगरकर (कुंजविहारी) (जन्म-१८९६) ने 'नौ महीने के बाद मैं मिलूंगा', ऐसा माता को आश्वासन देनेवाले, फाँसी पर जानेवाले शहीद की आर्त वाणी पद्यबद्ध की १९२३ में। वह कविता बहुत ही लोकप्रिय हुई। उसमें की कुछ पंक्तियाँ थीं—"माँ मैं तुम्हारी शपथ लेकर कहता हूँ। मैं मृत्यु से नहीं डरा हूँ। मुझे गीता का सारा

उपदेश याद है। देह नश्वर है। मुझे केवल इसका दुख है कि नौ महीनों तक मैं तुम्हारी सेवा नहीं कर सकूँगा"—

तुज सांगत से शपथ छेड़नी आई। मरणाला भ्यालो नाहीं।।
मनि आठवते शीगीते ये सार। की नश्वर तनु जाणार।।
तव से वेला अंतरलो मी जननी। मेटे न नई महि दानी।।

यही भावना, बाद में वि-वा-शिरवाडकर (उपनाम 'कुसुमाग्रज', जन्म-१९१२) की प्रसिद्ध रचना 'क्रांतीचा जयजयकार', जो १९३९ में लिखी गई, उसमें इन पक्तियों में है (गद्य अनुवाद दे रहा हूँ)—

हे मेरे श्वास, वायु के साथ दीवार लांघकर जा
और मां से जाकर मेरे हृदय की वेदना बता
ये तुम्हारे पागल बच्चे बेड़ियों से बंधे हाथों से तुम्हें ही प्रणाम कर रहे है।
...मां तू आँखें आंसुओं से नम मत कर, अपना उज्ज्वल मस्तक लेकर चल।

रात के अंधेरे के गर्भ में ही आगामी काल का उपःकाल छिपा है।"

ये कुछ रचनाएँ नमूने के तौर पर दी गई हैं।

गुजरात तो राष्ट्रीय कविता का गहवारा रहा है। कवि नर्मद की ओजस्वी वाणी से अनुप्रेरित, गुजरात में नानालाल ने 'हिन्दुओं की पड़ताई' लिखी। बाद में झवेरचंद मेघाणी, उमाशंकर जोशी सभी राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेनेवाले प्रसिद्ध कवि गाँधीजी के विचारों से प्रभावित हुए। कवि राजेन्द्र शाह की एक कविता है 'पुण्य भारत भूमि'। उसके प्रथम और अन्तिम छन्दों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है :

जयति-जयति जय पुण्य भारत भूमि, सागर, शुभ्र अम्बर।
जयति जय-जय ऋतु नियंता, जय विधाता, शंभु शंकर।।
जय उदयगिरि पर मनोहर तेजपूरित उदित स्वर्णिम सूर्य है।
जय समुज्ज्वल चांदनी से धवल यामिनि विधु सुधारस पूर है।।
जयति जय-जय दिव्य सज्जन, संत द्युतिधर, मुदित किन्नर।
जयति जय-जय पुण्य भारत भूमि, सागर, शुभ्र अम्बर।।
जयति जय-जय निम्न उन्नत शूद्र और विराट संतति सर्व है।
जयति-भूत-भविष्य अनुक्षण मोद पूरित नित्य नूतन पर्व है।।
जयति जय-जय गत-अनागत-, क्षण विवर्तन नित निरन्तर।
जयति जय-जय पुण्य भारत-भूमि, सागर, शुभ्र अम्बर।।

सिन्धी में भी अनेक राष्ट्रीय विचारधारा के कवि और गद्यकार हुए। हेमू कालाणी जैसे शहीद विदेशी वस्त्र-बहिष्कार अन्दोलन में सन् '३० में हुए। एक प्रसिद्ध कवि हुंदराज दुखायल की 'राष्ट्रीय गान' कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं —

"जहाँ प्रताप, शिवाजी, गुरुगोविन्द पैदा हुए, वहाँ तुम बेवस और लाचार बनकर कैसे रह सकोगे ? जब नारी भी मैदान में उतर आई है, तब तुम्हारे लिए संवेदनहीन पाषाण बनकर रहना उचित नहीं है। हम डेढ़ सौ सालों से कायर, कमजोर रहे। उसकी सजा हम पर गुलामी का जुल्म बनकर आई। यदि हमने जी-हजूरी में सिर झुकाया, तो हमारा कपाल फकीर का कशकोल होकर रह जायेगा। उठो, जागो, होशियार बनो। तुम्हें सुनहला मौका मिला है।"

दक्षिण

दक्षिण भारत की चारों समृद्ध, प्राचीन द्राविड़ भाषाओं में मातृपूजक गीत विशेष रूप से लिखे और गाये गये। देवी-पूजा दक्षिण का प्राचीनतम उपासना मार्ग है। उसी शक्ति में परा-शक्ति और मातृ-भूमि शक्ति एकाकार हो गयी। तमिल के 'सुब्रह्मण्य भारती' ने 'भारत समुदायम्' नामक प्रसिद्ध गीत में, भारत समाज की जय, जय-जय !' टेक लिखा—"एक व्यक्ति यदि भूख से तड़पे। उठ, कर दें ध्वस्त जगत् को। हाँ हम कर दें ध्वस्त जगत को !" (यही भाव इक़बाल ने "जिस खेत से दहकाँ को मयस्सर नहीं रोटी। उस खेत के खोशए-गंदुम को जला दो" में लिखा दो दशक बाद) भारती ने गीता के वचन को उद्धृत कर भारतमाता की विश्वात्मकता पर जोर दिया—

> कृष्ण ने कहा—सब में मेरा
> वास ; सर्व - प्राण हूँ
> ...भारत कह दे सकल विश्व को
> हाँ ! हाँ ! कह दे सकल विश्व को
> भारत समाज की जय, जय, जय !
> सभी एक कुल एक जाति के
> भारत की ही प्रजा हम सभी
> सभी एक स्थिति एक मूल के
> इसी देश के प्रभु हैं हम सब

सुब्रह्मण्य भारती प्रकृति और ब्रह्मांड में उसी महाशक्ति का नृत्य देखते हैं। यही सृष्टि, पालन, संहार की अधिष्ठात्री है।

क्रांतिकवि भारती दासन ने भी अपनी रचना में लिखा—"हाय ! वह मर रही है। उसे बचाओ। हे मेरी सुन्दर भूमि ! प्यारे देश ! जगत में तुम्हारी जो महत्ता है, उस उत्तम सुन्दर नदी को, प्राण समान पर्वत को और मधुधारा बहाते हुए उपवन को तमिल कविता में गाने की मेरी बड़ी कामना अभी पूरी नहीं हुई है। मेरा देश स्वर्णभूमि बनकर जिये। एकाधिकार का निरंकुश

स्वस्व गगन से गिरनेवाली लूक के समान मिट्टी में गिर जाये। . . मेरा रुधिर सारे प्यारे देश की मिट्टी में लीन हो जाये !"

तेलुगु आंध्र की भाषा है, जिसमें उनके राष्ट्रीय कवि गुरजाड़ अप्पाराव ने कहा था—"देशभंटे मिट्टी कादोय ; देशभंटे मनुपुलोय" (देश का अर्थ मिट्टी नहीं : देश का अर्थ है सब मनुष्य)।

दुव्वूरि रामिरेड्डी (१८९५ से १९४७) में "महात्मा गाँधी" नामक कविता मे भारत की नारी-शक्ति के जागरण पर अपने पाँचवें छन्द में लिखा—"असूर्यं-पश्या कोमल नारियाँ जो अपने महलों की देहलियाँ तक पार कर बाहर नहीं आती थीं, आज विजयशंखरव करते हुए चारों दिशाओं मे सत्याग्रह मंत्र का उपदेश दे रही हैं।"

गाडियारम् वेंकट शेषशास्त्री ने शिवाजी द्वारा मुगल कन्या को सुरक्षित वापिस करने की घटनापर कविता लिखी है, जिसमें भारतीय नारी की महिमा के विषय में वे लिखते हैं—"नारियाँ इस भारतभूमि पर विचरण करनेवाली पुण्यदेवियाँ हैं। हे माता ! हमारे अपराध क्षमा करो।"

"हरि, हर और ब्रह्मा को सद्योजात शिशु बनाकर पालने में झुलानेवाली पुरंध्री-रत्न (अनसूया)।

"यम के पास तोड़कर, पतिभिक्षा ग्रहण करनेवाली पावन चरित्रा (सावित्री)।

"धधक उठनेवाली अग्नि के बीच में पुष्पराशि की भाँति शोभित होनेवाली साध्वी मल्लिका (सीता)।

"पति के हितार्थ भगवान् सूर्य को उदित होने से रोकनेवाली पवित्र वधू (सुकन्या)।

भारत की ये पतिव्रताएं अनल के ज्योतिष्पुंज हैं, जिनके निकट पापाचरण की बुद्धि से उपसर्पण करनेवाले अस्तव्यस्त और नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।"

यह कहकर शिवाजी ने यवनकांता को बीजापुर वापिस भेज दिया। इसी भाव की एक पंक्ति मराठी कवि भास्कर रामचन्द्र ताँबे में मिलती है कि "पापाची स्मृति राहिली जारे मनी पाहून ती सुंदरी" ('स्त्री को नमस्कार है' नामक कविता का शीर्षक है)।

मलयालम कविता में महाकवि वल्लत्तोल ने (१८७९-१९५८) 'मेरे गुरुदेव' नाम से गांधीजी पर एक लंबी कविता लिखी थी, जिसमें वे लिखते हैं—

> शुद्ध स्वर्ण ही उपजाता है
> उस धर्म-कर्षक का सत्कर्म—प्रत्येक भूमि में !
> उस सिद्ध की आँखें स्वर्ण को भी
> इस भूमि की पीली मिट्टी जैसा देखती हैं।

उस महाविरक्त के लिए, संपूज्य साम्राज्य श्री भी
चामर-चलन के द्वारा दांत दिखानेवाली पिशाचिनी है।
गीता को जिस भूमि ने जन्म दिया
वही इस प्रकार के कर्मयोगी की प्रसविनी बन सकती है।
गंगा नदी जिस भूमि में प्रवाहित होती है, उसमें ही
उग सकता है मंगल-फल देनेवाला ऐसा कल्प-पादप !

कन्नड़ में बी. एम. श्री कण्ठय्या ने कन्नड़ भाषा को ही 'कन्नड़-कन्या' कहकर कविता में इस शक्ति की तुलना बाहर से आई अंग्रेजी भाषा से की है—"जिसमें पहले मां का दूध पीकर ललक से जिसमें तुतलाकर, मित्रों सहित जिसमें बड़ा हुआ, वह भाषा कौन-सी है ? जिसमें प्रिया के प्रेम का द्वार खोल दिया, वह भाषा कौन-सी है ? कन्नड़ भाषा हमारी कन्या है, मानो वह हमारे बाग का मीठा फल है, अब दूसरी कन्या जो और कहीं पली है, हमारे यहाँ आई है।. .एक का गहना दूसरी को पहना कर मैंने चाहा देखना, एक का बाना दूसरी को पहनाकर चाहा मैंने गाना।" इस दुविधा का दोटूक उत्तर कु. वे. पुट्टप्पा ने अपनी अंग्रेजी विरोधी कविता में दिया है।

उत्तर

उत्तर भारत में कश्मीरी में कृष्ण राजदान ने 'उपवन के माली आ' कविता में लिखा—

"चमन के माली ! आ, नये बहार की शान पैदा कर कि फूल खिलें।
चमन उजाड़ है, शबनम आँसू बहा रही है।
उपवन में बिच्छू-बूटी को पनपने न दे। यह फूलों के लिए विनाश की जड़ है।
उपवन में पंछी बोल रहे हैं, मगर उनकी बोली अलग-अलग है। इनके आह्वान में एकता का प्रभाव पैदा कर।"

'सीमांत चौकी' गुलाम नबी 'खयाल' की कविता है, जिसकी मार्मिक पंक्तियाँ हैं—

जिसकी मिट्टी तक बारूद
दूर सीमांत के एक निर्जन कोने में
कल,
रक्त से भरा मेरा तन,
मेरे दोस्त दफन कर देंगे !
मेरा तन—जिसने मेरे वतन से प्यार किया...
उस एकांत कोने में यदि तेरा कभी जाना हुआ
शालिमार के चिनारों की ठंडक वहाँ तेरा स्वागत करेगी

. . .पैरों से जो धूलि स्पर्श करोगे, उसमें गुलाब खिले होंगे
जो पग धरोगी, वह फूलों पर पड़ेगा——
. . .उठकर जब वहीं मेरी ओर अंतिम दृष्टि डालेगी
तो एक बेनिशान पुरानी कब्र तेरे पैरों का चुम्बन करेगी——
ऐसे उजाड़ में तू देखेगी एक नया कश्मीर जन्म ले चुका है।. . . .

एक दूसरे आधुनिक कश्मीरी कवि गुलाम रसूल 'नाज़की' ने 'कितआ' (चार पक्तियों का पद्य) लिखा है :——

धरा को, धन को, उपवन को, भवन को
सुखों, कष्टों, दुखों के घोर धन को
अयाल और माल को, भाई और बहन को
हजारों ईश हैं मेरे नयन को !

गुलाम अहमद महजूर ने 'कृपकवाला' (ग्रीसकूर) के गीत गाये हैं।

पंजाबी भाषा में अपनी धरती को माता मानते और उसकी रक्षा के लिए प्रयत्न करने का स्वर गुरु नानक से (१४६६-१५३६) बराबर चला आ रहा है। वे लिखते है कि——

मेरे लालजी तेरा अंत न जाना ।।
तू जलथल महीअल भरपूर लीना तू आप सर्व समाना ।।
मन तराजू चित तुला मेरी सेवा सर्राफ बनाया।
घट ही भीतर सों प्रिय तोलूं इस विधि भित्र समाया ।।

गुरु गोविन्द सिंह ने उसी धरती माता की रक्षा के लिए कहा——

देह शिवावर मोहि इहै सुभ करमन ते कबहूं ना टारौ।
ना डरौ अरि सों जब जाइ लरौं निसचे करि अपनी जीत करौ ।।
अर सिख हौं अपने ही मनको इह लालच हउ गुण तउ उचरौं।
जब आव की अउध निदान बने अति ही रण में तब जूझ मरौं ।।

उन्होंने 'देउरा' और 'मसीत' को एक माना, 'अल्लाह' और 'अयंरव' को, पुरान और कुरान को एक माना। सबमें एकही तत्त्व है——'निआरे निआरे देसन के भेस को प्रभाउ' मात्र है।

भाई वीरसिंह ने (१८७२-१९३७) 'कवि रंग' सुन्दरता कविता में, इस प्रकृति में, धरती और पर्वत, झील और समुंदर, बिजली और इंद्रधनुष में, पंछी और तारों में सर्वत्र उसी एक शक्ति को पहचाना और सराहा है। प्रो० पूरनसिंह (१८८२-१९३१) ने 'देशनूं असीस साडी गरीबाँ दी' कविता में स्पष्टतया लिखा——

जियें तेरे मजूर और मजूरनियां,
जियें सभी काम करनेवाले,
जियें तेरे महल उसासे वाले,
साथ ही वे जो ईंट पकड़ाते हैं सिर पर रख कर,

गारा चढ़ानवाले ऊँची-ऊँची छतों पर,
...बड़े-बड़े काम करो छोटे-छोटे हाथों से
...कदम-कदम, मैं हूँ तुम्हें
ओ देश के प्यारे लाल-लाल बधाइयाँ।

अमृता प्रीतम की कविता में इस धरती से गहरा प्रेम आरंभ से दिखाई देता है। 'अधिकार' नामक अपनी एक पुरानी कविता में उसने लिखा था—

ज़ार ने इस जमीन के टुकड़े-टुकड़े किये
...लाखों सीमाओं के अधिकार पैदा हुए
....
धरती रोई। धरती के बासी रोये
पर ये ताने-बाने इतनी आसानी से टूट नहीं सके
वह ख़ूं-रव्वार ज़ार फिर ना जागे
जिसने धरती की गर्दन मरोड़ी और तोड़ी
और ज़मीन का चप्पा-चप्पा काटा जैसे कड़बी
जिसने ज़िंदगियाँ काटी और कूटी जैसे अनाज की बालियाँ
...पर आज जनता अपने अधिकार जान गई है
...अब खेत किसानों के हैं.....

पजाबी के कवि प्रो० मोहन सिंह और अनेक तरुण कवियों ने इसी धरती की एकता और अखंडता के गीत गाये हैं। विभाजन का घोर विरोध अपनी कलम से किया है।

उर्दू में यही भावना डॉ० मुहम्मद इक़बाल के प्रसिद्ध 'तराना-ए-हिंदी'—सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा—में मिलती है, जिसमे उन्होंने हिंद-भू की महानता इन शब्दों में गाई थी—

यूनान-ओ-मिस्र ओ-रूमा सब मिट गये जहाँ से।
अब तक मगर है बाकी नामो-निशाँ हमारा॥
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे-ज़माँ हमारा॥

इकबाल ने 'हिमालय' पर एक सुन्दर कविता लिखी है, जिसमें उसे 'पासबाँ अपना है तू, दीवारे-हिन्दोस्ताँ है तू" कहा गया था।

वही भावना रामप्रसाद 'बिस्मिल' ने 'सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है' कविता में 'ऐ शहीदे-मुल्को-मिल्लत तेरे जज्बों के निसार' में व्यक्त की और 'दूर तक यादे-वतन आई थी समझाने को' १६२६ में 'वंदेमातरम्' पत्र में कविता लिखी। इसी देशभक्ति के प्रेम से काकोरी षड्यंत्र केस के शहीद अशफ़ाक़उल्ला खाँ 'अशफ़ाक' ने लिखा—

वतन हमारा रहे .... और आजाद।
हमारा क्या है अगर हम रहे न रहे॥

ब्रजनारायण 'चक्रवस्त' ने लिखा, जिन्होंने 'एक लाशा बेकफन है हिन्दोस्ताँ हमारा' भी लिखा था—

ऐ खाक हिन्द तेरी अजमत में क्या गुमाँ है
दरिया-ए-फैजे-कुदरत तेरे लिए रवाँ है
...इस खाके दिलनशीं से चश्मे हुए वो जारी
चीनो अरब में जिनसे होती थी आबयारी

'जोश' मलीहाबादी ने अपनी ओजस्वी कविता में लिखा कि आप बादशाह बनकर ताजपोशी कर रहे हैं। मुबारक हो आपको, पर हिन्दोस्ताँ का क्या हाल आपने कर रखा है—

आपके हिन्दोस्ताँ के जिस्म पर बोटी नहीं
तन पर इक धज्जी नहीं है, पेट में रोटी नहीं

मख्दूम मुहीउद्दीन ने गाया—'कहो हिन्दोस्ताँ की जय! जानिसार 'अख्तर' ने लिखा—"वतन के नौजवानों में नये जज्बे जगाऊँगा! मैं उनके गीत गाऊँगा, मैं उनके गीत गाऊँगा!!"

आनन्द नारायण मुल्ला ने 'जमीनें-वतन' कविता में लिखा—

जमीनें-वतन ऐ जमीनें-वतन
अजल में जहाँ सबसे पहले हयात
लिए अपनी आगोश में कायनात
जलाती हुई शम्म ए जात-वस्वास
हजावें अदम से हुई जलवाजन
—जमीनें-वतन...

जहाँ बिस्तरे-बर्फ से मस्ते-ख्वाब
उठा आँख मलता हुआ आफ़ताब
लुटाती हुई जलवा ए बे-नकाब
जहाँ आई पहली सुनहरी किरन
—जमीनें-वतन..

तेरे को हो दरिया जमाले-आफरीं
तेरी वादियाँ रश्के खुल्दे-बरीं
किसी ने तुझे यों बनाया हसीं
कि जैसे सँवारी गई हो दुल्हन
—जमीनें-वतन...

तुझे झूलते-बावरी की क़सम
तुझे अस्मते-पद्मिनी की क़सम
तुझे खाके पानीपत की क़सम
फिर एक बार दिखला जलाले-कहीं
—जमीनें-वतन।

'सागर' निजामी ने अपने 'तराना' में लिखा—'ऐ वतन, ऐ वतन, ऐ वतन ! जानेमन, जानेमन, जानेमन' से शुरू करके आखिरी बंद में—

ये सितारे यह निखरा हुआ आसमाँ
आसमाँ से हिमालय की सरगोशियाँ
यह तेरी अजमतों का अटल राजदाँ
मुस्तकिल मुअतबर महतशयाँ जावदाँ
इसकी चोटी से मजलूम दुनिया को फिर
हम-पायामे-हयात वफ़ा देंगे हम,
हम मुहब्बत का नग़मा सुना देंगे हम
हम जमाने को जीना सिखा देंगे हम

हिन्दी में तो राष्ट्रीय कविता की बड़ी सशक्त परंपरा रही है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और माधव शुक्ल, माखनलाल चतुर्वेदी और मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', 'मिलिंद' और सोहनलाल द्विवेदी, श्यामनारायण पाण्डेय और बलवीर सिंह 'रंग', रामधारी सिंह 'दिनकर' और भवानी प्रसाद मिश्र तक पचासों बड़े राष्ट्रीय कवियों की भारतमाता और मातृशक्ति पर अनेक सशक्त रचनाएँ मिल जायेंगी।

श्यामलाल पार्षद ने 'कौमी झंडा' गाने में लिखा था—

विजयी विश्व तिरंगा प्यारा
झण्डा ऊँचा रहे हमारा
इस झण्डे के नीचे निर्भय
ले स्वराज्य हम अवचल निश्चय
बोलो भारतमाता की जय
स्वतंत्रता है ध्येय हमारा !

चीन और पाकिस्तान के आक्रमण के बाद 'हिमाद्रि तुंग-श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती . . . स्वतंत्रता पुकारती' (प्रसाद) और 'भारति जय विजय करे' (निराला) और 'भारत माता ग्रामवासिनी' (पंत: ग्राम्या) वाली भावना को पुनः एक नया भावोत्थान मिला। बच्चन ने अलकनन्दा की याद कर द्रौपदी के केशों का हवाला देकर भीम-नाद किया। माखनलालजी (एक भारतीय आत्मा) ने लिखा—

भूमि लाड़ से उमग उठी है
हरा-हरा श्रृंगार किये
साँसों में भारत जय-जय को
कुहराता है प्यार किये

सोहनलाल द्विवेदी ने लालबहादुर शास्त्री पर कविता लिखते हुए कहा—

हमारा देश है अपना हमारी जीत है अपनी
बदलने को नहीं तैयार हैं हम नीतियाँ अपनी।

'अज्ञेय' की यह रचना पाक-आक्रमण के बाद की है—

देश के जन-जन का
यह स्नेह और विश्वास
जो हमें बताता है
कि हम भारत के लाल हैं—
वही हमें यह भी याद दिलाता है
कि हमीं इस पुण्य-भू के
क्षिति-सीमान्त के धीर, दृढ़व्रती दिक्पाल हैं।
हमें बल दो, देशवासियो
क्योंकि तुम बल हो—
तेज दो, जो तेजस् हो,
क्षमा दो, सहिष्णुता, तप दो!
हमें ज्योति दो, देशवासियो!

('अज्ञेय' : 'जयघोष' पृ. ३८-३९)

(स्व०) भवानी प्रसाद मिश्र ने लिखा था—

यह क्षण-भी कल्प बने
यदि बरसों एक कल्प में छोड़े साथ बुराई का
यदि स्वच्छ नहीं बनता भाई तो युगों-युगों—
तक, मुक्त-कंठ गाऊंगा गीत लड़ाई का।

इसी मातृशक्ति राष्ट्रशक्ति पर आधुनिक काल में यानी गये १५० वर्षों में इतना कुछ पद्य रूप में लिखा गया है कि उस पर एक बड़ा सन्दर्भ-ग्रंथ बन सकता है। उसके द्वारा विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के कवियों की देशभक्ति संबंधी क्या-क्या अवधारणाएँ और भावनाएँ थीं और हैं, इनका मानचित्र सामने स्पष्ट रूप से आ जायेगा। इसी से पता चलेगा कि इन सब कवियों की राष्ट्रमाता विषयक भावनाओं में क्या-क्या साम्य है, क्या 'जातीय संहति' (राष्ट्रीय एकात्मता) या 'कौमी यक जहती' का जज्बा इसमें से उभरता है। हमारी शिक्षा-संस्थाओं में इस तरह के एक चुनिन्दा राष्ट्रीय गीत-कविता पुष्पमाला को अनिवार्य रूप से पाठ्यक्रम का अंग बनाना चाहिए। जिसके हृदय में मातृभूमि के प्रति कोई चाह और त्याग का भाव न हो, वह मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में निरा पशु है, वह मनुष्य नहीं है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' हमारा प्राचीन आदर्श रहा है! □

शिशोः शुश्रूषाच्छक्तिमति । स्यान्माननाच्चसा ।

—स्कन्द पुराण

शिशु की शुश्रूषा करने के कारण माता को शक्ति और
सदा सम्मान देने के कारण उसे माता कहते हैं।



[illegible] से प्राप्त ताम्राश्मयुगीन
[illegible] की [illegible] की मूर्ति
([illegible])



मोहनजोदड़ो से प्राप्त
मातृ मूर्तियां
अनुकृतियां श्री जगदीश गुप्त



॥ अजामुखी जैन मातृदेवी ई. प्रथम शती ॥

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

□

मातृदेवी : प्राचीन कला और साहित्य में

मातृदेवी की कल्पना भारत में बहुत प्राचीन है। पृथ्वी को माता के रूप में मानकर उसके प्रति सम्मान की भावना का कथन अथर्ववेद में मिलता है—"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" (भूमि माता है और मैं उसका पुत्र हूँ)। मोहन-जोदड़ो, हड़प्पा आदि स्थलों की खुदाई में मिट्टी की कुछ मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, जो मातृदेवी की प्रतिमाएँ मानी जाती हैं। मेसोपोटामिया में भी ऐसी प्राचीन मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। वहाँ मातृदेवी की पूजा "पर्वत-देवी" के नाम से प्रचलित थी। इस पूजा का रूप प्रायः वैसा ही था, जैसा दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश में प्रचलित शिव-पार्वती-पूजा का रूप प्रागैतिहासिक युग की भी कई देवी-मूर्तियाँ मिली हैं।

भारत में ऐतहासिक काल की मातृदेवी की प्रतिमाएँ अधिक प्राप्त हुई हैं। बिहार के नन्दगढ़ नामक स्थान से सोने की एक लघु प्रतिमा मिली थी, जो मातृ-देवी की मूर्ति मानी जाती है। यह मौर्यकाल के पहले की है। मौर्यकालीन मिट्टी की अनेक प्रतिमाएँ भारत के विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं। मथुरा, कौशांबी, अहिच्छत्रा, बक्सर, सरढेरी, चरसढ्ढा आदि स्थानों से इस प्रकार की मृण्मूर्तियां मिली हैं। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों से प्राप्त मातृदेवी की प्रतिमाओं की तरह मौर्यकालीन मिट्टी की मूर्तियां भी प्रायः नग्न दिखायी गयी हैं। उन

मूर्तियों की नाक चपटी है, आँखें प्रायः गोल हैं, जिन्हें ऊपर से चिपका दिया गया है। किसी-किसी के कंठ पर माला मिलती है और सिर के ऊपर पंखे की शक्ल-जैसी शिरोभूषा होती है। इन प्रतिमाओं के स्तन संकुचित हैं तथा कमर पर पतली मेखला है। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो की मूर्तियों में कला का आदिम रूप देखने को मिलता है। कुछ मूर्तियां बेडौल हैं।

मौर्यकालीन मिट्टी की मूर्तियों में कला का विकसित रूप दिखायी पड़ता है। मथुरा तथा कौशांबी से प्राप्त अनेक मूर्तियां उल्लेखनीय हैं। मथुरा से प्राप्त मातृदेवी की प्रतिमाओं की संख्या काफी बड़ी है। ये तीन प्रकार की हैं : पहले ढंग की मूर्तियां हाथ से गढ़ी हुई हैं। दूसरे प्रकार की मूर्तियों में सिर सांचे से निर्मित है, शेष भाग हाथ से। तीसरे ढंगवाली समूची मूर्तियां सांचे से बनायी गयी हैं।

पहले प्रकार वाली मूर्तियां सबसे पुरानी हैं। उनकी नाक चपटी तथा आँखें चौकोर हैं। किसी-किसी में चेहरे का आकार-प्रकार जानवर या चिड़िया जैसा है। सिन्धु घाटी से प्राप्त मातृदेवी की मूर्तियों से ये मिलती-जुलती हैं। दूसरे वर्गवाली मृण्मूर्तियों की मुखाकृति लम्बी है। उनके कानों के मोटे दुहरे कुण्डल और गले में ग्रैवेयक तथा लम्बा स्तनहार मिलता है, जो मेखला के ऊपर तक लटकता है। हार के मध्य में पोया हुआ बड़ा मनका गहरी नाभि के ऊपर लटकता दिखाया गया है। चौड़ी कमर के ऊपर भारी मेखला है। तीसरे प्रकार वाली प्रतिमाएँ दूसरे वर्ग से मिलती-जुलती हैं, परन्तु उनमें अपेक्षाकृत कला का विकसित रूप दिखाई पड़ता है।

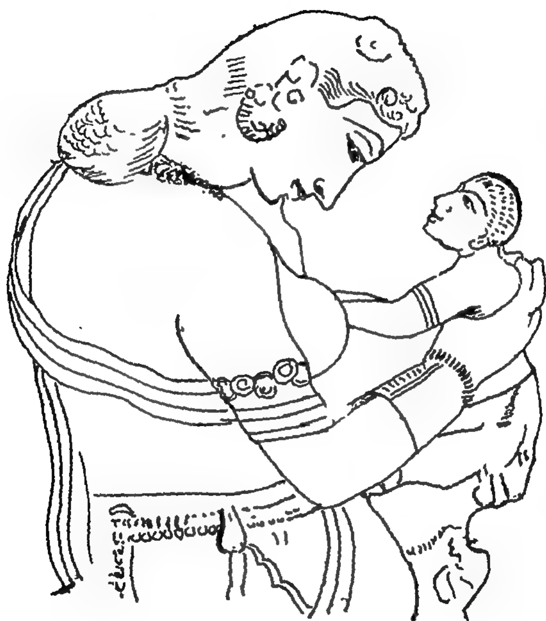
मिट्टी की ये मूर्तियां काले रंग की हैं। कुछ पर काली-चमकीली पालिश भी है। अन्य स्थानों से प्राप्त मातृदेवी की मृण्मूर्तियां काली तथा लाल दोनों प्रकार की हैं। भारत के उत्तर-पश्चिम में चरसद्दा तथा सरढेरी से लाल मिट्टी की जो मूर्तियां मिली हैं, उनका ढंग बहुत कुछ हड़प्पा-मोहनजोदड़ो की मूर्तियों-जैसा है। कौशाम्बी तथा अहिच्छत्रा की मातृदेवी की मूर्तियां मथुरा शैली से मेल खाती हैं। मिट्टी की मूर्तियों के अलावा पत्थर के मौर्यशुंगकालीन बड़े छल्ले उत्तर भारत के कई स्थलों से मिले हैं। उनके मध्य में मातृदेवी की खड़ी आकृति मिली है

उक्त बहुसंख्यक मूर्तियों से ज्ञात होता है कि मातृदेवी की पूजा भारत तथा बाहर के अनेक देशों में प्रचलित थी। वैदिक-साहित्य में मातृदेवी के नाम अदिति, अम्बिका, अम्बा आदि मिलते हैं। बेबीलोन तथा असीरिया में वह नना, इश्तर आदि नामों से पूजित थी। प्राचीन सुमेरु के लोग उसे 'इननिनि' के नाम से पूजते थे।



रानी और राजपुत्र :
मध्यकाल, बदोह
केन्द्रीय पुरातत्व
संग्रहालय, ग्वालियर





॥ माता और शिशु : भुवनेश्वर मन्दिर, ११वीं शती ॥

मातृत्व में ही नारीत्व की पूर्णता है।

—अज्ञात



॥ कौशाम्बी से प्राप्त देवी की मूर्ति : ई. पू. प्रथम शती ॥





मथुरा से प्राप्त
देवी की मूर्त्ति
ई. पू. प्रथम शती







मथुरा से प्राप्त
मातृदेवी की मूर्त्ति
ई. पू. द्वितीय शती

डॉ शतीशचन्द्र काला

मूर्तिकला में मातृत्व

प्राप्त तथ्यों तथा उदाहरणों से ज्ञात होता है कि प्रागैतिहासिक युगीन मानव के जीवन में मातृदेवी की कल्पना उद्भूत हो गई थी। वह उसे निरंतर वंश-चक्र चलाने के प्रतीक के रूप में देखता था। इसी कारण उसे "जननी" संज्ञा भी दी गई है। यूरोप तथा सोवियत देश में पत्थर, मिट्टी, हड्डी तथा हाथी दांत के माध्यम में बनी अनेक लघु मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनका निर्माणकाल दस तथा बीस सहस्र वर्ष के बीच माना गया है। यह कुछ आश्चर्य की बात है कि इतनी प्राचीन कोई भी मूर्ति अभी तक भारत में प्राप्त नहीं हो सकी है।

हमारे प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में मातृदेवी का स्थान स्पष्ट नहीं है। इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का कथन है कि वैदिक आर्यों के स्थानीय संस्कृति के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप ही मातृदेवी को उचित स्थान प्राप्त हो सका। अन्य विद्वानों के मतानुसार वैदिक पुरुष-देवता सर्वोच्च माने जाते थे। परन्तु उनके साथ 'अदिति', 'पृथिवी', 'सरस्वती' तथा 'सिनीवाली' नामक देवियों का भी महत्व था। उत्तर वैदिक काल में देवियों का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो गया। शतपथ ब्राह्मण में 'श्री' मातृदेवी के रूप में उभरकर आईं। महाभारत के अनुसार श्री देवी का संबंध असुरों से था। परन्तु जब असुरों के कुकृत्यों का उसे पता लगा, तो उसने उनका

साथ छोड़ दिया। शतपथ ब्राह्मण का काल सामान्यतया ई० पू० ८ वीं शती माना जाता है।

भारतीय कला में मातृदेवी का सर्वप्रथम अंकन कुछ मुलायम पत्थर के गोल छल्लों में दीख पड़ता है। इनमें वह पशु, पक्षी, वृक्ष तथा लता के साथ चित्रित हैं। ये छल्ले तक्षशिला, रूपड़, मथुरा, कौशाम्बी तथा पटना से प्राप्त हुए हैं। इनका निर्मण मौर्यकाल (ई० पू० तीसरी) शती माना गया है।

इससे पूर्व की कृतियां मिट्टी के माध्यम में हैं। इनमें अधिकांश बलूचिस्तान तथा सिंध क्षेत्र के प्राचीन टीलों से प्राप्त हुई हैं। मृद्भाण्डों के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि इनका निर्माण ई० पू० ३००० के लगभग किया गया होगा। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा (ई० पू० २५००-१७००) नामक प्रागैतिहासिक स्थानों से नाना प्रकार की साज-सज्जा से अलंकृत मातृदेवी की मृण्मूर्तियां मिली हैं। ये प्रधानतया मेसोपोटामिया की शैली पर ही बनी हैं। महाराष्ट्र के इनाम गाँव में मिट्टी की एक पिटारी के भीतर मातृदेवी तथा बैल की मूर्ति मिली है। इसका निर्माण काल ई० पू० १३०० है। बिहार के ओरूप नामक स्थान से भी लगभग इसी काल की मातृदेवी की मूर्ति मिली है। इन दोनों उदाहरणों में देवी का सिर एक ठूंठ मात्र है। संभवतः देवी के विराट रूप को संपूर्णतया अंकित करने में कलाकार सकुचाते थे।

मिट्टी के माध्यम में ई० पू० दूसरी शती (शुंग काल) में देवियों का व्यापक अंकन हुआ। इस काल की सबसे मह:त्वपूर्ण देवी "लक्ष्मी" हैं। पद्मिनी विद्या या कमलपुष्प आच्छादित सरोवर के बीच खड़ी पद्महस्ता लक्ष्मी की कई मृण्मूर्तियां कौशाम्बी, चन्द्रकेतुगढ़, तामलुक, बसाढ़ तथा लौरियानन्दनगढ़ नामक स्थानों में मिली हैं। अन्य देवियों की भी मूर्तियां हैं, परन्तु उनका अस्तित्व मूल तथा स्वरूप अज्ञात है। कुछ उदाहरणों में वह हाथ में पंखा, पक्षी या अंगूर का गुच्छा लिए हैं। एक देवी की शिरोभूषा पर अंकुश, बाण, ध्वज तथा दो अन्य प्रतीक ठूंसे हैं। उसके दोनों पैर खिले कमल पर टिके हैं। कमल पुष्प का सम्बन्ध 'श्री' तथा 'पृथ्वी' से है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण के अनुसार कमल में समस्त विश्व निहित है।

ई० पू० दूसरी शती में वर्त्तमान मध्यप्रदेश के पतौरा नामक स्थान के निकट भरहुत ग्राम में अलंकृत वेष्टनों से घिरा एक महत्त्वपूर्ण बौद्ध-स्तूप था। भरहुत का स्तूप निश्चित ही दक्षिणापथ तथा उत्तरापथ को जोड़नेवाले एक राष्ट्रीय मार्ग पर इस आशय से बनाया गया था कि अधिक-से-अधिक श्रद्धालु वेष्टनी पर अंकित बुद्ध भगवान् के जीवन-संबंधी दृश्यों का अवलोकन कर प्रेरणा प्राप्त कर सकें। बाढ़ के कुछ स्तंभों पर स्त्रियां उकेरी गई हैं। इन आकृतियों में "जननी" के

से संबंधित किसी अज्ञात देवी को ही इंगित करती हैं, वसुंधरा को नहीं।--भारतीय संस्कृति में मीन युगल की बड़ी महत्ता है।

प्रथम शती की एक विचित्र मृण्मूर्ति कौशाम्बी से मिली है। इसमें एक स्त्री बालक को गोद में लिए है। स्त्री के बाएँ एक हाथ पर बिच्छू दीख पड़ता है। मध्यपूर्व की कला में "बिच्छू देवता" का अंकन तो हुआ है, परन्तु किसी भी उदाहरण में बिच्छू के साथ स्त्री नहीं है। सम्भव है अशुभ का निराकार रूप करने के लिए भारत में देवी की कल्पना की गई हो। यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक हो गया कि पत्थर में निर्मित कंकाला देवी की कुछ मध्यकालीन मूर्तियों की नाभि पर प्रायः एक बिच्छू दीख पड़ता है। सम्भवतः इन उदाहरणों में बिच्छू को अंकित कर देवी के भयंकर रूप को प्रदर्शित करने की चेष्टा की गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ई० पू० तथा ई० शती के प्रथम चरण में विचित्र प्रकार की देवियों का अंकन हुआ। किन्तु उनके वास्तविक रूप की पहेली संभवतः कभी नहीं सुलझ पायेगी। दूसरी-तीसरी शती ईसवी से भारत में भक्ति के प्रभाव से पुराणों या महाकाव्यों तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर देवी-देवताओं की अनेक रूपों की मूर्तियाँ बनने लगीं। इनका स्वरूप तथा आकार निर्दिष्ट संकेतों के आधार पर हुआ, इस प्रकार इनकी पहचान में कोई कठिनाई नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ई० पू० तीसरी शती से लेकर दूसरी शती ई० तक देवी का विभिन्न रूपों में अंकन हुआ। ई० पू० शती में देवी का स्वरूप अज्ञात ही है और लम्बी अवधि तक यह समस्या प्रश्नवाचक के रूप में चलती ही रहेगी। ईसवी शती में "भक्ति" के प्रचलन से कला में भी एक नया मोड़ आया। इसके फलस्वरूप अनेक देवियों की मूर्तियाँ बननी प्रारम्भ हुईं। मध्यकाल तक देवियाँ विभिन्न रूपों में पूजी जाने लगी थीं। □



विश्वविख्यात
चित्र शिल्पियों द्वारा
अंकित वात्सल्य
भंगिमाएँ



पिकासो

हैवर



वैग गोग

डॉ० जगदीश गुप्त

□

चित्रकला में माता और शिशु

(भारतीय कला के विशेष संदर्भ में)

स्तनपायी जीवों में मातृत्व का वर्चस्व रहा है। पुरुष भी स्तन चिह्न से रहित नहीं मिलता, जैसे मूलतः दोनों में अभेद रहा हो। सहचरण, सामाजिक प्रतिष्ठा और बीजारोपण का श्रेय भले ही पिता को प्राप्त हो, परन्तु जीवन की प्राथमिक पहचान और ममतामयी छाया के साथ पालन-पोषण का दायित्व सदा से माता को मिलता रहा है। कदाचित् इसलिए पिता-पुत्र से माता-शिशु का संबंध अधिक गहन, आदिम, जटिल, विविधात्मक तथा प्रेरणा-प्रद सिद्ध होता है। शिल्पियों एवं कलाकारों ने अपनी रचनात्मकता विश्वव्यापी धरातल पर "माता और शिशु" (मदर एण्ड चाइल्ड), के अभिप्राय—विशेष के रूप में इस प्रकार विकसित किया है कि वह मौलिकता एवं उर्वरता का कीर्तिमान बन गया है। अमूर्त्त कला ने अवश्य उसको समृद्ध नहीं किया, किन्तु रसाश्रयी, भाव-प्रेरित, प्रतीकात्मक, आदिम, लोकप्रिय, पौराणिक, शास्त्रीय तथा प्रयोगशील सभी कला-परम्पराओं में उसका वर्चस्व एवं महत्व रहा है। जितना विस्तार, जितनी विविधता, जितनी तन्मयता तथा जितनी रचनाशीलता इस अभिप्राय में मिलती है, उतनी मेरे विचार से किसी भी अन्य कला-अभिप्राय में नहीं मिलती। "माता और शिशु" कहूँ या "मातृत्व" मात्र कहूँ मेरे द्वारा निर्मित मेरे ही आवास में केन्द्रीय स्थान रखनेवाला वह चित्र मुझे सीधे अपनी परम्परा से जोड़ लेता है। जैसे

गंगा के तट पर कई दशकों से रहते हुए मैं उसके प्रवाह का सतत अनुभव करता हूँ, वैसे ही वात्सल्य-भाव की अनुभूति भी मेरे भीतर मातृमूर्ति के रूप में सदा सक्रिय रही है। मैंने उसका दर्शन कर अपनी मां के स्वरूप में प्रत्यक्ष अनुभव किया है, क्योंकि उसकी छाया मुझ पर अभी तक बनी हुई है। पिता का अभाव उनके अस्तित्व ने बहुत कुछ दूर कर दिया, यद्यपि चिता पर सोये हुए अपने पिता के जाग जाने की अनुभूति मुझे बहुत काल होती रही। धीरे-धीरे उसका पर्यवसान मेरे मातृ-भाव में हो गया, अन्ततः जिसे मैंने कालिदास की वाणी में पा लिया—

भिन्नमूर्तें सिसृक्षया
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।

कला में मातृ-मिथक का आदिम रूप

जैसा कहा जा चुका है मानवीय संबंधों में सबसे अधिक जीवन्त, स्मरणीय तथा प्रेरक संबंध माता और शिशु का ही है, जिसके चारों ओर आदिम मातृ-मूलक समाज तथा उससे असंख्य बिम्बों को एकसूत्र में पिरोता हुआ महान् मातृ-मिथक विश्वव्यापी सत्ता रखता है। विकास की दृष्टि से मातृत्व मनुष्यता का पर्याय दिखायी देता है, क्योंकि ममता, दया, करुणा, माया तथा सुरक्षा एवं पुष्टि की सभी कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ उसी से उद्भूत होती दिखायी देती हैं। पशु-स्तर पर भी मातृत्व आकर्षक तथा आत्मीय भाव उत्पन्न करता रहा है। 'खादेत् क्षुधार्ता भुजंगी स्वमण्डम्' को अपवाद माना जा सकता है। अपने बच्चों को खा जाने वाली सर्पिणी भी अन्ततः "मनसा" और "सुरसा" के नाम से पूज्य हुई। बौद्ध-धर्म में इसी तरह हारीती पूजनीय मान ली गयी, जबकि उसका प्रारंभिक रूप शिशु घाती था। अम्बिका, महामाता, आदि-माता अथवा परा-माता के रूप में संसार भर में मातृ-मिथक को निरन्तर मान्यता मिली है। "मिथक दर्शन का विकास" नामक अपनी पुस्तक में डा० वीरेन्द्र सिंह ने पाश्चात्य ग्रंथों के आधार पर अनेक संदर्भ दिये हैं, जिनमें कुछ उल्लेखनीय हैं, विशेषतः सामूहिक अवचेतन प्रसंग में यह कथन—

"दूसरे शब्दों में इनका संबंध प्रत्येक व्यक्ति से है, जैसे 'माता' का अस्तित्व जन्म लेना, सूर्य का ताप और उसकी अपार शक्ति, मृत्यु आदि की घटनाएँ. . .। सामूहिक अवचेतन की अनेक प्रकार की अभिव्यक्तियाँ ऐसी भी हैं, जो मानव संस्कृति में इतनी महत्व की हैं कि उन्हें सांस्कृतिक प्रक्रिया से अलग नहीं किया जा सकता है। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण नायक या "हीरो" की भावना है, जो अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अनेक बाधाओं पर विजय प्राप्त करता है, सृष्टि की भावना, निरपेक्ष पाप और पुण्य की भावना तथा सभी,व्यक्तियों की "परम माता"

की भावना—ये सभी तत्त्व प्रतीक और मिथ के सृजन में अपना योगदान देते रहे हैं। ये सभी भाव या विचार तर्कनाशक्ति से अधिक अनुशासित नहीं रहते और इसी से ये स्वप्न में रूपान्तरित होते हैं और चेतन "फैन्टेसी" में वाष्पीकृत हो जाते हैं।"

इन विचारों को युंग की "साइकालॉजी आफ द अनकान्शेस" डेविड फॉक्स की "माडर्न साइकालॉजी" तथा सूसन के लेंगर की "फिलासफी इन ए न्यू की" के अनुशीलन द्वारा समन्वित किया गया है। "महामाता" के मिथक को भी इसी सामूहिक अवचेतन का प्रतिफल माना गया है, जो अचेतन की गहनता और शक्ति से तन्तुरूप में जुड़ा है। उसके स्वरूप को निरूपित करते हुए कहा गया है—

"महान माता" के भाव के चारों ओर जो तत्व एकत्र हुए हैं, उनका संबंध मानव अनुभव से है, विशेषकर "मानव-मातृत्व" से है और दूसरी ओर पृथ्वी पर आश्रित हमारे जीवन की अनेक दशाएँ जिसने "पृथ्वी माता" और "प्रकृति माता" को अभिव्यक्ति प्रदान की। मातृदेवियों की कल्पना के पीछे भी इसी प्रक्रिया का स्वरूप प्राप्त होता है और धीरे-धीरे महान माता का मिथ एक पवित्र और दिव्य रूप में विकसित हुआ। धरती माता का एक अन्य रूप भी है, जो प्रत्येक वस्तु को अपने अन्दर समेट लेती है, जो उसके भयानक रूप को समक्ष रखती है। ऐसी भयानक देवियों की कल्पना अनेक संस्कृतियों में प्राप्त होती है, जैसे काली, दुर्गा आदि। "माता" के इस रूप को भयानक, निगलने वाला रूप भी कहा गया है, जो अनेक भयावह प्रस्थापनाओं की सृष्टि करता है, जो माता के अन्दर पूर्ण रूप से आश्रित होने की भावना को व्यक्त करता है।"

(मिथक दर्शन का विकास, पृ० २३-२४)

ऐसी भयावह मातृकल्पना को कोमल और हिम-शीतल रूप साहित्य ने दिया है। "मृत्यु" को जननी के रूप में प्रसाद तथा महादेवी दोनों ने चित्रित किया है—

मृत्यु अरे चिर निद्रे तेरा अंक हिमानी-सा शीतल

—कामायनी

जब यह धूल भरा हो आया।
चंचल जीवन-बाल मृत्यु जननी ने अंक लगाया।

महादेवी द्वारा गीत को चित्रमय रूप भी दे दिया गया है। —दीपशिखा

"महामाता" के आदि रूप में यातु मूलक शक्ति (मैजिकल प्रोज) का सन्निवेश भी मिलता है, पर चित्रण में अधिकतर पुरुषों को यातुधान के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जो बहुधा मुखाच्छादन धारण किये रहते हैं। मुझे प्रागैतिहासिक

एवं आदिम संदर्भ में किसी ऐसी मातृ-मूर्ति या मातृछवि का स्मरण नहीं आता है, जो मुखौटा लगाये हो। यह तथ्य मेरी दृष्टि से महत्वपूर्ण है, क्योंकि माता के उदात्त व्यक्तित्व से इसकी संगति सिद्ध होती है। संस्कृति और इतिहास तथा कला के क्षेत्र-विस्तार में कब कहाँ कौन-सा उदाहरण मिल जाय, यह कहा नहीं जा सकता। तथापि मेरी अपनी जानकारी इसी ओर प्रेरित करती है। जहाँ तक भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रकला का संदर्भ है मुझे भयानक मातृ-कल्पना किसी अपदेवी के रूप में लक्षित नहीं हुई। जो उदाहरण मिले हैं, वे वात्सल्य तथा स्नेह भाव से युक्त मिलते हैं। उनमें पारिवारिकता तथा आत्मीयता का स्पष्ट सन्निवेश है। कृषि-युग से पूर्व की शिशु सहित मातृ छवियाँ प्रायः अनुपलब्ध हैं। लोक-साहित्य एवं लोक-कला इस अभाव को कुछ दूर तक पूरा कर देती है। नारी का अनेक चेहरों भरा शृंगारिक और वात्सल्य रूप मातृत्व की परिधि में आकर सौम्य हो गया है। राग की प्रगाढ़ अनुभूति उसे माधुर्य के साथ वत्सलता से ऐसी संयुक्त कर देती है, उसे खंडित करके देखना प्रायः असंभव हो जाता है।

विदेशी प्रागैतिहासिक चित्रकला जो अधिकतर आदिम आखेट युग से संबद्ध है तथा तीस-चालीस हजार वर्ष तक की व्याप्ति रखती है, माता और शिशु के संयुक्त चित्रण अथवा मूर्तन के क्षेत्र में कोई उत्साह प्रदर्शित नहीं करती, पर मातृ रूपा सुन्दरी जिसे "वीनस" कहकर मध्यकालीन यूनानी धारणा का व्यंग्यात्मक आदि रूप बताया गया है, वह माता रूप में अवश्य सुन्दर लगता है। स्तन-युग्म के साथ श्रोणी भार की ऐसी कल्पना कालिदास को भी सुलभ नहीं हो सकी। "शृंग-धारिणी" हो अथवा "कुंचित-केश-धारिणी" हो उसकी आकृति आदिमतम महामाता ही प्रतीत होती है। शिशु को उनके पुष्ट भारावनत पयस्विनी रूप में अन्तर्हित माना जा सकता है बिना शिशु के ही उसकी पृथुल नारी देह मातृत्व को सार्थक करती दिखायी देती है। कलाकार के मंच में उसकी कल्पना बिना मातृ रूप की मानसिक धारणा एवं प्रतीति के असंभव लगती है।

लोक-कला में मातृत्व

लोक-कला में ज्यामितिक आकृतियाँ आयतों, त्रिभुजों तथा वृत्तों की आवृत्ति से स्वतन्त्र छवि उत्पन्न करती हैं, जिनमें अलंकरण की सहजता मिलती है। जैसे "जिरोती" के चित्रों में पूरी कल्पना उसी से उपजी लगती है, अतः अलंकार अलग से आरोपित नहीं लगते जैसा मध्यकालीन शास्त्रीय एवं परम्परित कला में मिलता है। इस विशेषता में उसका साम्य प्रागैतिहासिक चित्रकला तथा बाल-कला

से समशील प्रतीत होता है। शास्त्रीय कला का स्वाद सौन्दर्य बोध के स्तर पर भिन्न अनुभव देता है। लोकतत्व के कारण राजस्थानी तथा पहाड़ी चित्रकला में माता शिशु का रूप नितान्त शास्त्रीय होने से बच गया है। उनमें पौराणिकता भी लोक-भूमि का संस्पर्श करती हुई निजी छवि उभारती है। फलतः लोक-कल्पना पौराणिकता से प्रभावित न होकर पुराण की मानसिकता का सजीव स्रोत स्पर्श कराती है। कुछ ऐसी ही स्थिति मधुबनी के चित्रों में भी मिलती है, जो ठेठपन को ग्रामीण सुन्दरता के साथ कल्पना वैचित्र्य का चटका स्वाद देते हैं। उस मनोलोक में जहाँ वह अनादि काल से [illegible] ग्रहण करती रही है। पुराण का एक सिरा वेद को छूता है, तो दूसरा लोक का संस्पर्श करता है और तत्वज्ञों ने इस धरातल पर वेद का उत्स पुराण को माना है, उस पुराण को जो कभी अष्टादश नामों में विभाजित नहीं हुआ था और न उपपुराणों की ही कल्पना हुई थी।

प्रागैतिहासिक कला और लोक-कला में यह तत्व सूत्र निरन्तर लक्षित होता रहा है। माता और शिशु के सन्दर्भ में जननी गायों से शिशुओं का सहज नाता रहा है, जो मानव-संदर्भ में उसी तरह [illegible] हुआ है, जैसे सवत्सा धेनु के बिम्ब से वात्सल्य रस तक की यात्रा उसने साहित्य में पूरी कर डाली। जैसे पशु-जगत् के मिथकीय अनुभव ने कामधेनु के पौराणिक तथा कल्पनात्मक बिम्ब की सृष्टि की, उसी तरह वह कला से साहित्य में पहुँच गया। शायद यह कहना अधिक उचित होगा कि लोक-साहित्य और लोक-कला दोनों की जड़ें लोक-विश्वासों तथा प्रागैतिहासिक चित्रकला से जुड़ी दिखायी देती हैं। कुछ कल्पनाएँ दोनों में विशिष्ट मिलती हैं, जैसे दोनों कलाओं पर धायी-धात्री की शिशु आकृतियाँ उस आदिम रूप की झलक दिखाती हैं, जो आश्रम में आकर [illegible] लव-कुश की माता सीता बन गयी। सीधे दोनों को जोड़ना संभव नहीं।

महामाता का पवित्र कौमार्य और दिव्य शिशु का जन्म

अवतारी अथवा असाधारण व्यक्तित्व के जन्म "[illegible]" के सन्दर्भ [illegible]
यह मिथक धर्म-भावना के [illegible]
हर माता अपने शिशु के जन्म की घटना को [illegible]
अकल्पनीयता तक पहुँचा देना चाहती है, जिसकी कोई सीमा नहीं है। [illegible]
की धारा का एक सजीव [illegible]
एक ऐसा अनुभव है, जिसे कोई दूसरा कभी नहीं पा सकता। "[illegible]
स्त्री-पुरुष की जिस [illegible]
एक सांस्कृतिक उपलब्धि की [illegible]

स्वयं निःशेष हो जाती है। कामदेव को भस्म शेष होने पर भी पुनः जिलाने की विवशता ऐसी ही स्थिति का सामना करने के लिए उद्‌भूत हुई होगी। इसे पुराणकार ने संभव बनाया या किसी कविर्मनीषी आर्ष व्यक्तित्व ने, यह कहना कठिन है। व्यास जैसे व्यक्तित्व में दोनों तत्व घुले-मिले दिखायी देते हैं, क्योंकि उतनी गहरी रचनानुभूति का संस्पर्श किसी भी युग की विभाजित मनःस्थिति द्वारा कदापि संभव नहीं है। व्यास ने इसीलिए अनेक माताओं की सृष्टि की है, जो कौमार्य की अवस्था में अपने तेजस्वी पुत्र या पुत्रों की जननी बनकर सांस्कृतिक दृष्टि से भारतभूमि को कृतार्थ कर गयी हैं। कुन्ती को तो पंच-कन्याओं में विशेष स्थान मिला ही है। ईश्वरीय अनुग्रह से अथवा देवयोनि के प्रतीक-पुरुष के संसर्ग से जो शिशु उसके मातृत्व को कृतार्थ कर गया, वह उसे अपवित्र कैसे बना सकता है? इसी विश्वास पर वर्जिन मेरी और ईशु को ईसाई मत में विश्वव्यापी प्रतिष्ठा मिली, जो आज भी मान्य है। इसका आदिम स्वरूप इसी मिथक से उपजता है, जिसमें किसी भी परिस्थिति में कोई भी माता जन्म देने की दैवी शक्ति रखने के कारण कभी अपवित्र नहीं होती। हर जन्म नारी को पुनः कौमार्य से विभूषित कर देता है, भारतीय स्मृतिकारों ने भी कहीं इस तथ्य को स्वीकार किया है। जन्म की क्रिया-प्रक्रिया मूलतः बालक-बालिका के अन्तर को महत्व नहीं देती, किन्तु मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि में नारी स्वयं माता बनकर पुत्रैषणा को वरीयता देने लगती है। नारी से नारी की सृष्टि में संभवतः वह असाधारण वैचित्र्य नहीं मिलता, जो नारी से पुरुष की सृष्टि में।

सूर्य में मातृत्व का बीज

पृथ्वी को माता और आकाश को पिता मानकर अनेक आदि जातियों ने अपनी सृष्टि-रचना विषयक धारणाओं को पूज्य और प्रेरक मानकर लोक-साहित्य और लोक-कला को जन्म दिया है, जिसकी छाया महाकाव्यों तक फैली दिखायी देती है। भारतीय मानस में सूर्य-वंश और चन्द्र-वंश की धारणा कुछ इसी तरह की पौराणिकता से उत्पन्न हुई होगी, जिसमें पृथ्वी और आकाश का संबंध अनादि काल से स्थिर प्रतीत होता है। चन्द्रमा का प्रकाश वस्तुतः सूर्य से ही निष्पन्न होता है अतः प्रकाश का बीज उसी में माना जाता है। भारतीय चिन्तन ने सूर्य और आकाश से भी ऊपर उठकर सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल अथवा "अणोरणीययान् महतो महीयान्" को अपने में समाहित करनेवाले अनिवर्चनीय अस्तित्व के बोधक शब्द "ब्रह्म" का "इनफिनिटी" के अर्थ में आनयन किया जिससे बड़ी कोई कल्पना मनुष्य की बुद्धि द्वारा संभव नहीं है।

सारी सृष्टि इस अविनाशी एवं चिरन्तन धारणा के अविभूत होने से काव्यमय लगने लगती है।

"देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति" ऋषियों ने उसमें एक शाश्वत सौन्दर्य देखा, जो विविध सूक्तों के रूप में प्रकट हुआ। यह वस्तुतः मनुष्य की निजी रचनाशीलता का प्रतिविम्ब है, जो "प्रकृति सृष्टि" के रूप में देखता है तथा उसके स्रष्टा की खोज में आज तक प्रवृत्त रहा है।

मौलिकतावादी अथवा जड़तामूलक पदार्थवादी दृष्टि जो आज ज्ञान और विज्ञान को अपनी असाधारण उपलब्धियों के बल पर कला और साहित्य को गौण बनाती जा रही है, वस्तु सत्य नहीं है, क्योंकि "तथ्य" और "सत्य" में मूलभूत अन्तर होता है। तथ्य मनुष्य निरपेक्ष हो सकता है, पर सत्य बिना मनष्य के खंडित हो जाता है। मनुष्य ही यह उद्घोषणा करने में समर्थ हुआ कि सत्य और पूर्णता अविभाज्य है।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

अन्य संस्कृति में भी मातृ-शक्ति के विश्वव्यापी स्वरूप की कल्पना मिलती है। विशेषतः सूर्य से प्रेरित होने या उसको उत्पन्न करने की क्षमता रखने वाली "ओसीरिस" का मिथक इसका महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है। उसके विषय में यह विवरण अवलोकनीय है, क्योंकि पिरामिड से जुड़ी पुराण कथा का वह एक केन्द्रीय संदर्भ है।

"मिस्री मिथकों में ओसीरिस" का मिथक इसी प्रकार का है, जो व्यक्तित्व रूपान्तरण को समक्ष रखता है और साथ ही ड्रैगन संघर्ष के द्वारा हीरो-मिथ को एक ऐसा आयाम देता है, जो ओसीरिस की प्रतिभा को आध्यात्मिक ऊर्जा का प्रतीक बना देता है।

इस कथा से मृत्यु पर विजय पानेवाली आध्यात्मिक शक्ति का रूप सामने आता है। भारतीय संदर्भ में बालकों में नचिकेता और सतियों में सावित्री की गणना की जाती है, जिनमें बोध और तप की शक्ति का असाधारण प्रसार चित्रित किया गया है फलतः वे कला और साहित्य के मान्य विषय बन गये हैं।

"ओसीरिस" की कथा में इस अलौकिक शक्ति का रूपान्तरण घटित होता है, जो सूर्य (रा) को अपने अन्दर समाहित करने से उसे मिली है। एक प्रकार से मिस्री भाषा में सूर्य और "ओसीरिस" दोनों पर्यायवाची शब्द हो गये हैं। यही नहीं "ओसीरिस" की आध्यात्मिकता उसके स्वयंभू रूप को आस्था का विषय बनाकर चली हैं और मिस्री-कला को उससे अभूतपूर्ण प्रेरणा मिली है। भारतीय धारणा के विपरीत मिस्र ने शरीर और आत्मा में कोई भेद प्रदर्शित नही किया। इन्द्र के प्रसंग में दो देहात्मवादी दृष्टि से ऊपर उठने का संदर्भ उपनिषद् में जिस

संस्कृति की बात करता है, वह असुर संस्कृति से सम्बद्ध है और कदाचित् मिस्र देश तक उसका विश्वास-वृत्त फैला था। हो सकता है कि उसी केन्द्र से यह विचारधारा भारत तक आई हो। भारतीय कला प्राचीन और मध्ययुगीन विकास में कभी देहात्मवादी नहीं रही, पर इधर भौतिकवादी सम्मान उसे अपने आस्थावान् पथ से विचलित कर रहा है। कम कलाकार आत्मा की वरीयता को सृजनात्मकता के क्षेत्र में आस्था का विषय मान रहे हैं, जब कि आज भी अनुभूत सत्य यही है, ऐसा मुझे लगता है।

कविता और कला ही मनुष्यता की मातृभाषा है

विज्ञान विश्लेषण के सहारे जितनी दूर तक पहुँच पाता है, उसकी सीमा उसे पुनः संश्लेषण की ओर प्रवृत्त करती है। यह क्षेत्र रचनाधर्मी मनुष्य का है; जो अपनी रचना में समाये अस्तित्व को मातृत्व में सार्थक मानता है। उर्वरता उसका स्वभाव है और सजीवता उसकी सार्थकता। यही दोनों गुण उसे मातृत्व से जोड़ते हैं। नारी कितनी भी सुन्दर क्यों न हो, जो सौन्दर्य उसे जननी पद प्राप्त होने पर मिलता है, वह अप्रतिम होता है। वाल्मीकि ने राम के द्वारा इसी स्वर्गिक सुख को अपनी वाणी में इस प्रकार से मूर्तिमान किया है कि वह भारतीय संस्कृति का सहज-स्वाभाविक स्वतः सिद्ध वाक्य मान लिया गया है।

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

अर्थात् जननी और जन्मभूमि दोनों एक जैसी गरिमा से मण्डित रही हैं और दोनों अपने में स्वर्ग से भी अधिक महिमा रखती हैं। इसमें निसर्ग-पूजक वैदिक धारण "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" का सनातन संस्कार लौकिक भाषा में अवतरित हुआ है और उसने अपनी व्याप्ति में जननी और जन्मभूमि को जड़-चेतन का अतिक्रमण करते हुए जिस अभेद की भूमिका प्रदान की है, वह विज्ञान से नहीं कला और साहित्य से उपजती है, वही मनुष्य को सच्चे अर्थों में संस्कारवान बनाती है। कविगुरु कालिदास ने अपनी सांस्कृतिक दृष्टि में नारी-सौन्दर्य की चरम सार्थकता उसके जननी भाव में मानी है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने विज्ञान से अधिक कला और साहित्य की भाषा को कहीं अधिक मानवीय और उपादेय माना है, क्योंकि वह विभाजित तथ्यों की जगह अखंड सत्य का अन्वेषण और निरूपण करती है। उसका स्तर ज्ञानात्मक न होकर प्रज्ञात्मक होता है। मातृत्व को गौरव देकर मनुष्य ने वस्तुतः अपनी बहुविध संस्कारशीलता को महत्व दिया है। समाज में पितृ-प्रधान योजना अपना कर भी इसका संस्कार माता को वरीय मानने के लिए सहज रूप से प्रेरित हुआ, उसे गौण स्थान देना उसकी चेतना को स्वीकार नहीं हुआ, इसी में उसकी अस्मिता

झलकती है। जो समाजिक विसंगतियाँ भारतीय समाज में उत्पन्न हुईं और आज भी समस्या के रूप में जीवित हैं, उनका निदान वहुत कुछ मातृ-भावना से हो सकता है, यह अनेक महिमामयी नारियों के उदात्त चरित से प्रत्यक्ष जाना जा सकता है। दर्शन, अध्यात्म, धर्म, समाज-सेवा और यहाँ तक कि राजनीति को भी उसका वरदान मिला है, यह सुविदित है। गोर्की की 'मदर' जैसे अन्ततः प्रगति-पथ को अपनाती है वैसे ही यह विशेपता भारतीय साहित्य और कला में भी मूर्तिमान हुई है।

मातृत्व के प्रतीक-रूप में कला की चेतना और मर्यादा

हर कलाकार अपना विकास अपने में निहित अन्तःशक्ति तथा सृजनात्मक प्रतिभा के अनुरूप करता है, जिस पर उसक वैसा ही अधिकार होता है, जैसा माता को नवजात शिशु पर। माता शिशु को जन्म देती है, पर उसके स्वरूप का साक्षात्कार वह स्वयं तभी कर पाती है, जव वह प्रकट रूप में सामने आ जाता है। गर्भस्थ शिशु की प्राक्जन्म पीड़ा तथा आनन्द उसका निजी अन्तरंग अनुभव होता है, जिसका समाज से सीधा वास्ता नहीं होता। कलाकार को भी इस सुख-दुखात्मक अनुभव से गुजरना होता है। स्वतः स्फुरित सौन्दर्यात्मक रचना-गुण बाहर से आरोपित नहीं किये जा सकते। कला-शिक्षा की एक सीमा होती है और उसकी सार्थकता भी मातृत्व के आदर्श को मानकर चलने में प्रस्फुटित होती है। क्रय-विक्रय की विशेपता अपनाकर भी अन्ततः यह कहना संभव नहीं कि कला का मूल्य अर्थ से निर्धारित करना सवसे अधिक श्रेयस्कर मार्ग है, वस्तुतः प्रेरणा और भावना के विना कोई मूल्यांकन स्थायी मान्यता नहीं प्राप्त कर पाता। बुद्धि-प्रधान प्रयोगशील तथा अमूर्त कला की तुलना में भाव-प्रधान तथा मूर्तन सापेक्ष कला अधिक लोकग्राह्य होती है और मान्यता की दृष्टि से भी भारतीय कला ने उसे विशेप स्थान दिया है। प्रतीकात्मकता, लयात्मकता, व्यंजनात्मकता तथा जाग्रत स्वाभिमान के लिए निरंतर संघर्ष से जुड़ी कला सांस्कृतिक तथा सौन्दर्यात्मक मूल्यों का संरक्षण तथा विस्तार करती है, इसके विपरीत अनुभूतिमूलकता, कृत्रिमता, दिखावटीपन तथा अपने को बेचने के लिए विना संघर्ष के तत्पर मानसिकता से उपजी कला संस्कारहीनता का परिचय देती है। कभी-कभी लगता है कि ऐसा प्रतीत ही नहीं होता वरन् वस्तुतः अनुभव में भी आता रहता है और आगे उसकी प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है। मातृत्व की प्रतिष्ठा कला-जगत् में व्याप्त मूल्यहीनता का प्रतिवाद करने के साथ-साथ मूल्यान्वेपण का मार्ग प्रशस्त करता है और कलाकार की शिशुता को वयस्कता की ओर ले जाता है। उसकी दिशा विकृति से कृति की ओर जाती है और कृति से सुकृति की ओर 'यद वै सुकृतं रसो वै सः।' 'आत्म संस्कृतिर्वाव शिल्पानि' की उपलब्धि का यही मार्ग है। □

मातृत्व दीर्घ तपस्या है।

—प्रेमचंद



आधुनिक चित्रकारों की
तुलिका से अंकित
मातृत्व की विविध
अनुभूतियां



माधव मनवलेकर



शीलोज मुखर्जी



के एम कुलकर्णी



दमयन्ती चावला

डॉ० गयाचरण त्रिपाठी

वेदों में मातृतत्त्व की अवधारणा

नैसर्गिक सुषमा के सुरम्य एवं मनोहारी परिवेश के बीच जब आदि-मानव ने अपनी आँखें खोलीं तो उसने पाया कि प्रकृति का स्नेहभरा, ममतामय हाथ उसको सहला रहा है। सुकोमल हरी घास का बिछौना उसके लिए तैयार है। स्थान-स्थान पर रसीले फल उसे प्रकृति ने उपलब्ध कर रखे हैं और उसकी तृषा शांत करने के लिये मीठे जल के झरने कल-कल करते हुए चारों ओर बह रहे हैं। प्रकृति के इस स्नेह और ममत्व से आप्लावित मानव हृदय ने उसमें ममतामयी माँ की परिकल्पना की और इसको वैदिक भाषा में 'विराज्' (विराट्) की संज्ञा प्रदान की। यह विशाल और अनन्त प्रकृति ही वेदों में 'विराज्' (स्त्रीलिंग) शब्द से वाच्य है, जो संपूर्ण प्राणियों को अपने अन्दर से उत्पन्न करती है और फिर अपने ही तत्वों अथवा उपकरणों से उनका लालन-पालन करती है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (१०।१२९) में सृष्टि की उत्पत्ति में कारणभूत मूल स्त्रीतत्त्व को "महिमा" कहा गया है 'रेतोधा आसन् महिमान आसन्.....' तो इसी 'विराज्' को बाद में सांख्यदर्शन में "महत्' (=महान्) की पारिभाषिक संज्ञा प्रदान की गई है, जो संपूर्ण भूतों एवं प्राणियों का आदि कारण है। ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त (१०।९०) में आदि पुरुष या पुरुषोत्तम से सर्वप्रथम 'विराज्' की उत्पत्ति वर्णित की गई है और उससे फिर संसारी जीव उत्पन्न होते हैं—

तस्माद् विराळजायत, विराजो अधि पूरुषः।

अथर्ववेद में इस विराज् को काम की पुत्री एवं धेनु बताया गया है—

सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते
यामाहुः वाचं कवयो विराजम्। (९।२।५)

और अ० वे० ८।९ में कहा गया है कि यह विराज् रूपी धेनु समस्त प्राणियों के लिये अपने थनों से अमृतरूपी दुग्ध का स्रवण करती है। 'काम' सृष्टि का आदि जनक मूल कारण है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि... (ऋ० वे० १०।१२९)।

ईश्वर के हृदय में जब सृष्टि उत्पन्न करने की कामना या इच्छा जन्म लेती है, तभी सृष्टि उत्पन्न होती है। उपनिषद् कहते हैं कि ईश्वर ने कामना की कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ—

सोऽकामयत एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय...।

अतः विराज् (सृष्टि) काम की पुत्री है। साथ ही अथर्ववेद के उक्त उद्धरण में उसे 'वाक्' भी कहा गया है। विद्वान् और क्रान्तदर्शी ऋषि उसे 'वाक्' की संज्ञा प्रदान करते हैं। ऋग्वेद की सर्वाधिक शक्तिशाली देवी का नाम है—वाक्। दशम मण्डल का १२५वां सूक्त वागम्भृणी-सूक्त कहलाता है। इसमें वाक् अपना परिचय देती हुई कहती है कि 'मैं ही संपूर्ण जगत् की अधीश्वरी, चिन्मयी तथा देवों में श्रेष्ठ हूँ। मैं ही संसार के मूल जनक ब्रह्म को अपने से उत्पन्न करती हूँ। मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि, रुद्र एवं त्वष्टा आदि देवों को मैं ही अपने सत्त्व से धारण करती हूँ और उनकी शक्ति का सारा स्रोत भी मैं ही हूँ। मैं इस पृथ्वी एवं आकाश में अन्दर तक व्याप्त हूँ, किन्तु इनसे ऊपर हूँ और अपनी महिमा से स्वर्गलोक का स्पर्श करती हूँ—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि अहमादित्यैरुत विश्वेदेवैः।
अहं जनाय समदं कृणोमि अहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततोवितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यांवर्ष्मणोपस्पृशामि॥

इससे स्पष्ट है कि वैदिक काल में सृष्टि की उत्पादिका, सर्वसामर्थ्यशालिनी शक्ति के रूप में वाक्‌रूपी मातृदेवी की प्रतिष्ठा सर्वत्र हो चुकी थी। बाद में चल कर हम मार्कण्डेय पुराण में सन्निविष्ट दुर्गासप्तशती में पाते हैं कि देवी को 'चिति' (=चैतन्य) के रूप में सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके अवस्थित कहा गया है—

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥
(सप्तशती ५।३४)

इसके पूर्व १३ वें श्लोक में कहा गया है कि मातृ-शक्ति इस संसार के समस्त प्राणियों में चेतना के रूप में विद्यमान है––

या देवी सर्वभूतेषु चेत्यनेत्यभिधीयते।

ऋग्वेद के वागम्भृणी सूक्त में जो वाक् रूपी शक्ति को समस्त देवों को धारण करनेवाली बताया गया है। उसका आख्यानात्मक निदर्शन हमें दुर्गासप्तशती के द्वितीय अध्याय में प्राप्त होता है, जिसमें कहा गया है कि जब सम्पूर्ण देवों का तेज एकत्र हुआ, तो उसने एक नारी का रूप धारण किया और अपने प्रकाश से संपूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर लिया––

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेव शरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥ (२।१२)

इससे स्पष्ट है कि देवों का तेज मातृ-देवी के तेज का एक अंश मात्र है। सब देवता मातृ-शक्ति के अंशमात्र से कार्य करते हैं। जब सब देवों का तेज वापिस आकर परस्पर एकत्र और घनीभूत हो जाता है, वह फिर वही नारी रूप ग्रहण कर लेता है।

वेदान्त में ब्रह्म को 'चिन्मय' कहा गया है। सत्, चित् और आनन्द से मिल कर उसका स्वरूप बनता है, किन्तु वस्तुतः उसकी चित्-शक्ति मातृस्वरूपा है। इस शक्ति के माध्यम से ही गुण-कर्मविहीन ब्रह्म सृष्टि रचना में समर्थ होता है और स्वयं भी निर्गुण से सगुण रूप धारण करता है।

देवताओं की जननी होने के कारण आदिशक्ति, जगन्माता की वेद में एक संज्ञा "अदिति" भी है। अदिति का अर्थ है––अनन्तता, निस्सीमता। काल एवं दिक् की अनन्तता को ही अ-दिति (बन्धन-हीनता, सीमा-हीनता) की अभिधा प्रदान की गई है। अदिति संपूर्ण देवताओं की माता है, क्योंकि देवता अमर हैं, वे अनन्तता और नि:स्सीमता के पुत्र हैं, उनसे उत्पन्न हैं। मनुष्यों की भाँति उनका अस्तित्व समय और स्थान-सापेक्ष नहीं है। वे हर समय, हर स्थान पर रहते हैं। अदिति के पुत्रों को वेदों में 'आदित्य' की संज्ञा प्रदान की गई है। अदिति अपने इन पुत्रों को मधुयुक्त दुग्ध (पीयूष) अथवा अमृत (अमरता) का पान कराती है––

येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हा (ऋ. १०।६३।३)

निस्सीमता की इसी अवधारणा के कारण वेदों में कहीं-कहीं पृथ्वी को भी 'अदिति' कहा गया है––भूमिर्माता अदितिर्नो जनित्रम्, अर्थात् भूमि हमलोगों को उत्पन्न करनेवाली माता अदिति (अनन्तविस्तारयुक्त) है'। अथर्ववेद २।२८ का ऋषि माँ अदिति की गोद में सौ वर्ष तक सुखपूर्वक खेलते रहने की प्रार्थना करता है। अदिति विस्तारशील (पप्रथाना) तथा संपूर्ण वस्तुओं को अपने में धारण करनेवाली

(आवपनी) है। वह 'मही' (बड़ी), 'बृहती', 'उरूची' (विस्तृत) तथा 'अजरन्ती' है। मातृशक्तिवाची 'विराज्' संपूर्ण सृष्टि का पर्यायवाची है। उसी का दैवी रूप अदिति है और भौतिक रूप पृथ्वी। यही कारण है कि पृथ्वी से गोरूप में विविध प्रकार की वस्तुएँ दुहने का उल्लेख पृथु की पौराणिक कथा में किया गया है।

अथर्ववेद में पृथ्वी की माता के रूप में स्तुति करने वाला एक बहुत सुन्दर, लम्बा सूक्त प्राप्त होता है (१२।१) जिसमें ऋषि कहता है कि भूमि मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ : मेरी यह मां, भूमि मुझे वैसे ही दुग्धपान कराये जैसे, कोई मां अपने बच्चे को कराती है—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः॥

(अथर्व० १२।१।१०,६२)

पृथ्वी की माता के रूप में यह अवधारणा वेदों के अतिरिक्त अन्य प्राचीन जातियों में भी मिलती है—भूमि वह स्नेहमयी माता है, जो प्राणियों को अपने अन्दर से उत्पन्न करती है और फिर उनकी मृत्यु के उपरान्त उनको इसी तरह अपनी गोद में लिटा लेती है जैसे सोये हुए शिशु को मां स्नेह से अपनी गोद में लिटा लेती है। ऋग्वेद का एक मंत्र कहता है कि इस युवती पृथ्वी माता की गोद ऊन के समान कोमल है। यह तुम्हारी विनाश से रक्षा करेगी—

ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात्।

वस्तुतः मातृशक्ति की उपासना विश्व की प्रायः सभी प्राचीन संस्कृतियों में प्राप्त होती है और यह अत्यधिक प्राचीन है। विश्व को उत्पन्न करनेवाली आदि विश्वशक्ति की माता के रूप में कल्पना सबसे सरल, सहज तथा स्वाभाविक है। प्राचीन मिस्र, मेसोपोटामिया तथा ग्रीस आदि में सर्वत्र मातृपूजा प्राप्त होती है। आज ईसाई धर्म में प्राप्त होनेवाली ईसामसीह की मां "मैरी" की उपासना वस्तुतः इसी प्राचीनतर समय से प्रचलित मातृशक्ति की उपासना का ही थोड़ा-सा बदला हुआ रूप है। वैदिक काल में मातृशक्ति की अवधारणा अदिति, विराज् एवं पृथ्वी के साथ तो जुड़ी हुई मिलती ही है, साथ ही लोक-विश्वास की "अम्बिका" नामक एक अन्य लोकप्रिय देवी का भी उल्लेख वाजसनेयी संहिता में मिलता है। "अम्बिका" का अर्थ मां होता है। सौभाग्य एवं पतिप्राप्ति के लिये कुमारियाँ इनकी पूजा किया करती थीं। आज भी विवाह से पूर्व वधू द्वारा अम्बिका-पूजन का विधान है, जिससे एक ओर हमारी परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है, तो दूसरी ओर यह भी प्रमाणित होता है कि कोई एक पुरुष-देवता भारत में सार्वजनीन रूप से उपास्य नहीं हो पाया, किन्तु मातृ-देवी अम्बिका को जन-जन के द्वारा पूज्य होने का सौभाग्य आज भी प्राप्त है। □

अक्षयचन्द्र शर्मा

□

भव्य भारत की ये भास्वर ज्योतिः राशि

(क)

आदि महाकाव्य की ये तपस्विनी मातृ-मूर्तियाँ

आदि कवि महर्षि वाल्मीकि प्रणीत "रामायण" भारत का आदि महाकाव्य है। इस महाकाव्य के प्रथम श्लोक का प्रथम पद है—"तपः" महाकाव्य का इस शब्द से शुभारम्भ है, श्रीगणेश है—यही इसका मंगलाचरण है। प्रथम श्लोकार्थ में "तपः" एवं "तपस्वी" का आना ध्वनि-गर्भ है—

तपः स्वाध्याय निरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।

भारत के लिये, हमारी संस्कृति एवं धर्म के लिये, तप निरा शब्द नहीं है—यह जीवन है, समग्र जीवन-शैली का प्राण-स्पन्दन! "तप" इस महाकाव्य का विराट शीर्षक है, जो आद्यन्त कथानक पर, कथानक को गतिशील करनेवाले भोक्ता पात्रों पर मँडरा रहा है। यह महाकाव्य तपस्या की अग्नि से गुजरता हुआ आगे बढ़ता है। इसके प्रमुख पात्र इसी अग्नि में स्वर्ण की तरह पिघलते-गलते निर्मल-निष्कलुष हो अपनी अमिट छाप छोड़ते चलते हैं।

तप का अर्थ है—स्वेच्छया कष्टों का वरण—किसी सिद्धान्त के लिये, किसी आदर्श के लिये। भारतीय संस्कृति की मूल भित्ति गृहस्थाश्रम है—एक

परिवार है; यही इसका शक्तिशाली घटक है—जो त्याग और तप के ऊपर खड़ा है। रामायण क्या है—एक परिवार की कथा है, जिसमें परिवार की मर्यादा, गरिमा एवं महिमा को अक्षुण्ण रखने के लिये—त्याग, तप और उत्सर्ग की अटूट शृंखला है। भारतीय संस्कृति की यह एक चिरन्तन कथा है, अपने में अप्रतिम, अकेली और अनूठी!

विश्व का इतिहास पद-लिप्सा, राज्य-लिप्सा एवं भोग-लिप्सा के दुर्दमनीय झंझा वेग से प्रकम्पित है—नाम बदलते रहे, भूगोल बदलता रहा, सन्-संवत् बदलते रहे—बात वही एक एषणात्रय का अकाण्डताण्डव! सूच्यग्र भूमि के रक्त-प्लावन—ऐसे इतिहास के बीज हमारे पास रघुवंश की, प्रतापी सूर्यवंश की —यही एक "रामायण" की घटना है—जिसमें त्याग-स्पर्धा है—सभी पात्र कहते हैं—आओ, हमें त्याग में पराजित करो! त्याग की प्रतियोगिता, त्याग के क्षेत्र में, तप के क्षेत्र में, एक-दूसरे को पराजित करने की स्पृहा—ऐसा निःस्पृह इतिहास—फिर कहाँ! भारत ने—हमारी सभी भाषाओं ने, सभी अंचलों ने, सभी बोलियों ने इस कथा को अनेक रूपों, ध्वनियों, छन्दों, स्वरों और रंगों में रूपायित किया है—बदलते युग-सन्दर्भों से जोड़ा है और अपनी अपराजेय कालजयी शक्ति को पुनरुज्जीवित किया है।

एक दृश्य आँखों के सामने घूमता है—सारी वानरी सेना मूर्च्छित है—मृतप्राय है, वृद्ध जाम्बवान कहते हैं—हनुमान्! आओ—मृत संजीवनी, विशल्यकरणी, सुवर्णकरणी और संधानी-महौषधियाँ ले आओ।" वानर—शार्दूल हनुमान्जी ले आते हैं और—

गन्धेन तासां प्रवरौषधीनां
सुप्ता निशान्तेष्विव सम्प्रबुद्धः।

—श्रेष्ठ ओषधियों की सुगन्ध से रात के अन्त में सोकर उठे हुए प्राणियों की भाँति क्षण भर में सभी नीरोग हो उठ खड़े हुए!

—यह कथा ही तो हमारे लिये संजीवनी बूटी है न। जब भी हमारा देश अपसंस्कृति में भटक जाता है, बेहोश हो जाता है, यही इक्ष्वाकुवंश की कोमल करुण ऊर्जा भरी कथा हमारे लिये प्राण बनकर, शक्ति बनकर—नित नूतन तारुण्य की दीप्ति से हमें ज्योतित करती है।

राम की यह कथा—भारतीय संस्कृति का गौरीशंकर शृंग है, हमारे गौरव-मय स्वर्ण सौध का सर्वोच्च कनक-कलश।

रामायण के इन चरित्रों को राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न को—माता कौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी को—चारों कुसुम-कोमला पुत्र-वधुओं—सीता, उर्मिला, माण्डवी, श्रुतकीर्ति को—क्या मिला—किसी को कुछ नहीं मिला, मिली अनन्त पीड़ा,

राम को लगा—मां की इस आज्ञा में मोह है—कर्त्तव्य की दीप्ति नहीं है। राम की दृढ़ता देखकर—अपने आँसुओं को छिपाते हुए कहना पड़ा—"गच्छ पुत्र त्वम्।"

कौसल्या को जब विश्वास हो जाता है कि भरत निर्दोष है, तो वह अपना सम्पूर्ण वात्सल्य भरत पर उँड़ेल देती हैं, कहती हैं—

"वत्स! मैं तुम्हें देखकर जी रही हूँ। श्री राम-लक्ष्मण वन को चले गये, महाराज दशरथ स्वर्गवासी हो गये हैं—एकमात्र तुम्हीं सबके रक्षक हो—

त्वां दृष्ट्वा पुत्र जीवामि रामे सभ्रातृके गते।
वृत्ते दशरथे राज्ञि नाथ एकस्त्वमद्य नः।।

इसके बाद वह अश्रुमुखी मां धैर्य से जीवन को व्यतीत करती है—जीवन दीर्घकालीन तपस्या, एक लम्बी प्रतीक्षा, पुत्रों को देखकर हर्षाश्रु बहाना और फिर प्रगाढ़ वात्सल्यपूर्ण आश्लेष।

इन तीन राजमाताओं के मध्य में गिनी जाती हैं—सुमित्रा! पर, जो किसी गिनती में नहीं—यों महाराज दशरथ के ३५० और भी रानियाँ हैं—व्यक्तित्वहीन-पण्य-राशिमात्र—रामायण की इन विविध घटनाओं के बीच वह कहीं भी स्वतन्त्र रूप से खड़ी नहीं है—सुमित्रा हमें कभी राजमहल में नहीं मिली, पर वह खड़ी है—कौसल्या के पास, सीता के पास, राम के पास—उसने कुछ न किया हो—ऐसा नहीं लगता! सबको धीरज देना, संभालना, घटनाओं को मोड़ देना और संभवतः अन्तःपुर की व्यवस्था के गुरुतर दायित्व को कौशल से निभाना।

पर, हमें सुमित्रा को एक और दृष्टिबिन्दु से परखना है—तभी न्याय्य होगा। सुमित्रा के दो पुत्र हैं—लक्ष्मण और शत्रुघ्न! सुमित्रा अच्छी तरह जानती हैं—राजपद के अधिकारी हो सकते हैं—राम या भरत, पर ये नहीं। सुमित्रा ने इन दोनों को महत्वाकांक्षी नहीं बनाया, कहीं स्वतन्त्र अपना राज्य खड़ा करें—ऐसी आग इनमें उसने नहीं भरी—पर, उस तेजस्विनी मां ने इन दोनों को समर्पणशील बनाया और शक्तिपुंज भी! लक्ष्मण के चरित में हम सुमित्रा को देख सकते हैं। लक्ष्मण का भ्रातृ-प्रेम अद्वितीय है, वह राम की यश के पताका के एकमात्र शक्तिशाली दण्ड हैं, लक्ष्मण जहां भी खड़े हैं—महल में, वन में, युद्ध में—उनके तेज के सामने सब हतप्रभ हैं, वे क्रोधी हैं, चपल हैं, प्रखर हैं, दुदर्मनीय हैं, प्रचण्ड हैं, सच्चे हैं, खरे हैं—जहाँ अन्याय हुआ—उनकी भृकुटी तन जाती है, रदपुट फड़क उठते हैं, पीछे खड़ी नजर आती हैं कर्त्तव्य समर्पिता वीर क्षत्राणी यह सुमित्रा! शत्रुघ्न भरत के पीछे छाया की तरह लगे हैं—उन्होंने अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को भरतमय बना दिया है। भरत जब संन्यासी

कौसल्या सुप्रजा राम पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते।
उत्तिष्ठ नर शार्दूल कर्त्तव्यं दैवमाह्निकम् ॥

—नरश्रेष्ठ राम! तुम्हारे-जैसे पुत्र को पाकर महारानी कौसल्या सुपुत्र-जननी कही जाती हैं। यह देखो, प्रातःकाल की सन्ध्या का समय हो रहा है, उठो और प्रतिदिन किये जानेवाले देव-संबंधी कार्यों को पूर्ण करो।

कौसल्याजी ने कभी नहीं कहा कि उनके पुत्र को युवराज पद पर अभिषिक्त किया जाय। उन्हें राम के युवराज होने का शुभ संवाद मिलता है, वे एक धार्मिक माता की तरह पूजा-पाठ में लग जाती हैं—पुत्र की मंगल कामना ही में मां का मातृत्व है—उनकी सारी याचना में निहित है—पुत्र-मांगल्य। कौसल्या भोलीभाली हैं, उन्हें राजमहलों के दुश्चक्रों एवं दुरभिसन्धियों का जरा भी ज्ञान नहीं, वे तो अपने को भूलकर धार्मिक मंगल कृत्यों में लगी हैं॥ भरत के राज्याभिषेक एवं स्वयं के १४ वर्षों के वनवास की सूचना देने के लिये शान्त गम्भीर राम मां के पास आते हैं—वे आकर देखते हैं—

तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम्।
वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचितं श्रियम् ॥

—वहां आकर उन्होंने देखा, माता कौसल्या! रेशमी वस्त्र पहन मौन हो देवमन्दिर में बैठ कर देवता की आराधना में लगी हैं और पुत्र के लिये राज-लक्ष्मी की याचना कर रही हैं। जिस राम ने अपनी माता से राज्याभिषेक के सुसंवाद की सूचना इस शान्त गम्भीर वाणी में दी थी—"अम्ब! पित्रा नियुक्तोऽस्मि प्रजा पालन कर्मणा" वही राम वन-निष्कासन को सुनकर भी निर्विकार हैं—"न...लक्ष्यते चित्तविक्रिया।" पर, वे यह भी जानते हैं—यह दु:संवाद मां के लिये, लक्ष्मण के लिये, सीता के लिये अप्रीतिकर है। कौसल्याजी—कितनी ही कर्तव्य-परायणा हों—पर हैं, तो मां ही—और ऐसी मां—जिसका पुत्र अपने गुणों से सर्वजनप्रिय है, जिसका युवराज पद पर राज्याभिषेक हो रहा है—उसे अकारण यह दण्ड! वरदान कैसा—यह तो सरासर निरपराधता का दण्ड! ऐसा कभी नहीं हुआ—कहीं नहीं हुआ—वह भी चौदह वर्षों के लिये मुनि चीवर पहनकर—निष्कासन! सौत की ईर्ष्याग्नि से वह दग्धा मां बेहोश होकर गिर जाती है। होश आने पर तेजस्वी वाणी में उन्होंने कहा—स्यात् जीवन में प्रथम उच्चरित है—यह वाणी—

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम्।
त्वां साहं नानुजानामि न गन्तव्यमितो वनम् ॥

—जैसे गौरव के कारण राजा तुम्हारे पूज्य हैं, उसी प्रकार मैं भी हूँ, मैं तुम्हें वन जाने की आज्ञा नहीं देती, अतः तुम्हें यहाँ से वन को नहीं जाना चाहिए।

राम को लगा—मां की इस आज्ञा में मोह है—कर्त्तव्य की दीप्ति नहीं है। राम की दृढ़ता देखकर—अपने आँसुओं को छिपाते हुए कहना पड़ा—"गच्छ पुत्र त्वम्।"

कौसल्या को जब विश्वास हो जाता है कि भरत निर्दोष है, तो वह अपना सम्पूर्ण वात्सल्य भरत पर उँड़ेल देती है, कहती है—

"वत्स! मैं तुम्हे देखकर जी रही हूँ। श्री राम-लक्ष्मण वन को चले गये, महाराज दशरथ स्वर्गवासी हो गये हैं—एकमात्र तुम्ही सबके रक्षक हो—

त्वां दृष्ट्वा पुत्र जीवामि रामे सभ्रातृके गते।
वृत्ते दशरथे राज्ञि नाथ एकस्त्वमद्य नः॥

इसके बाद वह अश्रुमुखी मां धैर्य से जीवन को व्यतीत करती है—जीवन दीर्घकालीन तपस्या, एक लम्बी प्रतीक्षा, पुत्रों को देखकर हर्षाश्रु बहाना और फिर प्रगाढ़ वात्सल्यपूर्ण आश्लेष।

इन तीन राजमाताओं के मध्य में गिनी जाती है—सुमित्रा! पर, जो किसी गिनती में नहीं—यों महाराज दशरथ के ३५० और भी रानियाँ हैं—व्यक्तित्वहीन-पण्य-राशिमात्र—रामायण की इन विविध घटनाओं के बीच वह कहीं भी स्वतन्त्र रूप से खड़ी नहीं है—सुमित्रा हमें कभी राजमहल में नहीं मिली, पर वह खड़ी है—कौसल्या के पास, सीता के पास, राम के पास—उसने कुछ न किया हो—ऐसा नहीं लगता! सबको धीरज देना, संभालना, घटनाओं को मोड़ देना और संभवतः अन्तःपुर की व्यवस्था के गुरुतर दायित्व को कौशल से निभाना।

पर, हमें सुमित्रा को एक और दृष्टिबिन्दु से परखना है—तभी न्याय्य होगा। सुमित्रा के दो पुत्र हैं—लक्ष्मण और शत्रुघ्न! सुमित्रा अच्छी तरह जानती हैं—राजपद के अधिकारी हो सकते हैं—राम या भरत, पर ये नहीं। सुमित्रा ने इन दोनों को महत्वाकांक्षी नहीं बनाया, कही स्वतन्त्र अपना राज्य खड़ा करें—ऐसी आग इनमें उसने नहीं भरी—पर, उस तेजस्विनी मां ने इन दोनों को समर्पणशील बनाया और शक्तिपुंज भी! लक्ष्मण के चरित में हम सुमित्रा को देख सकते हैं। लक्ष्मण का भ्रातृ-प्रेम अद्वितीय है, वह राम की यश के पताका के एकमात्र शक्तिशाली दण्ड हैं, लक्ष्मण जहां भी खड़े हैं—महल में, वन में, युद्ध में—उनके तेज के सामने सब हतप्रभ है, वे क्रोधी हैं, चपल हैं, प्रखर है, दुदर्मनीय हैं, प्रचण्ड हैं, सच्चे हैं, खरे हैं—जहाँ अन्याय हुआ—उनकी भृकुटी तन जाती है, रदपुट फड़क उठते हैं, पीछे खड़ी नजर आती है कर्त्तव्य समर्पिता वीर क्षत्राणी यह सुमित्रा! शत्रुघ्न भरत के पीछे छाया की तरह लगे हैं—उन्होंने अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को भरतमय बना दिया है। भरत जब संन्यासी

की आशा-आकांक्षा, साधना-आराधना को वहन करनेवाली एक चिरन्तन कथा बन जाती है। सचमुच जब तक पृथिवी पर पहाड़ है, नदियाँ हैं, तब तक "शोक को श्लोकत्व" तक पहुँचाने वाली यह रामायणी कथा लोकों में रहेगी—जीवित जाग्रत रूप में—

> यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
> तावद् रामायण कथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

(ख)

जगज्जननी—सीता
(नख-दर्पण में)

> उद्भव स्थिति संहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
> सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

पुराकथा, इतिहास या लोक-कथा—किसी को भी लें, कहीं भी भगवती सीता जैसा चरित—उदात्त चरित—नहीं मिलता; जिसे इतनी अग्नि-परीक्षाओं से गुजरना पड़ा हो, इस धरती पुत्री की नियति क्या यही थी कि समस्त विपदाओं, लाञ्छनाओं, प्रतारणाओं को इस "सुन्दरता कहँ सुन्दरकरहिं" वाली दीपशिखा पर डालती जाय; हम जानते हैं, इनमें से कहीं आंशिक विपत्तियों का भी भार किसी को उठाना पड़ता तो वह काँप जाती, मर जाती, मिट जाती और उसके लिये श्रद्धा का वेग आवेश के साथ उमड़ता—चतुर्दिक उमड़ता। पर, भगवती सीता के लिये ऐसा कुछ नहीं हुआ! विदेहनन्दिनी सीता भोगों के प्रभूत वातावरण में अनासक्त रहनेवाले राजर्षि जनक की पुत्री थी, उस जनक की जहाँ पर महर्षियों की भीड़ लगी रहती थी, ब्रह्म चर्चा में! जनक यों दीपते थे जैसे चित्र-विचित्र गिरि कूटों के मध्य कोई उत्तुंग हिम शृंग हो, फिर सीता को हमने अयोनिजा क्यों कहा—कोई सुनयना, कोई नारी जाति ऐसी पुत्री की मां हो हमने स्वीकार नहीं किया—अतः उसे सर्वसहा पृथिवी की पुत्री घोषित किया और हल की रेखा—सीता का नाम देकर उसे धरित्री से जोड़ दिया! ब्रह्म की शक्तिस्वरूपा सीता भूमिजा होकर, इस धरती पर, अवतरित हुई—सम्पूर्ण विपत्तियां, अग्नि-परीक्षाओं को निष्कम्पभाव से हँसते हुए गंभीर मुद्रा में झेलने के लिये!

कुमारी सीता में सौन्दर्य एवं शक्ति की चरम सीमा देखकर पिता जनक ने उपयुक्त वर की तलाश के लिए एक विचित्र स्पर्धा का आयोजन किया—सीता वीर्य शुल्का है—जिसे सीता स्वयंवर समझा गया। शिव-धनुष-पिनाक पर जो प्रत्यंचा चढ़ा सके, वही सीता के वर के योग्य होगा और उसी के गले में वरमाला,

विजय माला पड़ेगी। विश्वव्यापी प्रतियोगिता में इक्ष्वाकुवंशी राजकुमार राम विजयी हुए। राम और सीता के इस परिणय—सम्बन्ध से दोनों विख्यात वंश इतने प्रभावित हुए कि दशरथजी के तीन किशोर राजकुमारों का लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न का—विदेहवंशी कुमारियों के साथ—उर्मिला, माण्डवी एवं श्रुतकीर्ति के साथ विवाह सम्पन्न हुआ।

ये चार किशोर युग्म अभी मधुर प्रेम के पाठ का अक्षरारम्भ भी नहीं कर पाये थे कि सूर्यवंश की कर्त्तव्यनिष्ठा 'प्राण जाइ पर वचन न जाइ' का ऐसा घोष हुआ कि सारा परिवार कर्त्तव्य की आग में झोंक दिया गया—निःसन्देह वह परिवार स्वर्ण की तरह गला-पिघला और उसी भारतीय संस्कृति के लिये प्रकाश स्तम्भ का निर्माण हुआ—आज हमारे लिये राम और सीता वेद हैं, उपनिषद् हैं—धर्मग्रन्थ हैं—यानी वे भारत की सम्पूर्ण साधना एवं चिन्ता की मूर्त जीवन्त व्याख्याएँ हैं—अमूर्त आकाशी चिन्तना की सजीव व्यावहारिक अवतारणा।

राम को जब वरदान की छलना से चौदह वर्ष का निष्कासन व वनवास का दण्ड मिला, तो आदर्श पत्नी की तरह सीता राम के पीछे छाया की तरह चल पड़ी और लक्ष्मण भी! पर, कहीं हलचल नहीं, कर्तव्य का एक गुरुतर भार के नीचे सभी मौन, स्तब्ध!

सीता का लम्बा वन-जीवन कदम-कदम पर आसुरी शक्तियों से संघर्ष, अन्तहीन विपत्तियों की शृंखला—सीता का हरण—लंका की त्रासदी—यहाँ तक—एक युग—कष्टों का—यंत्रणाओं का एक युग समाप्त।

अब जब राम विजयी हुए, तो सीता का जहाँ उमड़कर—सारी भरत-भूमि के द्वारा स्वागत होना चाहिये—वहाँ अग्नि-परीक्षा, क्रूर बर्बर प्रथा का आदर्शीकरण! फिर भी सीता मौन! अग्नि-परीक्षा में विजयिनी सीता का अयोध्या में मौन-स्वागत और राज्याभिषेक। फिर लोकरंजन - प्रजारंजन के नाम से भगवती सीता का—गर्भवती सीता का पुनः निष्कासन—दो-दो अकारण वनवास! आश्चर्य—कहीं आक्रोश नहीं—कहीं क्षोभ नहीं—जड़-कर्तव्य संसार के नीचे सभी मूक!

केवल आदि-काव्य के कर्त्ता महर्षि वाल्मीकि के मुख से महाकवि कालिदास ने "मन्यु" की व्यंजना व्यक्त कर भारतीय मानस का एकबार प्रतिनिधित्व अवश्य किया है—

रुदन्ती सीता के पास आकर महर्षि कहते हैं—

"बेटी! मैंने योगबल से जान लिया है कि तुम्हारे पति ने झूठे अपजस से डर कर तुम्हें निकाल दिया है। बेटी! यहाँ भी तुम अपने पिता का ही घर समझो और शोक छोड़ दो।

"यद्यपि राम तीनों लोकों का दुख दूर करने वाले हैं, अपनी प्रतिज्ञा के पक्के है और अपने मुख से अपनी बड़ाई नहीं करते, फिर भी तुम्हारे साथ जो उन्होंने यह कलुप, गन्दा व्यवहार किया है, उसे देखकर मुझे उन पर—मन्यु-बड़ा क्रोध आ रहा है।" फिर सब मौन !

उसके बाद—विश्वविजयी यज्ञ-सीता की स्वर्ण प्रतिमा, लव-कुश का अद्भुत शौर्य—फिर भी—सब व्यर्थ—यह भूमि-पुत्री—फिर अन्त में पृथ्वी मां की गोद में चिरविश्राम के लिये—लीन हो गयी।

सती-साध्वी सीता की इस अनन्त व्यथा को धरती माता ने ही समझा—इसीलिए करुण रस के अमर कलाकार भवविभूति भवभूति ने पृथ्वी के मुंह से मानो भावी पृथिवी पुत्रों की पीड़ा का, उनके विक्षोभ–आक्रोश का–हल्का-सा चित्रण कर—अपनी वाणी को धन्य किया है—(उत्तर रामचरितम् से)।

पृथिवी–देवि ! सीता को जन्म देकर किस प्रकार धैर्य धारण करूँ, इसका चिरकाल तक राक्षसों के बीच मे निवास तो सहन कर लिया था, किन्तु दूसरा राम द्वारा परित्याग तो अतीव असाध्य हो गया है। ....बालक रामचन्द्र ने बाल्यावस्था में किये गये (सीता के) पाणिग्रहण को भी प्रमाण नहीं माना। तथा न मेरी, न जन की, न अग्नि की, न सीता के पातिव्रत धर्म और न अपनी सन्तान की ही अपेक्षा की।

पृथिवी और गंगा के मुंह से सीता की महिमा का गान कराते हुए नाटककार के ये मनोभाव धन्य हैं—

"समूचे संसार के कल्याण-रूप अपने को तुम इस प्रकार क्यों तिरस्कृत कर रही हो ! क्योंकि तुम्हारे ही स्पर्श से हम दोनों की—गंगा और पृथिवी की—पवित्रता उत्कृष्ट हो रही है।"

जगन्मङ्गलमात्मानं कथं त्वमवमन्यते।
आवयोरपि यत्सङ्गात्पवित्रत्वं प्रकृष्यते॥

सचमुच भगवती सीता ने जहाँ-जहाँ विहार किया है, जहाँ उनके चरण पड़े हैं, वहाँ की भूमि हमारे लिए तीर्थ बन गयी—यह पावन चरित तीर्थों को भी तीर्थत्व देनेवाला है। वे स्थान, वे गिरि, वे सर, वे सरित, वे पथ–सभी वन्द्या सीता के कारण—हमारे लिए वन्दनीय हैं।

अब हमारे लिए सीता केवल विदेहनन्दिनी नहीं, भूमिजामात्र नहीं, दशरथ जी की स्नुषा या रघुवंश की कुल वधू मात्र नहीं, वह सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने वाली, उसका पालन करने वाली, उसको संहार करने वाली, साथ ही निग्रह-अनुग्रह करनेवाली आद्या शक्ति है—उसकी लीला से उसी के किञ्चित् भ्रू-विक्षेप मात्र से अनन्त ब्रह्माण्ड आविर्भूत एवं तिरोभूत होते हैं।

(शाश्वत मां) यशोदा की क्रोड में क्रीड़ा करता (चिरन्तन शिशु)—कृष्ण

जब भी मां बेटे को याद करते हैं—और कोई याद नहीं आते—कितने ऋषि-महर्षि, सन्त, धीर-वीर—कितने अवतार, बुद्ध-तीर्थंकर—क्या ये बच्चे नहीं थे क्या इनके माताएँ नहीं थीं—सभी कुछ था, पर—कहाँ थे मां के नेह भरे नैन—जो अपने बालक की केलि-क्रीड़ाओं में, उनके तोड़-फोड़ में, उनकी शरारतों और नटखटपन में तन्मय होकर रस ले—अपने को भूल जाये—और न्यौछावर कर दे—स्वर्ग-अपवर्ग को! पर—ऐसा कहाँ? हमारा साहित्य ऐहिक जीवन की उल्लासभरी रंगरेलियों से धरती की स्वस्थ सोंधी गन्ध से दूर—स्वर्ग की छलना में खोया रहा—मुक्ति के व्यामोह से ग्रस्त था, या फिर अस्वास्थ्यकर भोग-पंक से रुग्ण!

धन्य है—व्रज, व्रज के यायावर अहीर, तरणि तनुजा के कछार, वहाँ के रेणु-मंडित ग्वाल-बाल—और धन्य हैं—व्रज के गोपी-गोप और सर्वोपरि धन्य हैं—मां यशोदा और नन्द बाबा!

मां तो बस एक ही हुई—जसोदा मैया और बालक एक हुआ—कुँवर कन्हैया! बचपन आवे, बच्चा झूले पर न झूले, घुटनों के बल न रेंगे, धूल में न खेले, तोड़-फोड़ न करे, शरारत न करे, आपस में धक्कम धक्का न करे, लुकने-छिपने का खेल न खेले, न झूठ, न शरारत, न बहाना, न शिकायत, न रूठना, न झगड़ना—और उनमें राष्ट्र तन्मय होकर आनन्द न ले, तो फिर राष्ट्र में उमंग, उत्साह कहाँ, ताजगी कहाँ, सरलता कहाँ, नित नूतन स्पन्दन कहाँ?

आज कहीं कृष्ण होते, तो माता-पिता उससे तंग आ जाते, हमारे विद्यालय उसे "प्रोब्लेम चाइल्ड"—समस्या-बालक घोषित कर देते और किसी मनोविश्लेषक की प्रयोगशाला में उसका सारा बचपन ठण्डा हो जाता और समाज को एक निस्तेज शान्त व्यक्ति या उदरंभरी विद्या के लिये दौड़-धूप करनेवाला व्यक्ति मिलता। पर—यह था—व्रज! बाल्य-जीवन की अनन्त किलकारियों से तरंगित—महासागर!

जन्मोत्सव

नन्द महर के घर बच्चा जन्मा है, सारा गोकुल उमड़ पड़ा है। घर, द्वार, आँगन झाड़-बुहार दिये गये, सुगन्धित जल का छिड़काव हुआ है। ध्वजा-पताकाएँ लहराने लगी हैं, पल्लवों की वन्दनवारों से घर-द्वार सजाया गया है। ग्वाले



।। शाश्वता माँ यशोदा की गोद में चिरंतन शिशु कृष्ण ।।

अँगरखों और पगड़ियों से सज्जित हो बधाई देने आये हैं। गोपियों की चोटियों में गुँथे हुए फूल बरसते जा रहे हैं। हल्दी-तेल मिला पानी एक-दूसरे पर छिड़क रहे हैं। मंगल गीतों से वातावरण गुंजरित है—

(अ) व्रजः सम्मृष्ट संसिक्त द्वाराजिर गृहान्तरः।
चित्र ध्वजापताका स्रक् चैल पल्लव तोरणैः॥
(आ) महार्घ वस्त्राभरण कञ्चुकोष्णीषभूषिताः।
गोपाः समाययू राजन् नानोपायन पाणयः॥

जब भी मौका आया है, व्रज ने नये उल्लास का अनुभव किया है। बच्चे ने करवट बदली है या वह करवट बदलने के कगार पर है, तो एक उत्सव हो, व्रज में जैसे उत्सवों की ही भीड़भाड़ है—जीवन ही जैसे उत्सव है। घुटनों के बल चलना, धूल में खेलना, जानवरों की बोली बोलना, माखन चोरी करना, गायें चराने जाने-जैसे हजारों प्रसंग हैं—इस परमहंसों की संहिता में—श्रीमद्-भागवत में—महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित मात्र, पर, जो कही जा रही है—शिशुवत् महर्षि शुकदेव के मुखारविन्द से। हमारे पास पुराण थे—पर, यह महापुराण है और यह है "परमहंस संहिता", अभी तक हमारे पास "निगम कल्पतरु" तो था, पर यह है "गलित फल"—एकदम पका हुआ फल—फिर शुकदेव के मुख से निःसृत होने से यह कथा परमानन्दमयी सुधा से परिपूर्ण हो गयी है—

निगम कल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रव संयुतम्।
पिबत भागवत रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

कोई भी वेला हो—मंगल-गीत हैं, बाजे हैं, बधाइयाँ हैं, भीड़भाड़ हैं, सजावट है—जीवन जैसे संघर्ष नहीं, एक लीला है, एक खेल है, एक संगीत है।

यशोदाजी औत्थानिक उत्सव (करवट बदलने के अभिषेकोत्सव) में डूबी हैं, जब देखती हैं कि लल्ला के नेत्रों में नींद आ रही है, तो कन्हैया को धीरे से शय्या पर सुला देती हैं। थोड़ी देर में आँखें खोलीं, रोने लगे, माँ ने व्रजवासियों के स्वागत-सत्कार में सुना नहीं कि कान्हा रोते-रोते पाँव उछालने लगे—छकड़े के नीचे सोये थे—उनके कोमल पाँव के लगते ही छकड़ा उलट गया—दूध-दही और अनेक रसों भरी अनेक मटकियाँ फूटफाट गईं।

बच्चों का सोना, आँखें मूँदना, फिर खोलना, भूख लगने पर रोना, रोने पर ध्यान न देने से खीझना, हाथ-पाँव उछालना—ये वर्णन अत्यंत स्वाभाविक हैं, शिशु-स्वभाव के ये सार्वभौम चित्रण—विचित्र हैं और सचमुच कालजयी भी!

इस मधुर बाल-लीला के बीच-बीच कितने उपद्रव होते हैं—कितनी बाधाएँ, विघ्न, थोड़ी देर के लिये जरा अशान्ति, फिर स्वस्त्ययन-पूजा-पाठ-दान—पुनः जीवन

में वही उल्लास—पुराने दुःस्वप्नों की कहीं छाया नहीं—भविष्य की आशंकाओं का अँधेरा नहीं—बस है—वर्तमान—वर्तमान के ये क्षण-क्षण नहीं—

जीवन के दिव्याक्षर हैं—जिनसे यह क्षर जीवन
अक्षर बनता है और अक्षर से अतीत—पुरुषोत्तम भी!

घुटुरुन चलत

राम-श्याम अब घर के आँगन से बाहर आ गये हैं—घुटनों व हाथों के बल बकैयों से चल-चलकर गोकुल में खेलने लगे हैं। जब वे कीचड़ की अंगराग लगाकर लौटते, तो उनकी सुन्दरता बढ़ जाती थी। माताएँ उन्हें देखकर—दौड़ पड़तीं—हृदय से लगातीं जब ये दूध पीने लगते—बीच-बीच में मुस्कराकर माताओं की ओर देखने लगते, तो ये भोलाभाला मुंह देखकर आनन्द के समुद्र नें डूबने-उतराने लगतीं।

सारा गोकुल निहाल

रोहिणी और यशोदाजी ही नहीं—अब गोकुल की ब्रजांगनाएँ बाल-लीलाओं में शामिल हो गईं—घर का काम बन्द-मन्द—अब तो यही स्वर्ग दुर्लभ शिशु-क्रीड़ाएँ—

राम-श्याम थोड़े बड़े हो गए हैं। अब शरारतें शुरू। बैठे हुए बछड़े पूंछ मरोड़ लेते और बछड़े उन्हें घसीटते हुए दौड़ने लगते। गोपियाँ अपने घर का काम-धन्धा छोड़कर यही देखती रहतीं और हँसते-हँसते लोट-पोट होकर परम आनन्द में मग्न हो जातीं।

शिकायतें—उपालम्भ शुरू

हमारे राष्ट्र के पास एक यही बालकृष्ण हैं—जिसकी शत-शत लीलाएँ कोटि ढंग से कही जाती हैं—छोटे, बड़े, बच्चे, बूढ़े, सन्त-भक्त मगन! सुबह से रात तक शिकायतों का ताँता—उलहनों की भरमार—उलहने देते-देते ब्रज उमगता है, उमड़ता है—

"अरी यशोदा! यह तेरा कान्हा नटखट हो गया है। गाय दुहाने का समय न होने पर यह बछड़ों को खोल देता है और हम डाँटती हैं, तो ठठा-ठठाकर हँसने लगता है। यह चोरी के बड़े-बड़े उपाय करके दूध-दही चुरा-चुरा कर खा जाता है। केवल अपने ही खाता तो भी एक बात थी, यह तो सारा दही-दूध वानरों को बाँट देता है और फिर मटकों को फोड़ देता है। हमारे बच्चों को रुलाकर भाग जाता है। जब हम दही-दूध को छींको पर रख देती हैं और इसके छोटे-छोटे हाथ नहीं पहुँचते, तो बड़े-बड़े उपाय रचता है। दो-चार पीढ़ों को एक

के ऊपर एक रख देता है, कहीं ऊखल पर चढ़ जाता है—कहीं ऊखल पर पीढ़ा रख देता है—कभी-कभी तो अपने किसी साथी के कन्धे पर चढ़ जाता है और इतने पर भी काम नहीं चलता, तो नीचे ही से उन वर्तनों में छेद कर देता है।

ऐसा करने पर भी ढिठाई की बातें करता है—उलटे हमें चोर वनाता है और अपने घर का मालिक बन जाता है। इधर देखो, वह ऐसे खड़ा है—जैसे साधु हो, मानों मूरत खड़ी हो।"

थोड़ी देर में सारी शिकायतें खत्म। उलाहना देनेवाली मुस्कराती हैं—नंदरानी कन्हैया को गले लगाती हैं। मोद-प्रमोद और आनन्द की रसधारा से सारा व्रजमण्डल स्नात।

व्रज से जो आनन्द का सागर उमड़ा वही आज देश के कोने-कोने में उमड़ रहा है। शताब्दियों तक का उदासी भरा चिन्तन, निराशा के कुहरे से छाया हमारा धूमिल दृष्टिकोण—सब ध्वस्त-विध्वस्त! कृष्ण का नाम लेते ही, नाचता-गाता, हँसता-खेलता, एक चित्र उभरता है—जिसके सामने कहाँ ठहर पाता है—हमारा गुरु गम्भीर प्रशान्त निस्तरंग चिन्तन, जीवन के रेगिस्तान मे अचानक विनोद की लोनी लतिकाएँ झूमने लगती हैं, हास्य के ठहाकों और ठिठोलियों से लगता है—जीवन ही सत्य है—यह व्रज शाश्वत है, यहाँ की लीला नित्य है, यमुना, गोपी, ग्वाल, रास, महारास सभी नित्य!

प्रलय सागर में डूबते-उतराते महर्षि मार्कण्डेय की तरह हमें दीखता है—नवसृष्टि का अक्षयवट निकल आया है, उसके पल्लवों पर शिशु बालमुकुन्द अपने मुख में पैर का अँगूठा लिये शाश्वत शिशुत्व की महिमा को उजागर कर रहे हैं।

हमको नित्य लगता है—मां यशोदा के रूप में विश्व मां पुकारती हुई कहती हैं, जोर-जोर से पुकारती है—

"ओ कन्हैया! प्यारे कन्हैया! खेलते-खेलते थक गये हो।

वेटा! बस करो व्रजराज भोजन करने बैठ गए हैं—अभी तक तुम्हारी वाट देख रहे हैं। तुम्हारा एक-एक अंग धूल से लथ-पथ हो गया है—आओ जल्दी स्नान करो।"

धन्य है—यह व्रज—जहाँ मां यशोदा की गोद में कृष्ण की नित्य लीलाएँ होती हैं—उन लीलाओं से मुखरित है व्रज-व्रज के करील के कुंज कछार—सभी द्यावा पृथिवी।

जब कठिनाइयां आयें, तो अपने अन्दर अचंचल बने रहो और दूर करने के लिए मातृशक्ति को पुकारो।

—अरविंद

भृकुटी, दमकती हुई दूध की दन्त पंक्तियाँ—सभी तो मां को मंत्रमुग्ध करती रहती हैं[1]।

सूरदास मां के वात्सल्य के लिए एक-से-एक सहज एवं स्वाभाविक प्रसंगों की कल्पना करते हैं। यशोदा बालक कृष्ण को अपने पैरों चलना सिखा रही हैं, बच्चा मां की उँगली पकड़ने को अपने पैरों के सहारे आगे बढ़ता है। परन्तु उँगली कुछ दूर सरक जाती है। बच्चा हड़बड़ा कर वहीं बैठ जाता है। मां का प्यार उमड़ आता है। वह चलना सिखाना छोड़कर आनन्द से भर उठती हैं और बच्चे को गोद में भर लेती हैं—

सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया।
कबहुँक सुन्दर बदन बिलोकति, उर आनन्द भरि लेत बलैया।।

कुछ प्रसंग तो बेहद रोचक हैं। बच्चे का आकाश के चन्द्रमा को लेने का और लेकर चखने का आग्रह, कितना परिचित आग्रह! परन्तु सूर ने इसमें मां यशोदा के प्यार का ऐसा रसायन घोला है कि सारा प्रसंग नूतन कान्ति से जगमगा उठता है। पहले मां बच्चे को समझाती है। माँग की असम्भाव्यता को तरह-तरह से समझाती है, पर बच्चा है कि चन्द्रमा से कम किसी वस्तु पर राजी नहीं होता। अन्त में मां को युक्ति सूझती है। थाली(जलपुट) में जल भर दिया जाता है। चन्द्रमा जल भरे पात्र में प्रतिबिम्बित हो आता है। पूरा का पूरा चाँद यूँ इतना पास आ चमकता है। बच्चा किलकारी मार कर हाथ बढ़ाता है। कर-स्पर्श से जल अस्थिर हो उठता है, चन्द्रमा रेशे-रेशे बिखर जाता है। बच्चा दुखी-निराश और ठगा-सा अनुभव करता है। सब कुछ यूँ तिलिस्म जैसा बनता और मिट जाता है। अब की पुनः बच्चे ने जिद ठानी है। चन्द्रमा लेगा, परन्तु आकाश का चन्द्रमा, जलपुट में उतारा हुआ छली चन्द्रमा नहीं—

मैया री मैं चन्द लहौंगो
कहा करौं जलपुट भीतर को, बाहर ब्यौंकि गहौंगो।
यह तो झलमलात झकझोरत, कैसें कै जु लहौंगो।
वह तो निपट निकट हीं देखत, बरज्यो हौं न रहौंगो।
तुम्हरो प्रेम प्रगट मैं जान्यो, बौराये न बहौंगो।
सूर-स्याम कहै कर गहि ल्याऊँ, ससि तन दाप दहौंगो।

क्या व्यंजना है बालक के आग्रह की। "तुम तो दिखावे का प्रेम करती हो। अब तुम्हारे बहकावे में मैं नहीं आनेवाला"। और यशोदा हैं कि

1. लाल हौं वारी तेरे मुख पर
कुटिल अलक, मोहनि, मन-बिहँसनि, भृकुटी विकट ललित नैननि पर।
दमकति दूध दँतुलियाँ बिहरति, मनु सीपज घर कियौ बारिज पर।

अपने लाल को सुखी और सन्तुष्ट करने के लिए बार-बार वत्सल छल का सहारा लेती हैं।

कृष्ण को दूध से अरुचि है। मां को दूध पिलाना ही है। कैसा अनूठा रास्ता निकाला यशोदा ने! कृष्ण बड़े भाई बलदाऊ की मोटी वेणी को देखकर बार-बार ललच उठते थे। मां से पूछते रहते थे कि मां मेरी चोटी कब बढ़ेगी, कब यह बल भैया की तरह लम्बी और मोटी होगी? बस इस जिज्ञासा के सूत्र को पकड़कर रास्ता निकाला मां ने। बेटा से कहती है कि श्यामा गाय का दूध पियोगे तो तुम्हारी चोटी बढ़ जायेगी, वैसी ही हो जायेगी, जैसी बलदाऊ की है। दूध के प्रति अरुचि के ऊपर चोटी बढ़ाने की इच्छा जोर मारने लगती है। बच्चा आँख मूंद कर गिलास भर दूध पी जाता है। गिलास समाप्त करते ही अपने सिर को टटोलता है कि चोटी बढ़ी या नहीं। परन्तु चोटी तो ज्यों की त्यों है। इतना बड़ा छल! फिर मां ने छला बेटे को। रुआँसा हो उठता है कृष्ण! कितनी मार्मिक भाषा रच उठी है सूर के हाथों—

> कजरी को पय पियहु लाल, जासों तेरी बेनि बढ़ै।
> जैसे देखि और ब्रज बालक, त्यों बल-बैस चढ़ै।
> यह सुनि कै हरि पीवन लागे ज्यों-त्यों लयो लढ़ै।
> अँचवत पय तातो जब लाग्यो, रोवत जीभि डढ़ै।
> पुनि पीवतहीं कच टकटोरत, झूठहि जननि रढ़ै।
> 'सूर' निरखि मुख हँसति जसोदा, तो सुख उर न कढ़ै।

गर्म दूध को चोटी बढ़ाने की आतुरता बच्चे द्वारा मुंह में उड़ेल लेना और फिर जीभ के जल उठने पर रो उठना अत्यन्त सहज क्रियाएँ हैं। परन्तु दूध पीते ही शिर के बालों को टटोल कर देखना कि चोटी बढ़ी या नहीं, अपनी गुदगुदी और संस्पर्शिता में बेजोड़ कल्पना है। कृष्ण तो छले हुए से हैं, परन्तु मां उनके मुख को देखकर हँसने लगती है। उसका उद्देश्य था बच्चे को लढ़ा भर दूध पिला लेना, सो वह हो गया। कितनी ऋजु वत्सलता छलकती है इन उक्तियों में। इनकी सर्जना के लिए सचमुच भक्त का मन चाहिए।

ऐसे ही बाल मन की सुघड़ व्यंजना और भी अनेक प्रसंगों में होती है। कृष्ण थोड़ा बड़े होते हैं। घर की देहरी को पार कर और ग्वाल बालों के साथ गाय चराने जाना चाहते हैं। मां डरती है, बच्चा थक जायेगा, भूख से पीड़ित होगा दूसरे बड़े बच्चे तंग करेंगे। परन्तु कृष्ण इन सारे बिन्दुओं पर मां को आश्वस्त करते हैं कि ऐसा कुछ नहीं होगा, उन्हें वन में गाय चराने भेजा जाना चाहिए।

मैया मैं गाय चरावन जैहौं।
तू कहि महर नन्द बाबा सों, बड़ो भयो न डरैहौं।
रैंता, पैंता, मना, मनसुखा, हलधर संग हि रैहौं।
वंशी वट तर ग्वालनि के संग, खेलत अति सुख पैहौं।
ओदन-भोजन दै दधि कांवरि, भूख लगे तें खैहौं।
"सूरदास" है साखि जमुन-जल सौंह देहु जु नहैहौं।

और इस प्रकार मां को पिघलाकर कृष्ण अन्य ग्वाल वालों के साथ गाय चराने जाने की अनुमति प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु गोचारण का विचित्र अनुभव उन्हें होता है। सभी ग्वाल उम्र में बड़े हैं। सभी इस बड़प्पन की छूट लेकर उनसे काम लेते हैं। अपने खेलते हैं और कृष्ण को दौड़ा-दौड़ा कर गायों के पीछे थका मरते हैं। कृष्ण रुआँसे हो आते हैं। आना-कानी की गुंजाइश नहीं, गायें दूर चली जाती हैं, तो खेलते हुए अन्य ग्वाल वाल कृष्ण से कहते हैं—

काहे न तुम चढ़ि टेरो कान्हा, गैया दूरि गई।

इतना ही होता तो कृष्ण सह लेते। परन्तु वे साथी तो और भी आगे बढ़ कर कृष्ण को तंग करते हैं। बलदाऊ उस तंग करने में जरा भी नहीं चूकते। सभी मिलकर कृष्ण को जंगल के एक घने अंचल में ले जाते हैं। वहाँ से अचानक भाग पड़ते हैं। कृष्ण को डराकर इस प्रकार वे भागते हैं कि बच्चे की हालात भय से काँप उठने को हो आती है। सूरदास की लेखनी ने डरे हुए कृष्ण का अनुपम चित्र खींचा है। लौट कर कृष्ण मां से कहते हैं—

मैया बहुत बुरौ बलदाऊ।
कहन लग्यो बन बड़ो तमासो, सब मोड़ा मिलि आऊ।
मो हूँ कों चुचकारि गयो लै, जहाँ सघन बन झाऊ।
भागि चलो, कहि गयो, उहाँ तें काहि खाइ रे हाऊ।
हौं डरप्यौं, काँप्यौं अरु रोयौं कोउ नहि धारे धराऊ।
थरसि गयौं नहि भागि सक्यौं, वै आगे भात अगाऊ।
मोसौं कहत मोल को लीनो, आप कहावत साऊ।
"सूरदास" बल बड़ो चवाई, तैसिहि मिले सखाऊ।

बच्चे का भय के मारे थरसि जाना और पाँवों का बँध उठना अपनी स्वाभाविकता में अनूठी व्यंजना है। और फिर क्या, गाय चराने जाने का सारा आकर्षण समाप्त हो जाता है। मां से आकर बच्चा साफ-साफ मना कर देता है कि वह अब गाय चराने नहीं जायेगा, अपने उत्पीड़न का अनुभव जब वह मां को बतलाता है, तो मां का स्नेहिल-वत्सल हृदय वेदना और आक्रोश से भर उठता है। उन्हें ग्वाल वालों पर बहुत क्रोध आता है। मुंह गालियों से भर उठता है—

मातुरेसो भव।

स्याम-गौर सुन्दर दोउ जोरी। निरखहिं छवि जननी तृन तोरी।

× × ×

कबहूँ उछंग कबहूँ बर-पलना। मातु दुलारहिं कहि प्रिय ललना।

राम नाना प्रकार की शिशु-लीलायें करते हैं। मां उन क्रीड़ाओं में खोई रहती है। उनके दिन-पल आनन्द में व्यतीत होते हैं—

प्रेम-मगन कौसल्या, निसि दिन जात न जान।
सुत सनेह बस माता, बालचरित करि गान।

तुलसी अपने राम की अलौकिकता को क्षण भर भूलते नहीं। बार-बार वे किन्हीं-न-किन्हीं प्रसंगों में याद दिलाते रहते हैं कि राम, परमब्रह्म हैं, प्रभु परमेश्वर हैं, फिर भी उनकी लेखनी से सहज बालचित्रों का तथा मां के वात्सल्य का सोता फूटता ही रहता है। ऐसे चित्रों से मन आह्लादित हो उठता है—

भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा।
कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुक-ठुमुक प्रभु चलहिं पराई।।

× × ×

धूसरि धूरि भरे तनु आये। भूपति बिहँसि गोद बैठाये।
भोजन करत चपल चित, इत-उत अवसर पाइ।
भागि चले किलकत मुख, दधि ओदन लपटाइ।

फिर भी सूरदास ने जिस विपुल परिमाण में और जिस तन्मय भूमि पर वात्सल्य की सृष्टि की है, वह तुलसी के यहाँ उपलब्ध नहीं है।

प्रश्न उठता है कि ये भक्त कवि इस बाल छवि पर, भक्ति वात्सल्य पर इतना मुग्ध क्यों हैं? वास्तव में जिस अलौकिक भाव को वे मानव हृदय में उतारना चाहते हैं, मातृत्व की भूमि उस अलौकिकता से किसी भी अर्थ में ऊनी नहीं है। जो पावनता, जो उत्सर्ग का चरम भाव, निःस्वार्थ प्रेम का जो समर्पण युक्त स्वर मां के वात्सल्य में है, वह अन्यत्र कहाँ सम्भव है? भक्त कवि जिस पावन मानसिकता का निर्माण करना चाहते हैं, वात्सल्य उसकी सहज मानवीय भूमि है। सच पूछा जाये तो मां के वात्सल्य प्रेम में ही हम प्रभु की निर्व्याज कृपा का सहज अनुभव करते हैं। मां ही प्रभु का सहज रूप है। □

या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

राजेन्द्र कुमार

□

आधुनिक हिन्दी-कविता में मातृ-संदर्भ

वचपन की याद न आये——यह अस्वाभाविक

कहीं भी मां का सन्दर्भ आये और द को व्याख्यायित करने के लिए मुझसे कहा
है। आधुनिक कविता में मां के सन्दर्भ का एक प्रसंग याद आ गया है। खिलौनों
गया, तो स्वभावतः मुझे भी अपने वचप भी नहीं हुए थे कि मेरी मां का निधन हो
से खेलने के दिन, क़ायदे से शायद शुरू म्र शायद, क़ायदे से खत्म भी नहीं हुई थी
गया। और खिलौनों से खेलने की उ। छंदों से खेलने के ही दिनों की वात है
कि छंदों से खेलने का चस्का लग गया भनक पड़ी। नवीं कक्षा में आ गया था।
कि मेरे कान में 'हाइकू' नामक छंद की सामान्य हिन्दी से ही वास्ता था। किसी
विद्यार्थी था 'विज्ञान ग्रुप' का, स्कूल में न या समझ पाने का मौका ही कहाँ था ?
भी छंद के लक्षण वगैरह विस्तार से ज झाँक करने की लत चूंकि पहले से ही कुछ-
फिर भी, कोर्स की किताबों से वाहर ताक जा लग ही गया था कि यह 'हाइकू'-शब्द-
कुछ पड़ चुकी थी, इसलिए इतना तो अंद कंजूस किस्म का छंद है। चौपाई से भी
प्रयोग के मामले में, एक निहायत ही रिचय 'रामचरितमानस' के जरिये भली-
ज्यादा कंजूस! (चौपाई से मेरा प स्कूल में तुकवंदी का रोग अकेले मुझे ही
भाँति मेरे पितामह ने करा दिया था।) अन्त्याक्षरी और तुक-भिड़ंत में हम दोनों को
नहीं था, मेरे एक साथी को भी था। हाइकू' लिख के दिखाओ तो जानें! 'हाइकू
मज़ा आता था। मैंने उससे कहा—'ह

क्या है ?' उसने मुझसे पूछा। अब मैं क्या कहता ? सिर्फ इतना ही कह सका—'बहुत कम शब्दों में जो हो, वो हाइकू !' उसका सवाल था—'बहुत कम शब्द के क्या माने ? कविता तो कविता ! कम शब्दों में कैसे बन सकती है ?' मैंने कहा—'बन सकती है। एक शब्द में भी बन सकती है।' 'वाह, एक शब्द में कैसे ?' 'कम-से-कम तुक मिलाने के लिए तो दूसरा शब्द लाना ही पड़ेगा।' समझ चाहे कितनी भी कच्ची हो, कभी-कभी बहुत काम कर जाती है। मैंने झट कहा—'अब कविता में तुक जरूरी नहीं है !' 'तो लिख के दिखाओ एक शब्द की कविता !' यह चुनौती थी मेरे लिए। हार कैसे मानता ? मैंने कहा—'कल दिखाऊँगा !' अब लगा सोचने कि एक शब्द की कविता कैसे लिखूं ! बहुत सोचा। दूसरे दिन भी स्कूल जाने का वक्त आ गया, लेकिन कविता नहीं बन पाई। आखिर कुछ तो करना ही था। पता नहीं मुझे क्या सूझा कि कागज पर मैंने एक शब्द लिखा और जेब में डाल लिया। स्कूल पहुँचते ही वह कागज मैंने मित्र को थमा दिया। अब तो मेरी उस एक-शब्दीय कविता की खूब हँसी हुई। जो भी पढ़ता, वह हँसता ! उस कागज पर एक शब्द लिखा था—मां !

आज भी याद करता हूँ तो सोच नहीं पाता कि मेरी उस एक-शब्दीय कविता में हँसी उड़ाने की वैसी क्या बात थी ? वह एक शब्द कविता क्यों नहीं हो सकता ? लेकिन आज मुझे इस 'क्यों' पर विचार करने की छूट नहीं है। प्रस्तुत निबंध का विषय मुझे केवल 'क्या' और 'कैसे' तक ही जाने की अनुमति देता है; अर्थात् यहाँ विशेष रूप से केवल इसी प्रश्न पर केन्द्रित होना है कि आधुनिक-हिन्दी-कविता में मातृ-भावना का स्वरूप क्या है और सन्दर्भों की विकासमान परिधि में उसकी अभिव्यक्ति कैसे-कैसे संभव हुई !

हमारे समाज की पारिवारिक संरचना, पारम्परिक तौर पर चूंकि पुरुषसत्तात्मक घटकों को ही प्रधान मान कर की गयी, इसलिए नारी के अपने व्यापक अस्तित्व-बोध से जुड़नेवाली स्थितियों में उसके मातृ-रूप को उभार सकने का रचनात्मक उत्साह प्रायः कम ही दिखाई देता है। मध्यकाल तक तो और भी कम। यह न समझा जाये कि मातृ-भावना के मध्ययुगीन सन्दर्भों का महत्त्व मैं कम करके आँक रहा हूँ। जिस युग और जिस साहित्य की धरोहर सूर जैसे कवि का कृतित्व हो—जिसके बल पर वात्सल्य को भी एक पूर्ण रस का दर्जा मिल सका, उसकी संवेदनात्मक अर्थवत्ता पर उंगली उठाने का कोई सवाल ही नहीं है। सवाल यहाँ परिप्रेक्ष्य की आधुनिक प्रासंगिकता का है। मध्ययुगीन साहित्य तक, नारी के मातृ-रूप को संवेदनात्मक विकास के प्राभाविक (और प्रामाणिक भी) आयाम चाहे कितने ही विस्तृत मिलने लगे हों, लेकिन पुरुषसत्तात्मक एकांगिता के अतिक्रमण का कोई प्रत्यक्ष (सचेत) लक्षण वहां प्रकट होते नहीं दिखता। सूरदास

की संवेदना इतनी सहज और मानवीय जरूर है कि लौकिक धरातल पर मां के व्यक्तित्व को, दिव्य बनाकर प्रस्तुत करने के मोह से बचाव की प्रेरणा उसमें गतिशील रहती है, लेकिन मां के व्यक्तित्व को खुद अपनी पहचान (आधुनिक शब्दावली में कहें तो 'अस्मिता') सूर की संवेदना में सर्वत्र कहाँ मिल पाती है ? उदाहरण के लिए, जब बालक कृष्ण को सामाजिक भावना के नैतिक संस्कार देने की ज़िम्मेदारी माता यशोदा पर आती है, तो मा के रूप में अपने कृष्ण के प्रति अपनी ममता की ताकत पर भरोसा सूर की यशोदा भी नहीं कर पातीं। वह अपने बेटे को माखन चोरी से रोकने के लिए जिन तर्कों का सहारा लेती हैं, वे सारे तर्क यशोदा के 'मां' वाले पक्ष से उतना नहीं जुड़ते जितना उनके पति की 'पिता' वाली हैसियत से जुड़ते हैं। बल्कि इस लिहाज़ से, सूर की यशोदा से कहीं अधिक, तुलसी की कौसल्या अपने मातृ-रूप के प्रति सजग हैं। (हालाँकि यह सजगता भी मात्र औपचारिक ही है।) राम को वन-गमन का आदेश दिये जाने के सन्दर्भ में, कौसल्या राम के साथ अपने सम्बन्ध के अधिकार को, तो कम-से-कम याद कर लेती हैं—'जौ केवल पितु आयसु ताता, तौ जनि जाहु जानि बड़ माता !' लेकिन सूर की यशोदा कृष्ण जैसे बेटे की मां होने का गौरव भले ही महसूस करें, अधिकार कहीं भी महसूस नही करतीं। माखनचोरी के प्रसंग में कृष्ण को समझाते हुए यशोदा या तो कहती हैं—'तुम्हारे आजु कमी काहे की, जौ तुम अनतहिं खाहु ?' (यानी बेटे को पिता की समृद्धि की दुहाई देती हैं) या फिर यह कहती हैं—'व्रज परगन सिकदार महर, तू ताकी करत नन्हाई !' (यानी पिता की धाक की दुहाई देती हैं।) इन तर्कों की निष्पत्ति में कहीं भी यशोदा का मातृ-रूप अपनी पूर्ण अस्तित्वव्यापी चेतना से उमड़ नहीं पाता। यहाँ यशोदा कृष्ण की मां हैं तो अवश्य, लेकिन यह 'होना' बस उतना ही है जितना नंद जैसे पति की गृहिणी होने के मार्फत संभव था।

इस तरह की सीमाओं के अतिक्रमण के सचेत प्रयास, भाव-बोध के आधुनिक विस्तार के साथ-साथ ही संभव हो सके। मानव-जीवन में पारिवारिक और सामाजिक स्तर पर किसी भी रिश्ते को सच्ची परस्परता में मूर्त होने का मौका देने के लिए पहली अनिवार्य शर्त है—'ग्लानिरहित लोकोन्मुखता।' ग्लानिरहित लोकोन्मुखता से मेरा तात्पर्य उस भावनात्मक लगाव से है, जिसका सजग अहसास हमें होता है और, जिसके रहते हम अपने लौकिक संबंधगत संवेगों को किन्हीं लोकातीत संबंधों के आध्यात्मिक या दार्शनिक प्रतीकों के रूप में नहीं लेते (जैसा कि मध्ययुगीन भक्त कवि प्रायः करते रहे) और वैसा न करने की हमें कोई ग्लानि भी नहीं रहती, बल्कि संतोष ही होता है, क्योंकि इस तरह का अहसास हमारे "जीवन की साधारणता" में कहीं भी अनावश्यक खम नहीं आने देता।

प्रेम और वात्सल्य के सन्दर्भ में ही नहीं, बल्कि योग और अध्यात्म आदि के साहित्यिक सन्दर्भों में भी नारी के विविध रूपों के उल्लेख से संबंधित यदि कोई शोध-कार्य किया जाये, तो आश्चर्य नहीं कि नतीजा यह निकले कि आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक हिन्दी में लिखे गये कुल साहित्य के दो-तिहाई या उससे भी अधिक हिस्से के केन्द्र में नारी ही रही है। लेकिन फिर भी वस्तु-स्थिति यही है कि नारी—चाहे नायिका के रूप में हो, चाहे मां के रूप में, उसके व्यक्तित्व को वायवी अथवा प्रतीकात्मक असाधारणता से मुक्त कर साधारण मानवीय आयामों में पहचानने का ईमानदारी से प्रयास करनेवाली कविता अपेक्षाकृत बहुत कम लिखी गयी।

यह आकस्मिक नहीं है कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साधारणता के साक्षात्कार में ही कविता का भविष्य देखा था। जोसाधारण है, उसे अपने से अन्य किसी रहस्यमयी चेतना का प्रतीक बनाने पर, तो कविता का एक सुदीर्घ अतीत न्योछावर हो गया। आधुनिक दृष्टि की पकड़ में जब यह तथ्य आने लगता है, तो आचार्य द्विवेदी इसी दृष्टि के व्याख्याता बनकर उपस्थित होते हैं और दिखा देते हैं—"जो साधारण है वही रहस्यमय है, बड़ी अनंत सौंदर्य से युक्त है। इसी सौंदर्य को स्पष्ट कर देना भविष्य के कवियों का काम होगा।" (द्रष्टव्य : 'सरस्वती' सितम्बर, १९२० संपादकीय लेख "कविता का भविष्य"।)

निश्चय ही अपनी इस भावी ज़िम्मेदारी को आधुनिक रचनाकारों ने महसूस किया। परिणामत: हिन्दी-कविता में नारी के मातृ-रूप की अवतारणा अधिक मानवीय हो सकी। इस तथ्य के विस्तार में जाने से पूर्व यह भी ध्यातव्य है कि हर मां पहले एक नारी होती है और प्रकृत्या नारी होने के नाते उसकी संवेदना के जितने भी 'शेड्स' (Shades) हो सकते हैं, वे सब नारी के 'मां' वाले रूप से पृथक्कृत नहीं किये जा सकते। ऐसा इसलिए भी है कि प्रेम अपने अनुभूत्यात्मक स्वरूप में शाश्वत और स्थायी होते हुए भी, अपनी प्रसरणशील शक्ति में इतना व्यापक होता है कि नारी के किसी भी रूप से संबंध में उसके बिम्ब का कोई स्थायी 'फ्रेम' नहीं बनाया जा सकता। संभवत: इसी बात को लक्ष्य करके अंग्रेजी के एक आधुनिक कवि मारिस कारपेंटर (Maurice Corpenter) को यह लिखना पड़ा होगा—

> ".....Love is a sudden image,
> Agate, unchanging, neither wife nor mother."

बहरहाल, भावनाओं के अमूर्त संसार को मूर्त होने के क्रम में किसी-न-किसी रिश्ते-नाते में ढलना ही पड़ता है। जिस रिश्ते के केंद्र में 'मां' आती है, वह भी एक ऐसा ही रिश्ता है। आधुनिक हिंदी-कविता में जीवन की मूलवर्तिनी प्रवृत्ति

के रूप में हम यह पाते हैं कि प्रेम, स्नेह आदि भाव चाहे किसी भी रिश्ते की शक्ल लें और उनकी अनुभूतिगत तीव्रता चाहे कितनी ही विकल बनानेवाली हो, लेकिन उनकी वरेण्यता में हमारा विश्वास नही डगमगाता।

द्विवेदीयुगीन हिंदी-कविता जब पुराने कथा-प्रसंगों मे नवीन उद्भावनाओं के प्रति रुचि दर्शाती है, तो केवल इतना ही नहीं करती कि जो पात्र पहले महज़ आनुषंगिक मान लिये गये थे, उन्हें भी कथा के केन्द्र मे ले आती है, बल्कि यह भी करती है कि कथा के पारम्परिक प्रसंग के अतर्गत जिन पात्रों को रूढ़ चारित्र्य से बाँधकर अगतिक बना दिया गया था, उन्हें गतिशील चरित्र होने की स्वतंत्रता दिलाती है। मां के रूप में कैकेयी का चरित्र मैथिलीशरण गुप्त के द्वारा ऐसी ही स्वतत्रता का अपना अधिकार पा सका है। बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि सम्पूर्ण राम-काव्य-परम्परा में अगर कैकेयी को कोई सचमुच अपने 'मा' होने का एक भरा-पुरा अहसास पहली बार कराने का श्रेय किसी कवि को है, तो मैथिलीशरण गुप्त को ही है। राम-काव्य में राम के स्पर्श से पत्थर को नारी बनते देखा था, लेकिन नारी को सचमुच नारी बनते देखने के लिये तो अन्ततः मानव-चेतना के ही जीवन्त स्पर्श की जरूरत होती है और यह 'साकेत' में हम पाते हैं। तुलसीदास की 'कुटिल गलानि जरइ कैकेई' साकेतकार की संवेदना के स्पर्श से मानो शाप-मुक्त हो जाती है और तब, एक स्वर से सबको हम यह कहते हुए पाते हैं—'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई, जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।' मां की यह छवि कैकेयी के किसी असाधारण कृत्य या आचरण के कोण से नही उभारी गई है, बल्कि मां के रूप में कैकेयी की इस छवि के पूर्णतया सम्प्रेपित हो सकने की बुनियादी ताकत इसी अहसास में निहित है कि कैकेयी ने वही किया जो कोई भी मां साधारणतया अपने पुत्र के लिए करती है। उसे कहीं भी अपने बारे में कोई गलतफहमी नहीं है—न स्वार्थरहित होने की और न व्यापक हृदय होने की। 'परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा'—यह उसकी अकुंठ स्वीकारोक्ति है, लेकिन पुत्र के जिस मोह से प्रेरित होकर उसने वैसा किया, वह तो मां होने के नाते उसका सहज धर्म था। इसीलिए उसका दृढ़ आग्रह है—

> जो कोई कुछ कह सके, कहे क्यों चूके ?...
> छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे !

माना गया है कि किसी भी मां के जीवन की कृतार्थता सन्तान को जन्म देने मात्र में नही, बल्कि उसे संस्कार देने में भी होती है। इस दृष्टि से भी कैकेयी की चिंता को 'साकेत' में सर्वथा सही विन्दुओं पर रेखांकित किया गया है—

> भरत हे भरत, शील-समुदाय
> गर्भ में आकर मेरे हाय।
> हुआ यदि तू भी संशय-पात्र
> दग्ध हो तो मेरा यह गात्र ! (साकेत : द्वितीय सर्ग)

हालांकि कैकेयी के साथ किये गये पारम्परिक सलूक के थपेड़े एकाध जगह 'साकेत' के कवि को भी डिगा देते हैं और वह कैकेयी को 'पाषाणी' जैसी संज्ञाओं से विभूषित करने में देर नहीं लगाता ('पसीजो पर न पाषाणी जरा भी'—तृतीय सर्ग) लेकिन ये संज्ञाएँ मां कैकेयी की अपनी वास्तविक संज्ञा पर भारी नहीं पड़तीं, तो केवल इसीलिए कि कैकेयी के व्यवहार के मनोवैज्ञानिक स्तरों को उद्घाटित करने का मौका जहाँ भी कवि को मिलता है, वह सांस्कारिक पूर्वाग्रहों से अपने को मुक्त रखने को भरसक कोशिश करता है। वह पूरे प्रमाण के साथ दिखाता है कि कैकेयी की मन.स्थिति ('भरत की मां हो गयी अधीर') के आधारभूत घटक क्या है ? 'भरत से सुत पर भी सन्देह, बुलाया तक न उसे जो गेह'—यह कथन दशरथ-सरीखे न्यायी और सत्यनिष्ठ पिता के सन्दर्भ में चाहे कितना ही निराधार आरोप क्यों न हो, लेकिन 'भरत की मां' को सन्देह में डालने का एक साधार तर्क तो बन ही जाता है। भरत पर सन्देह किये जाने को कैकेयी अपनी कोख पर सन्देह किये जाने के रूप में लेती है और कोई भी मां अपनी कोख पर किये गये सन्देह को आखिर कैसे बरदाश्त करे ?

हृदय कितना ही भोला हो, लेकिन भावना जब तर्क के हवाले होने लगती है, तो हृदय कुछ-न-कुछ समझदार होने की कोशिश करता ही है। भावना जब एक बार तर्क के रास्ते पर चल पड़ती है तो उसे पुन: अपने रास्ते पर लाने के लिए तर्क से बड़ी भावना का सहारा चाहिए, जो कैकेयी को उचित अवसर पर न तो दशरथ से मिल पाया और न ही किसी अन्य से। अपने भरत से शायद मिल पाता, लेकिन वह है नहीं। केवल एक उम्मीद है—

कहें सब मुझको लोभासक्त
किंतु सुत, हुजो तू न विरक्त !

और यह उम्मीद इतनी बड़ी है कि तृतीय सर्ग में जब लक्ष्मण कैकेयी से उसके कृत्य के लिए सीधे जवाब तलब करते हैं—'मां, क्या ठीक है यह ?' तो कैकेयी पूरे विश्वास से कह उठती है—'भरत होता यहाँ तो मैं बताती !'

बाद में, कैकेयी को पश्चात्ताप की भयंकर यन्त्रणा से गुजरना पड़ता है, लेकिन उन कठिन क्षणों में भी वह अपनी अस्तित्व-व्यापी प्रकृति को पूरे स्वाभिमान के साथ याद करती है—'सहज मानिनी रही, सरल क्षत्राणी !'

'साकेत' के अष्टम सर्ग के चित्रकूट-सभावाले प्रसंग में पूरी संवाद-योजना के अंतर्गत प्रयुक्त एक शब्द 'अभीप्सित' और एक वाक्य 'जनकर जननी ही जान न पाई जिसको' को आधार बनाकर कवि जिन अन्तर्द्वन्द्वों को अभिव्यक्ति देता है, वे भरत और कैकेयी के सन्दर्भ में न तो क्रमश: हैं, न अलग-अलग हैं। वे नितान्त सहवर्ती हैं। उनमें बेटे और मां की सहभागी संवेदनशीलता प्रतिफलित होती

है। भरत 'अभीप्सित' शब्द को अपने सन्दर्भ में एक व्यंग्य के रूप में लेते हैं और आहत होते हैं, लेकिन भरत की मां को भी यह शब्द कम नहीं वेधता, क्योंकि उसका अपना 'अभीप्सित' भी तो सही-सही कहाँ पहचाना गया। फिर भी वह चुप रहती है। यहाँ यह चुप्पी 'गलानि गरइ' कैकेयी की चुप्पी नहीं है, वल्कि अपना पक्ष प्रस्तुत करने का दृढ़ तर्क तलाशती मां की चुप्पी है। यह तर्क उसे मिल जाता है, जैसे ही राम के मुँह से वह यह सुनती है—'उसके आशय की थाह मिलेगी किसको, जन-कर जननी ही जान न पाई जिसको!' भरत की जननी होने के अधिकार से ही उसने राम के लिए वन गमन मांगा था और अव उसी अधिकार से वह राम से वापस लौटने का आग्रह करती है ('यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया!') तथा राम को भी, अपना ही वेटा होने का अधिकार पुनः सौंपते हुए तुरन्त यह भी कवूल करती है—'अपराधिनि हूँ मैं तात, तुम्हारी मैया!' इस प्रकार हम मातृ-हृदय के इस सत्य का मनोवैज्ञानिक साक्षात्कार करते हैं कि उदात्त और व्यापक रूप में प्रसरणशील होने का स्वाभाविक मौका किसी भी मां के वात्सल्य को तभी मिलता है, जब वह पहले खुद उसके अपने वेटे की ममता से आप्लावित होता है।

'कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र क्या तेरा?'—भरी सभा में यह बुनियादी प्रश्न उठाने का साहस जिस मां में हम पाते हैं, वह कैकेयी है। इस प्रश्न का सामना मध्ययुगीन-दृष्टि कर ही नहीं सकती थी। 'नातें सवै राम ते मनियत' वाली दृष्टि में मातृत्व के गौरव की वस एक ही कसौटी दी गयी थी—'पुत्रवती जुवती जग सोई, रघुपति भगत जासु सुत होई!' आधुनिक दृष्टिवाला कवि (राम-भक्त भी होने के वावजूद) इस कसौटी पर एक वड़ा प्रश्न-चिह्न लगाने की हिम्मत करता है—'कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र क्या तेरा?' यही कारण है कि यह कवि मां के सहज स्पंदनशील रूप को सामने लाने में कामयाव होता है।

कृष्ण-काव्य के आधुनिक विकास-क्रम मे यशोदा के मातृ-व्यक्तित्व को भी विकसित करने की कतिपय चेष्टाएं हुईं। खड़ी वोली के प्रथम महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित 'प्रियप्रवास' में हरिऔध ने एक सम्पूर्ण सर्ग ही खास तौर से इसी उद्देश्य को समर्पित कर दिया। लेकिन कैकेयी के मातृसुलभ व्यक्तित्व का जैसा आधुनिक रूपांतरण 'साकेत' में संभव हुआ, वैसा यशोदा के व्यक्तित्व का, 'प्रियप्रवास' में नहीं हो पाया। 'प्रियप्रवास' की यशोदा में अगर कोई फ़र्क आता है, तो सिर्फ इतना ही कि पुत्र के वियोग में अपने मन को समझाने का एक उपचारात्मक आधार वे उस सन्तोष में ढूढ़ लेती हैं, जो प्रवासी पुत्र के समाज-सेवारत होने से उन्हें मिल सकता है। 'प्रियप्रवास' की यशोदा एक विवेकी मां हैं, जो अपनी गहन वात्सल्य-विह्वलता में उपर्युक्त संतोष से उपजा धैर्य सहेजती हैं। लेकिन, जिसके पास सहेजने को सिर्फ 'भाव-धन' है, ऐसी (हर साधारण नारी में छिपी) मां को अपनी

सम्पूर्ण द्रवणशील दीप्ति तो 'साकेत' की कैकेयी में ही मिल सकी। कोई भी मां हो—किसी भी युग की, उसकी अपनी धड़कन का सत्य यही रहा है—'मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा।'

'हृदय की अधीरता' मातृ-सुलभ वृत्ति के सिलसिले में एक बहुत ही मूल्यवान अनुभव है। इसकी कीमत पर किसी भी मां में भावात्मक संयम को वरीयता देना एक प्रकार से मातृत्व को कुंठित करना है। हमने अभी कहा कि 'प्रियप्रवास' की यशोदा एक विवेकी मां है। विवेकी होने में कोई बुराई नहीं है। (बल्कि विवेकी होना तो आधुनिक मां का गुण है।) लेकिन विवेक जब 'दिल को समझाने' के लिए एक 'अच्छा ख्याल' मात्र हो, तो मनोविज्ञान की भाषा में इसे 'ग्रंथि' ही कहा जाएगा। कृष्ण का व्यक्तित्व दरअसल इतना जन-चरित्री है कि लोक-रक्षा या समाज-सेवा का कोई लक्ष्य अलग से सिद्ध हो पाने के लिए उनके प्रवास की अनिवार्यता का तर्क बहुत कम मायने रखता है। 'प्रियप्रवास' की यशोदा का सन्तोष एक प्रकार का दिवा-स्वप्न ही है। हरिऔध उसका आदर्शीकरण कर देते हैं। इसीलिए यशोदा का विवेक रचनात्मक संवेदना में तब्दील नहीं हो पाता। संस्कारतः मैथिलीशरण गुप्त भी कम आदर्शवादी नहीं हैं, लेकिन वे कैकेयी के चरित्र में वैसा कोई आदर्शीकरण न करके हिंदी-कविता का बहुत उपकार करते हैं।

अब रहा यह सवाल—मातृ-भावना के सन्दर्भ में क्या भावात्मक संयम की कोई संगत-दिशा हो ही नहीं सकती? सच पूछिये तो मातृ-हृदय के अधीरता के व्यक्तिगत आलम्बन को दायित्व-बोध के संभावनाशील सामाजिक आलम्बन में रूपांतरित करना न केवल हिंदी-कविता, बल्कि किसी भी भाषा की कविता के लिए एक चुनौती की तरह अभी भी शेष है। यह चुनौती स्वीकारते हुए, भावात्मक संयम की सार्थक भूमिका जयशंकर प्रसाद जैसे महाकवि की प्रतिभा द्वारा पहचानी जा सकती थी, लेकिन उनके छायावादी भाव-बोध की सीमाएँ आड़े आ गईं। 'कामायनी' में 'श्रद्धा' के चरित्र के अंतर्गत प्रसाद को काफी मौका था कि वे उसके मातृत्व में भावात्मक संयम की भी अभिव्यक्ति होने देते तथापि वे चूक जाते हैं। कारण केवल इतना ही नहीं है कि 'प्रेयसी' और मां—व्यक्तित्व के इन दो छोरों के बीच श्रद्धा का निर्वाह करने में वे प्रवृत्यात्मकता और प्रतीकात्मकता—दोनों को समअक्षीय मानकर चल रहे होते हैं, बल्किज्यादा बड़ा कारण यह है कि दायित्व-बोध के सामाजिक आलम्बन की यथार्थ भूमि पहचानने के बजाय वे अध्यात्मपरक या रहस्यात्मक भूमि पहचानने की ओर मुड़ जाते हैं। 'कामायनी' में श्रद्धा जहाँ 'मां' है, वहाँ उसकी चेतना युग की अपेक्षा के बहुत अनुकूल नहीं है। अलबत्ता जहाँ वह 'भावी मां' है, वहाँ वह अधिक जीवन्त है—'श्रम-बिन्दु बना-सा झलक रहा, भावी जननी का सरस गर्व।' यह 'भावी

जननी' अपने छोटे से संसार में स्वस्थ आश्वस्ति की नयी धुरी पाने की उम्मीद में कितनी पुलकित है—

सूना न रहेगा यह मेरा
लघु विश्व कभी जब रहोगे न;
मैं उसके लिए बिछाऊँगी
फूलों के रस का मृदुल फेन!

अपनी सन्तान के लिए 'फूलों' के रस का मृदुल फेन बिछाने का अरमान लिये ऐसी ही मां से मिलती-जुलती तस्वीर शायद उस पाश्चात्य कवि के मन मे भी रही होगी, जिसने लिखा—

'She fed our feelings as dew feeds the grass.'

भावी शिशु की कल्पना में डूबी श्रद्धा का एक अन्य चित्र भी द्रष्टव्य है—

मेरी आँखों का सब पानी
तब बन जाएगा अमृत-स्निग्ध
उन निर्विकार नयनों में जब
देखूंगी अपना चित्र मुग्ध!

यह चित्र अपनी मार्मिकता के लिए तो द्रष्टव्य है ही, साथ ही उस सीमारेखा को दिखाने के लिए भी द्रष्टव्य है, जहाँ से वैचारिक स्तर पर मातृत्व की पतनशील अवधारणा श्रद्धा के चरित्र में सिर उठाने लगती है। यहाँ अपने भावी शिशु में श्रद्धा 'अपना चित्र' देखने की उत्कंठा लिये बैठी है, लेकिन जहाँ यह उत्कंठा फलीभूत होते देखकर प्रसाद के पाठक श्रद्धा के स्वस्थ अनुभव में शरीक होने का मौका पा सकते थे, वहाँ तक आते-आते खुद प्रसाद की ही दृष्टि यथास्थितिवादी समाज के गलित सोच का शिकार हो जाती है। 'समरसता' के प्रवक्ता होकर भी प्रसाद पुत्र के सन्दर्भ में माता और पिता—दोनों को समान दर्जा नहीं दे पाते। 'स्वप्न सर्ग' में श्रद्धा का चित्र प्रसाद इस तरह प्रस्तुत करते हैं—

'मां'—फिर एक किलक दूरागत
गूंज उठी कुटिया सूनी।
मां उठ दौड़ी भरे हृदय से
लेकर उत्कंठा दूनी!

यह 'दूनी उत्कंठा' कैसी है, जो अपने शिशु में मां को 'अपना चित्र' नहीं देखने देती, बल्कि उसका पुत्र उसे 'मात्र पिता का प्रतिनिधि' दिखाई देता है—

अरे पिता के प्रतिनिधि
तूने भी तो सुख-दुख दिया घना!

'कामायनी' से आधुनिक कविता में जिस कामाध्यात्म की यात्रा शुरू होती है, उसके एक महत्वपूर्ण पड़ाव के रूप में अक्सर दिनकर के काव्य 'उर्वशी' की

चर्चा होती रही है। डॉ. रामविलास शर्मा 'उर्वशी' में नारी सौन्दर्य के अभिनंदन के अतिरिक्त मातृत्व की प्रतिष्ठा भी देखते हैं और लिखते हैं कि 'आज के कुंठावादी मरुप्रदेश में आस्था के ये स्वर मुझे अच्छे लगते हैं'—

चिंतन कर यह जान कि तेरे
क्षण-क्षण की चिंता से
दूर-दूर तक के भविष्य का
मनुज जन्म लेता है!

किसी स्वर का किसी को महज 'अच्छा लगना' काव्य बोध के मूल्यांकन का असंदिग्ध निकष नहीं माना जा सकता है। हाँ '...के अतिरिक्त मातृत्व की प्रतिष्ठा' वाली बात इस अर्थ में अवश्य कुछ-कुछ जंचती है कि 'उर्वशी' में कवि ने 'मातृत्व की प्रतिष्ठा' के लिए उतनी जगह देने का एहसान तो किया ही है, जितनी प्रणय की—भाषा-वैभव से परिपूर्ण—कामाध्यात्मिक मुद्राओं के अंकन के अतिरिक्त बच रहती थी।

× × ×

कलेवर में छोटी होते हुए भी कोई सुसंघटित प्रबंधात्मक रचना अतिरिक्त रूप में नहीं, बल्कि अंतर्वर्ती रूप में (कांटेंट की मूल धारा में) मातृत्व की प्रतिष्ठा किस तरह कर सकती है—इस तथ्य की एक बहुत अच्छी मिसाल 'राम की शक्ति-पूजा' शीर्षक कविता है। निराला की इस कविता में राम 'शक्ति' का आवाहन तो मां के रूप में करते ही हैं, स्वयं अपनी जन्मदात्री मां की याद भी जिस प्रकार वे करते हैं—उसमें अद्भुत ऊर्जस्विता है: 'कहती थीं माता मुझे सदा राजीवनयन!'

एक आधुनिक अंग्रेज कवि रिचर्ड मर्फी की एक कविता है—

'The Woman of the House'

इस कविता में भी हम पढ़ते जरूर हैं कि—

Images spread, and intuitions lived
more than the mere sense of what she said.

लेकिन माता का 'कहा हुआ' अपने निहितार्थ से फैलकर बेटे की स्मृति में किस सक्रियता से व्याप जाता है, यह 'राम की शक्ति-पूजा' में ही देखा जा सकता है।

इस कविता में एक प्रसंग यह भी आता है कि जब हनुमान 'करने को ग्रस्त समस्त व्योम' अपना 'तेजः प्रसार' करते हैं, तो देखते हैं—

सहसा नभ में अंजना-रूप का हुआ उदय।
बोली माता—'तुमने रवि को जब लिया निगल।
तब नहीं बोध था तुम्हें रहे बालक केवल।
यह भाव कर रहा आज तुम्हें व्याकुल रह-रह।
यह लज्जा की है बात कि मां रहती सह-सह!

भावात्मक संयम की जिस सार्थक भूमिका की चिंता हृदय की अधीरता के सन्दर्भ में हम पहले कर चुके हैं, उपर्युक्त पंक्तियों में वह रेखांकित की जा सकती है। यहाँ बेटे की अधीरता को भावात्मक संयम की दिशा माता दे रही है। जाहिर है कि इस भावात्मक संयम के अधीन पहले उसे खुद अपने अधीर हृदय को लाना पड़ता है ('माँ रहती सह-सह !')।

एक जनवादी समीक्षक ने उपर्युक्त प्रसंग को विशेष अर्थ-गर्भित बताते हुए उसकी व्याख्या इस तरह की है : 'शक्ति' ने माता अंजना का रूप धारण करके हनुमान् के क्रांतिकारी बालक-भाव (लेनिन के शब्दों में 'बचकाना मर्ज़') को इतिहास-बोध द्वारा दबा कर दी)।'

('जनवादी समीक्षा' : चंचल चौहान, पृ० ७२)

मातृ-सन्दर्भ के ऐसे अनेक, सर्वथा नये क्षितिज यदि 'राम की शक्ति-पूजा' में उद्घाटित होते हैं तो यह यादृच्छिक नहीं है। इसके सूत्र खुद निराला की कविता में ही हैं।

जाम्बवान् राम से कहते हैं—'शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन।' यहाँ 'मौलिक' शब्द ध्यान देने योग्य है। 'मौलिक' का अर्थ केवल 'नया' नहीं है। यदि इतना ही अर्थ अभीष्ट होता, तो छंद को कोई झटका दिये बिना कवि 'मौलिक' के स्थान पर 'नूतन' लिख सकता था। (बाद में तो लिखा भी गया—'कल्पना करो नवीन कल्पना करो !' गोपाल सिंह नेपाली से लेकर सोहन लाल द्विवेदी तक इस आशय का उद्बोधन कई जगह मिलेगा।') निराला का उद्देश्य 'शक्ति' की नयी कल्पना भर करना नहीं है। निराला का ज़ोर 'शक्ति' की कल्पना को सत्य की मूलवर्तिनी बनाने पर है। राम देख रहे हैं—'अन्याय जिधर है, उधर शक्ति !' लेकिन उनकी चिंता यही है कि शक्ति का अपना पक्ष तो न्याय का पक्ष ही होना चाहिए। मां का अपना पक्ष भी मूलत: बेटे का पक्ष ही होता है। इस साधर्म्य के आधार पर निराला 'शक्ति' की कल्पना माता के रूप में करते हैं। यह कल्पना एकदम नयी नहीं है; दार्शनिक स्तर पर पहले की कविता में भी की जाती रही है। लेकिन फिर भी यह मौलिक है, क्योंकि निराला 'शक्ति' को ही माता के रूप में नहीं, बल्कि 'माता' को भी शक्ति के रूप में देखते हैं। आधुनिक संवेदना के लिए यह कल्पना अधिक प्रेरणास्पद और ग्राह्य है, क्योंकि 'धिक् जीवन जो पाता ही आया हो विरोध' की पृष्ठभूमि में वह यह दिखती है कि 'वह एक और मन रहा राम का जो न थका।'

× × ×

कविता में प्रतीकों की स्थिति से संबंधित एक प्रश्न पूछे जाने पर पाब्लो नेरूदा ने एक बार जवाब दिया था कि मेरी कविता में कुछ भी आये—'मां', 'बच्चा' या

'फूल', पहले वह मां, बच्चा या फूल ही होता है, बाद में प्रतीक भी हो तो हो। लेकिन हिन्दी-कविता में मातृ-भावना के साथ प्रतीकात्मकता का आग्रह कहीं-कहीं इस तरह भी बढ़ा है कि मां केवल अप्रस्तुत बन कर रह गयी। पंत ने लिखा—

मां के उर पर शिशु-सा समीप
सोया धारा में एक द्वीप! (नौकाविहार)

इसी तरह के अप्रस्तुत विधान के आधार पर समाज और व्यक्ति के संबंध का प्रतीकात्मक समाधान अज्ञेय ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'नदी के द्वीप' में किया—

हम नदी के द्वीप हैं
धारा नहीं हैं
....
....
....
मां है वह। है, इसीसे हम बने हैं।

मुक्तिबोध को 'अद्विग्न रात' 'अपराधी कन्या की चिंता में माता-सी बेकल' (भूरी-भूरी खाक धूल में) दिखती है, तो केदारनाथ अग्रवाल को 'उदास दिन' ('फूल नहीं रंग बोलते हैं' में) 'मां से बिछुड़े हुए पुत्र-सा' दिखाई देता है।

समकालीन हिन्दी-कविता में 'मां' की उपस्थिति उन स्थलों पर निश्चित ही बहुत अर्थवाही बन पड़ी है, जहां आत्मीयता की सनातन और सहजतम परिणति की अभिव्यंजना के लिए संवेदना और सृजनेच्छा के उभयनिष्ठ प्रतीक के रूप में उसे प्रस्तुत किया गया है। मुक्तिबोध को तो यह प्रतीक अपनी कविता का इतना सगा मालूम होता है कि वे 'एक अंतर्कथा' शीर्षक रचना में अपनी कविता को, दूसरे अनेक कवियों की तरह 'प्रिया' या 'पुत्री' नहीं कहते बल्कि 'मां' कहते हैं। 'मां' को इसी प्रतीक-रूप में लेकर चलनेवाली एक कविता अज्ञेय की भी है—'अनुभव-परिपक्व'। काव्यानुभव में जीवनानुभव की स्थूल आवृत्ति के बजाय उसकी संवेदनात्मक संभावना को स्पंदित करनेवाली रचना-प्रक्रिया को मूर्त करने के लिए अज्ञेय शुरू में अपने रचनाकार को एक हठी बालक के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जो कविता के अंत में एक विनयी बालक में बदल जाता है और मां से निवेदन करता है—

अच्छा मां, मुझे खाली मिट्टी दे दो
मैं कुछ नहीं मांगूंगा
मेले जाने का हठ नहीं ठानूंगा—
जो कहोगी, मानूंगा।

(आंगन के पार द्वार: पृ० २२)

अज्ञेय की कविता का यह विनयी बालक निस्संदेह 'अनुभव-परिपक्व' है।

लेकिन मां की विवशता क्या है—अपने पूरे भौतिक-सामाजिक परिवेश में, इस बात को समझ पाने का कोई लक्षण उसमें हम नहीं पाते। इस लिहाज से मुक्तिबोध की कविताओं में अक्सर ही जो शिशु आता है, वह अपनी संवेदना में मार्मिक होने के साथ-साथ विचारोत्तेजक भी है। मुक्तिबोध 'अनुभव', 'आत्मोत्पन्न सत्य' या 'जीवन के आत्मज सत्य' को शिशु-रूप में प्रतीकित करते हुए आत्मा की अवशता, और छटपटाहट का एक मां की अवशता और छटपटाहट के रूप में साक्षात्कार करते हैं—

> चिथड़े में सद्यःजात एक बालक सुन्दर
> आत्मारूपी माता ने जाने कब त्यागा
> जीवन का आत्मज सत्य
> न जाने किस डर से।
>
> (भूरी-भूरी खाक धूल, : पृ० १७१)

सुधी पाठकों ने लक्ष्य किया होगा कि आधुनिक हिन्दी-कविता में मातृ-सन्दर्भ की जो विवेचना यहां तक हमने प्रस्तुत की, उसमें नारी-स्वातंत्र्य की आंदोलनात्मक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में हमने अलग से कुछ कहने की जरूरत नहीं समझी। विवेचना में यह निहित है कि स्त्री को, सामाजिक-आर्थिक—किसी भी मानवीय धरातल पर पुरुष से घटकर न मानने की मानववादी प्रेरणा का महत्त्व हमने स्वीकार किया है। लेकिन आधुनिकतावादी साहित्य में नारी-स्वातंत्र्य की भावना का एक झोंका ऐसा भी आया जिसने मातृत्व की सहज भावना को नारी की अस्मिता से विच्छिन्न करने की कोशिश इस तर्क के आधार पर की कि मातृत्व वह प्रकृति-सिद्ध अस्त्र है, जिसे पुरुष-वर्ग नारी के खिलाफ़, अपने पक्ष में इस्तेमाल करता है। यह तर्क, यद्यपि एकदम बेबुनियाद नहीं है, लेकिन जहां इसका आग्रह अतिरेकी आवेश से जुड़ने लगता है, वहां यह अस्वाभाविक हो जाता है।

हिन्दी के एक समकालीन नाटककार सुरेन्द्र वर्मा की एक नाट्य-कृति है—'सेतु-बंध'। इसकी नायिका प्रभावती के दो संवाद यहां प्रस्तुत हैं:—

१. मां हूं, लेकिन स्त्री भी तो हूं। क्योंकि मां हूं, इसलिए स्त्री होने का अधिकार····नहीं, विवशता····छिन जायेगी?

२. कौन समझेगा कि मेरी भावना आज तक कुमारी है·····मैं मां बनी हूं, लेकिन पत्नी नहीं।

इन दो संवादों में जो भाव व्यक्त हुआ है, उससे भी ज्यादा तीखी, नारी की प्रतिक्रिया देखनी हो, तो सुरेन्द्र वर्मा के ही एक अन्य नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में शीलवती का यह संवाद देखिये—

'नारी की सार्थकता मातृत्व में नहीं है, महामात्य ! है केवल पुरुष के संयोग के इस सुख में·····मातृत्व केवल एक गौण उत्पादन है।

अब से लगभग दस वर्ष पूर्व सुरेन्द्र के इन नाटकों के रंग-पक्ष और वैचारिक पक्ष पर मैंने एक लेख लिखा था जो 'नया प्रतीक' (सं० अज्ञेय) में छपा था। कुछ लोगों ने तब यह आपत्ति उठाई थी कि सुरेन्द्र वर्मा की वैचारिकता का पक्ष लेकर मैंने नारी-स्वातंत्र्य की पक्षधरता का अतिरिक्त उत्साह दिखाया है। मेरा जवाब तब भी यही था और अब भी यही है कि सुरेन्द्र के इन नाटकों का मूल स्वर मातृत्व की गरिमा को नकारने वाला नहीं है। दरअसल यहाँ मातृत्व का नकार नहीं है; मातृत्व-संबंधी उन सामाजिक मान्यताओं का नकार है जिनके रहते स्त्री का मातृत्व पुरुष के लिए या तो सामाजिक शोभा की वस्तु बन जाता है—कुछ-कुछ 'स्टेटस सिम्बल' जैसा; या फिर स्त्री के शारीरिक और भावनात्मक शोषण का माध्यम बन जाता है। 'सेतुबंध' से प्रभावती के जिन दो संवादों को हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, उनसे यह तथ्य बहुत स्पष्ट है। शीलवती का कथन स्थूलतया, अवश्य कुछ नकारवादी है, लेकिन जिस किसी ने 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' पढ़ा होगा, वह लक्ष्य करेगा कि यह एक सामाजिक रूढ़ियों की मारी हुई संवेदनशील स्त्री की आवेशात्मक प्रतिक्रिया मात्र है—प्रतिक्रिया उस पूरे आडम्बर के प्रति, जो शास्त्रीय विधान के नाम पर स्त्री के साथ किया जाता रहा है। हमारे इस मत का प्रमाण भी शीलवती के अपने उद्‌गार में ही पाया जा सकता है : 'मुझे पुस्तक नहीं जीना अब····मुझे जीवन जीना है !'

नारी-स्वातंत्र्य के नाम पर मातृत्व-भावना को नारी-भावना से विच्छिन्न करके देखना निश्चित ही अस्वस्थ दृष्टिकोण का परिचायक है। हिन्दी की समकालीन रचना में यह दृष्टिकोण अपनी जड़ें नहीं जमा सका—यह हमारी रचनाशीलता के स्वास्थ्य का लक्षण ही माना जाएगा !'

वर्तमान व्यवस्था से उपजी विसंगतियों के परिप्रेक्ष्य में पारिवारिक जद्दोजहद का चित्रण करनेवाली कविताओं में, माँ के अस्तित्व को पूरी विश्वसनीयता में, उभारने की कोशिश कई नये कवियों ने भी की है। कुछ पंक्तियाँ यहाँ उदाहरणार्थ देखी जा सकती है—

> एक लगभग युवा माँ देखती है कोई दरार।
> जो किराये के मकान से एड़ी तक समा गयी है।
> और जब कुछ नहीं पाती वहाँ भरने को।
> तो हवा के चाहे रूप आईने में अपनी झुर्रियों को।
> देश की बड़ी-बड़ी नदियों की तरह देखती है।
> और किसी भी तहस-नहस में।

हर बार इस चेहरे को बचा लाती है
अपने सबसे छोटे बच्चे के लिए।

('घबराये हुए शब्द' : लीलाधर जगूड़ी, पृ. ६९)

× × ×

दिन भर
फिरकनी-सी खटती
माँ
हमारे सपनों के लिये
कितनी चिंतित है !

('एक दिन बोलेंगे पेड़' : राजेश जोशी, पृ. १२)

× × ×

उसके सिरहाने
माँ बैठी है
उसके सोने में है व्यथा।

('तालाब में डूबी छः लड़कियाँ' : विष्णुनागर, पृ. २१)

बचपन की अबोध आकांक्षाओं तथा किशोरावस्था के रोमानी सपनों की दहलीज लांघते हुए जब जिन्दगी की कठोर वास्तविकताओं के रूबरू आज का व्यक्ति अपने को पाता है तो बचपन की स्मृतियाँ न केवल एक टीस की तरह उभरती हैं, बल्कि अपनी कारुणिकता में व्यंग्य के स्फुलिंग भी चमका जाती हैं। ऐसे में एक कवि को मां इस तरह याद आती है—

एक रोज बचपन में मैंने जिद की थी
बायस्कोप देखूंगा।
मां ने मुझको सहज भाव से फुसलाया
बिस्तर में, तकिये के नीचे मुंह रख
आँखें बंद करके
चंदा मामा के घर में
चरखा कात रही बुढ़िया के बारे में सोचो
तब जो देखोगे उसको बायस्कोप कहते हैं।

इस कविता के अंत तक आते-आते मोह-भंग की स्थिति को कवि जिस रूप में रेखांकित करना चाहता है, वह भी मां को याद किये बिना कहाँ संभव था ?

मैंने बचपन में जिद क्यों की थी
मां ने क्यों मुझको झूठाबायस्कोप देखना सिखलाया था ?

('एक छोटी-सी लड़ाई' : कुमार विकल, पृ. ९-१०)

□

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

छेदीलाल गुप्त

हिन्दी कथा-साहित्य में मां

हिन्दी-साहित्य का कोई भी पक्ष—काव्य, कथा, नाटक, निवंध—ऐसा नही है, जो माता या मातृत्व की गरिमा व महिमा के गुणगान में मुखर न हो। हिन्दी के काव्य और कथा-साहित्य तो माता की ममता के चित्रण में अद्वितीय रहे है। क्योंकि हमारे देश की सभ्यता मानव समाज के ऐतिहासिक क्रम में, प्रारम्भ में कृपि प्रधान रही है, मातृ-सत्तात्मक। महिमामयी मां ही कृपि सत्ता की अवधारक शक्ति रही है। कृपि 'जन' आश्रित सभ्यता रही। 'जन-श्रम' ही उस समय उत्पादन का महत्वपूर्ण एवं एकमात्र साध्य साधन रहा। इसलिये जन की 'जननी' यानी परिवार का प्राण-केन्द्र माता ही वनी। परिवार संयुक्त था चूंकि धरती सम्पत्ति थी, जिसे जोतने, वोने और काटने के लिये जितने ओर जैसे आस्थावान लोगों की जरूरत थी, जो परिवार के सदस्यों के सिवा अन्य कोई नहीं हो सके थे और जिनकी आपूर्ति नारी के 'जननी' रूप के सिवा असंभव थी! कालक्रम में, यह कृपि-सभ्यता औद्योगिक-सभ्यता के पराश्रित होती गयी। हम अंग्रेजों के अधीन हुए। इस औद्योगिक-सभ्यता में कृपि-सभ्यता का आधुनिकीकरण हुआ। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि 'भारत माता' है और इस आधुनिक चेतना के संवाहक अंग्रेज 'फादरलैंड' यानी पितृ सत्तात्मक संस्कृति के पोषक रहे।

हिन्दी की कालजयी कथा-कृति प्रेमचन्द का 'गोदान' कृषि-सभ्यता से औद्योगिक सभ्यता में संक्रमण का एक निदर्शन है—होरी एक किसान जीवन भर धरती माता की पूजा में संलग्न रहा, अन्त में वह मजदूर होकर मरा। इसके अतिरिक्त 'गोदान' की धनिया 'गोबर' की मां की यह महिमा थी कि वह अपने होरी को भाई-विद्वेष यानी संयुक्त परिवार के टूटन से बचाती रही। साथ ही गोबर का कुजात की विधवा लड़की को निकाल कर ले आना और उसे अपनी मां के पास छोड़कर शहर चला जाना, उसके लिये गाँव-समाज की लाँछना सहना तथा उसे घर से निकालने के लिये विवश करनेवाले जन-परिजन को दो टूक जवाब देना कि कुछ भी हो वह किसी की लड़की है और स्वयं वह एक मां है, उसे कैसे विपता के मुंह में ढकेल दे। मां का यह आदर्श रूप भारतीय कथा-साहित्य में ही संभव है। क्योंकि—

माता, मां! धरती पर शिशु के अवतरित होते ही उसे प्रथम स्पर्श जिसका अनुभव होता है वह है मां। अपनी अस्मिता को एक से अनेक में बाँटनेवाली वह नारी जो बालिका से वधू और वधू से जननी में परिणत होती है, जो श्रद्धा, समन्विति और धैर्य की महिमा से मंडित है, जो तत्त्वज्ञानी की व्याख्या में पृथ्वी है, दार्शनिक की दृष्टि में संस्कृति का मूलाधार है और धर्म की दृष्टि में पूजा की महत् परंपरा है। मां! अर्थात् मंगल! मां यानी ज्ञान।

महादेवी वर्मा ने अपने एक निबंध में लिखा है—'स्त्री के विकास की चरम सीमा उसके मातृत्व में ही है. . . मां का रूप ही सत्य, वात्सल्य ही शिव और ममता ही सुन्दर है।' यानी मां के रूप में ही सत्य, शिव और सुन्दर के दर्शन होते हैं।

डॉ० विन्दु अग्रवाल ने अपनी रचना में स्पष्ट घोषणा की है कि नारी के नाना रूपों में सबसे महत् और गौरवशाली रूप माता का है। . . . पृथ्वी के समान ही वह संतान को धारण करती है, उसका लालन-पालन करती है और आजीवन धैर्य एवं सहिष्णुता के साथ संतान के सुख की कामना करती है। इसलिए माता के ऋण से उऋण होना असंभव है।

प्रेमचंद ने मां के विभिन्न रूपों को विभिन्न संदर्भो में, विभिन्न कहानियों में रूपायित किया है :—

—मातृ-प्रेम धन्य है। संसार म और जो कुछ है मिथ्या है, निस्सार है, मातृ-प्रेम ही सत्य है, अक्षय है, अनश्वर है।

—माता का हृदय दया का आगार है।

—माता के अभाव में वह (संतान) पंखहीन पंछी है :

इस क्रम में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'उसकी मां', जैनेन्द्र कुमार की 'पढ़ाई', विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' की 'ताई', विष्णु प्रभाकर की 'नागफाँस' आदि कहानियों में आधुनिक काल के मातृत्व की महिमा एवं गरिमा का बखान करने में अपने अतीत से किसी तरह भी कम नहीं हैं।

इसी प्रकार हिन्दी-उपन्यासों में भी पृथ्वी पर मां की उपस्थिति व महत्व को ईश्वरीय माना गया है।

प्रेमचंद के बाद माता की ममता व मातृत्व की गरिमा को अत्यधिक उजागर करनेवाली औपन्यासिक कृति है सियाराम शरण गुप्त की 'नारी'। मां के त्याग की भावना इस उपन्यास की इस पंक्ति—'तुम मेरे इल्ली को इतना प्यार करते हो, तुम्हारे लिए में अपने को काट-काट फिकवा सकूँ, तब मेरे जी को सुख मिले।'—से प्रदर्शित होती है। नारी के माता रूप का ऐसा करुण वर्णन अन्यत्र मिलना मुश्किल है।

यशपाल का 'दिव्या', मन्मथनाथ गुप्त का 'अवसान', जयशंकर प्रसाद का 'तितली', अवधनारायण श्रीवास्तव का 'विमाता', कौशिक का 'मां', बेनीपुरी का 'पतितों के देश में', इलाचन्द्र जोशी का 'प्रेत और छाया', वृन्दावनलाल वर्मा का 'प्रत्यागत', चतुरसेन शास्त्री का 'हृदय की परख' और नागार्जुन का 'रतिनाथ की चाची' ऐसे ही उपन्यास हैं, जिनमें विभिन्न रूपों में माता का अंकन हुआ है।

कहीं माता करुणा का सागर है, कहीं त्याग की मूर्त्ति, कहीं वीरमाता, तो कहीं वह बड़ी विवश, लाचार, संघर्षों में पिसती दिखाई पड़ती है। वास्तव में जो सामाजिक स्थिति है, उसमें मां मात्र मातृ-गरिमा से ही विभूषित नहीं है, कहीं-कहीं आर्थिक-सामाजिक विषमता के कारण बड़ी दयनीय और करुण-मूर्त्ति भी है। लेकिन उसकी दयनीयता की भी एक अलग गरिमा होती है। जैसे—

इस औद्योगिक-सभ्यता में प्रताड़ित मां का जो चित्रण भीष्म साहनी की कहानी 'चीफ की दावत' में हुआ है, वह मार्मिक तो है ही, उससे यह भी सिद्ध होता है कि सभ्यता में परिवर्तन तो आया परन्तु कृषि-सभ्यता की या मातृसत्ता की मां का मंगलमयी रूप जैसा-का-तैसा रहा। 'चीफ की दावत' का कथानायक मिस्टर शामनाथ और उनकी श्रीमती दावत की तैयारी करते हुए ठहर जाते हैं, क्योंकि 'मां का क्या होगा?' श्रीमती का मत है 'मां को सहेली के घर भेज दिया जाये। रात भर वहीं रहे। पर शामनाथ के विचार में मां 'जल्दी ही खाना खा के शाम को ही अपनी कोठरी में चली जाये।' मां कहती है—"अच्छा बेटा"....और मां हम लोग पहले बैठक में बैठेंगे। उतनी देर तुम यहाँ बरामदे में बैठना। फिर जब हम यहाँ आ जायें तो तुम गुसलखाने के रास्ते बैठक में चली जाना।" "अच्छा

बेटा।" इतने पर भी शोमनाथ ने अंग्रेजी में अपनी स्त्री से कहा—"यह मां का झमेला ही रहेगा।

. . . .

"मगर कोठरी में बैठने की देर थी कि मां की आँखों से छल-छल आँसू बहने लगे। वह दुपट्टे से बार-बार उन्हें पोंछती, पर बार-बार वे उमड़ आते, जैसे बरसों का बाँध तोड़ कर उमड़ आये हों। मां ने बहुतेरा दिल को समझाया, हाथ जोड़, भगवान् का नाम लिया, बेटे के चिरायु होने की प्रार्थना की, बार-बार आँखें बन्द की, मगर आँसू बरसात के पानी की तरह जैसे थमने में ही नहीं आते थे।"

ओंकार शरद के कई रेखा चित्रों में 'बांझ', 'आजी', 'अम्माजी' में आधुनिक जगत् की तनावपूर्ण स्थितियों को मां झेलती मिलती है। उनकी 'बांझ' कहानी इस बात की स्पष्ट घोषणा है कि नारी जब तक मां नहीं बन जाती, तब तक उसका अस्तित्व परिवार-समाज के योग्य नहीं होता।

"...पति उसे बहुत प्यार करता है। जीवन का यही मोह है उसे। यदि पति ऐसा न होता तो वह कभी जीवित नहीं रह सकती थी और उसकी सास! सोचते ही उसके रोंगटे खड़े हो गये।... उसी की बदौलत गाँव भर में यह चर्चा हो गयी है कि सुभागी बांझ है।....अभी केवल अट्ठारह बरस की ही है...। सास अपने बेटे लछुमन का दूसरा ब्याह करने की सोचती है। 'नहीं मां, ऐसा नहीं होगा।' लछुमन अब भी दृढ़ था। और लगभग दो महीने बीते थे कि एक रात प्रफुल्ल मन से सुभागी ने अपने पति को सूचना दी, 'हमने मानता मानी थी, सवा पाँच सेर लड्डू चढ़ाना है, महाबीरजी को। प्रबन्ध करो।...शायद तुम्हें दूसरी शादी नहीं करनी पड़ेगी।' ... तीसरे दिन सास ने कहा, 'बहू तुम अब बहुत काम न किया करो, आज से पानी भरने हम जायेंगे।'

इस प्रकार हिन्दी कथा-साहित्य में आज मां व्यवहार में विवश और घुटती-टूटती-सी दीखती है, मगर कर्म में वह कपूत बेटे के लिये भी सदा मंगलमयी बनी हुई है।

अमरकांत जिस त्यागमयी माता का चित्रण अपनी कहानी 'दोपहर का भोजन' में करते हैं, उस मां से भारतीय समाज की आदि मां के शाश्वत मूल्य का परिचय, आज भी आर्थिक विपन्नता के युग में अर्थात् औद्योगिक-सभ्यता की चरम परिणति की अवस्था में भी हमें मिलता है—

"सिद्धेश्वरी ने खाना बनाने के बाद चूल्हे को बुझा दिया और दोनों घुटनों के बीच सिर रख कर शायद पैर की अंगुलियों या जमीन पर चलती चींटे-चींटियों को देखने लगी। अचानक उसे मालूम हुआ कि बहुत देर से उसे प्यास लगी है। वह मतवाले की तरह उठी और गगरे से लोटा भर पानी लेकर गटगट चढ़ा

गयी। खाली पानी उसके कलेजे को लग गया और वह 'हाय राम ! कह कर वहीं जमीन पर लेट गयी।'

सिद्धेश्वरी तीन पुत्रों की जननी है। वह एक-एक कर तीनों के आगे खाने की थाली परोसती है—कुल दो रोटियां, भर कटोरा पनिऔआ दाल और चने की तली तरकारी। अन्त मे मुंशीजी (पति) के निवटने के पश्चात् सिद्धेश्वरी उनकी जूठी थाली लेकर चौके की जमीन पर वैठ गयी। वटलोही की दाल को कटोरे में उड़ेल दिया, पर वह पूरा भरा नहीं। छिपुली में थोड़ी-सी चने की तरकारी वची थी, उसे पास खींच लिया। रोटियों की थाली को भी अपने पास खींच लिया। उसमें केवल एक रोटी वची थी। मोटी-भद्दी और जली रोटी को वह जूठी करने जा रही थी कि अचानक उसका ध्यान ओसारे में सोये प्रमोद (सवसे छोटे लड़के) पर आकर्षित हो गया। उसने लड़के को कुछ देर तक एकटक देखा, फिर रोटी को दो वरावर टुकड़ों में विभाजित कर दिया। एक टुकड़े को अलग रख दिया और दूसरे टुकड़े को अपनी थाली में रख लिया। तदु-परांत एक लोटा पानी लेकर खाने वैठ गयी। उसने पहला ग्रास मुंह में रखा और तव न मालूम कहां से उसकी आंखों से टपटप आंसू छूटने लगे।"

आज के टूटते परिवार में विधवा मां का विवश किन्तु कर्ममयी स्वरूप का उदाहरण मेरी अपनी कहानी 'डोला' में उभरा है, जिसमें वेटी भी सम्पत्ति है, जवकि भारतीय समाज में सम्पत्ति के रूप में वेटे गण्य रहे हैं, चूंकि मां भारतीय संस्कृति की आधारशिला है, इसलिये वेटी जो संभावित मां है, वह सवसे वड़ी सम्पत्ति है। फुलिया की मां मंगली कहती है—

"करूँ तो क्या करूँ ? घर देखूं तो मैं, वाहिर देखूं तो मैं। मुदा मर गया फुलिया का जनक, जव यह कुल दो महीने की थी...। न पिया का प्यार पाया, न सुहाग का मरम जाना। और यह फुलिया है कि फूली वैठी रहती है। पास-पड़ोस तो यही कह कर मेरे नाम को थूकेंगे कि मैं इसकी मां न हुई सास हुई।... फुलिया मेरी लड़की, मुदा अपने मरद की जोरू। मरद के घर में तेरह जने। मेरे घर में एक अकेली फुलिया, जिसके व्याह में विष्णु पांड़े से दरकिश्त पर कर्ज लिया दो सौ, वद्री से दो सौ पाया और मुदा मसोमात होकर (फुलिया के व्याह में) इगारह सौ का लेन-देन, नेग-नियम निवटाया...।"—इस मां को उसका समाज लांछित करता है। वह वेटी की विदाई नहीं करती। इसलिये कि वह घरों से कपड़े लाती है, कर्ज चुकाने में मां की मदद करती है—'सरदार यह तिरिया चरित्तर है, मुदा कहूँ विटिया की कहीं आसनाई हो गयी है। उसकी कमाई खाना चाहती है—हां' ! कमरे में वैठी फुलिया का चेहरा तमतमा आया—'कोख पर कलंक राम-राम...।' कमरे में वैठी फुलिया (उग्रस्वरूपिणी संभावित

मां) बोली—'डोला लाओ, मैं इसी वक्त, अभी चलूंगी। इत्ती बड़ी बात दद्दा ने कही कैसे? पंचों के कान फटे कैसे नहीं!'

औद्योगिक विकास के कारण संयुक्त परिवार टूट अवश्य रहा है, पर मां टूटती नहीं, घुटती अवश्य है। मां की यह घुटन, यह टूटन स्थितियों के संदर्भ में यथार्थ अवश्य है, मगर यह भी यथार्थ है कि मां एक ऐसा मूल्य है, जो सभ्यता से नहीं, संस्कृति से जुड़ा है। सभ्यता बदलती है, पर संस्कृति नहीं। सामाजिक परिवर्तन के बाद भी मां सत्ताहीन जरूर हो गयी है, पर गरिमा और महिमा में आज भी महत्तर बनी हुई है। □

अक्षयचन्द्र शर्मा

□

राजस्थानी शौर्य एवं औदार्य के पीछे झाँकती मां की भव्य मूर्ति

भारत के शतदल में खिला अग्नि-वर्णी कर्णिकार स्वरूप राजस्थान अपने त्याग, शौर्य, औदार्य, स्वाभिमान एवं तेजोद्दीप्त स्वरूप के लिए विश्वविख्यात है। महामना कर्नल टाड का यह कथन राजस्थान के वैशिष्ट्य को स्वर्णाक्षरों में अंकित करता है--

"राजस्थान में छोटी-से-छोटी कोई ऐसी जगह नही होगी, जहाँ थर्मापोली जैसा रण-क्षेत्र न हो और कठिनाई से ही कोई ऐसा गाँव मिले, जहाँ लियोनीडास जैसा शूरवीर न पैदा हुआ हो।"

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ को भारत के इतिहासरूपी रेगिस्तान में राजस्थान ही नखलिस्तान जैसा दिखाई पड़ा। राष्ट्रकवि दिनकर ने कहा--"जब मैं राजस्थान की वीर प्रसविनी धरित्री पर कदम रखता हूँ, तो मेरा हृदय कांप जाता है कि कहीं मेरे पैर के नीचे किसी वीर की समाधि न हो, किसी वीरांगना का थान न हो।"

प्रश्न है, आखिर ऐसी कौन-सी बात थी, जिसके कारण राजस्थान युद्धवेष में सज्जित हो एक हजार वर्षो तक लड़ता रहा, मरता रहा, लड़ता रहा—वह अग्नि, लहू एवं ताप से गुजर कर भी अनल पक्षी की तरह अमर रहा। इस मृत्युंजयी स्वरूप का रहस्य क्या है, मर्म क्या है, वह कभी झुका क्यों नहीं, टूटा क्यों

नहीं ? वहाँ के सपूत केसरिया बाना पहने मृत्यु-वधू का आलिंगन करते रहे और वीर माताएँ, वीर वधुएँ जौहर की ज्वाला में अग्नि-स्नान करती अमर मुस्कान बिखेरती रहीं—आज भी उनकी कीर्ति-सुरभि से मरु कानन महक रहा है।

राजस्थान के इस शौर्योद्दीप्त एवं गर्व-स्फीत स्वरूप के पीछे है—ममतामयी, त्यागमयी, उत्सर्गमयी मां—जो अपने नवजात शिशुओं को झूला झुलाते हुए मरण बड़ाई के गीत गाती रहीं—

इला न देणी आपणी, रण-खेतां भिड़ जाय।
पूत सिखावै पालणै, मरण-बड़ाई माय॥

—बेटा ! अपनी जमीन किसी को न देना, रण-क्षेत्र में भिड़ जाना—इस प्रकार माता पलने में (झूलते हुए) पुत्र को मृत्यु की महिमा सिखाती है। इस जन्मघूंटी के साथ जो वीर बालक बड़े हुए हैं—उनके लिए युद्ध एक क्रीड़ा है, मृत्यु उत्सव, बलिदान एक उमंग, स्वाभिमान के लिए मर मिटना एक दिव्य जीवन।

राजस्थान का जन-जन माताओं से एक ही प्रार्थना करता रहा—उसकी एक ही आकांक्षा, जीवन की एक ही लक्ष्यभूत मांग।

जननी ! जण अहड़ा जणे, कै दाता कै सूर।
नातर रहजे बांझड़ी, मती गमाजे नूर॥

—हे जननी ! यदि पुत्र जने तो ऐसा जनना, जो या तो दाता हो या शूरवीर ; नहीं तो बांझ रहना, पर कायर, निकम्मे पुत्र को जनकर अपने नूर को नष्ट न करना।

प्रसूति-गृह का एक मार्मिक चित्र है—अभी-अभी वीरमाता ने शिशु को जन्म दिया है, नाल काटने की छुरी चमक रही है, वह सद्योजात शिशु उसकी ओर झपट रहा है—

नालो वाढण री छुरी,
झपटै जणयो साव।

यह सिंह-शावक है—शावक का क्या छोटा क्या बड़ा।

सिंहः शिशुरपि निपतति मद मलिन कपोल भित्तिषु गजेषु
प्रकृतिरियं सत्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः।

—भर्तृहरि

—मद के कारण जिनके गण्डस्थल गीले हैं, ऐसे मदोन्मत्त हाथी को देखते ही सिंह का छावा उस पर टूट पड़ता है। पराक्रमी जनों का स्वभाव ऐसा ही होता है। आयु उनके तेज का कारण नहीं होती।

इन माताओं के वीर-पुत्रों के चारु-चरित्र से भारत का इतिहास ज्योतिर्मय है। बारह वर्ष का बादल अलाउद्दीन से लोहा लेने चला है। माता कहती

है—अरे ! बादल तू यह क्या कर रहा है ! तू तो अभी बालक है। बालक शब्द सुनते ही बादल क्षुब्ध हो जाता है। वह कहता है—

माता, बालक क्यों कहो ? रोइन मांग्यो ग्रास।
जे खग मारूँ साह-सिर तो कहियो साबास ॥

—माता ! मुझे बालक क्यों कहती है ? क्या कभी मैंने रोकर तुझसे खाने को भी माँगा है ? मुझे तो, जब मैं बादशाह के सिर पर तलवार मारूँ, तभी शाबाश कहना।

वीर माता की हमेशा यही भावना रही है—हे बेटे ! तुमको मैंने जितने बार झोटे दिये हैं, उतनी बार पृथ्वी को हिला देना—

तितरी बेर हिलाई रे पिरथी,
में तनें जितरां झोटां द्यूं।

—मेरे उज्ज्वल दूध पर कभी भी कायरता का कलंक न लगाना। तेरे जन्म पर थाल बजाया गया है, तू भी विजयी होकर ढोलों के ढमके से घर पर आना—मैं हमेशा तुम्हारी प्रतीक्षा में विजय-बधावा के लिए उद्यत रहूँगी। इतने काम करना, तभी मैं अपने जीवन को सार्थक समझूंगी।

राजस्थान का इतिहास सहस्र मुख से साक्षी है कि यहाँ के वीरों ने अपनी वीर माताओं की आकांक्षाएँ हर कीमत पर पूरी की हैं।

जब हम वीर माताओं की यशोगाथा अंकित कर रहे हैं; तो वह वीर क्षत्राणी पन्ना धाय हमारे स्मृति-पटल पर विद्युत् की तरह कौंध जाती है।

पन्ना धाय ने 'हिन्दुवान सूरज' महाराणा की उज्ज्वल वंश-परम्परा अनवच्छिन्न रखने के लिए अपने प्राणप्यारे पुत्र की बलि चढ़ा दी, एक मां अपने वात्सल्य के उमड़े प्रवाह पर चट्टान रखकर मेवाड़ की मां बनती है—क्षुद्र मातृत्व का विशाल मातृत्व के लिए उत्सर्ग।

पन्ना धाय ने अपने पुत्र की कुर्बानी देकर शिशु रूप में राणा उदयसिंह को बचाया—जिनका सुपुत्र राणा प्रताप स्वातन्त्र्य सेनानी के रूप में, धर्मरक्षक के रूप में, अपने अतुल शौर्य एवं हिमगिरि से धैर्यशाली के रूप में भारत के इतिहास में अनुपमेय है। यानी पन्ना धाय ने ही हमें महाराणा प्रताप जैसा वीर पुङ्गव दिया है। पन्ना—धाय है, क्षत्राणी धाय—जिस पर कोटि-कोटि माताएँ कुर्बान हैं—

राजस्थानी-काव्य में वीर माताओं के, वीर वधुओं के, जो अग्निगर्भा उद्‌गार सिन्धु-राग में अभिव्यक्त किये हैं, वे कल्पना प्रसूत नहीं हैं, वे जीवन की यथार्थ ठोस भूमिका से प्रज्वलित हुए हैं। राजस्थान के कवियों ने प्राय: तलवार को लेखनी की नोक बनाकर रक्त की स्याही से जो काव्य लिखा है, वह जीवन्त है,

ज्वलन्त है और जीवन की यथार्थता से उद्भूत है। कभी-कभी लगता है यथार्थ के सामने कोरी कल्पना कितनी निःसत्त्व एवं निस्तेज है।

एक रोमांचक चित्र है, जो चिर स्मरणीय है।

युद्ध समाप्त हो गया है। रणाङ्गण में अनेक वीर रक्ताक्त हैं, मुमूर्ष हैं, क्षत-विक्षत पड़े हैं, वहाँ पर एक वीर माता अपनी पुत्र-वधू के साथ घायलों को पानी पिलाने, शुश्रूषा करने के कार्य में रत है। पुत्र-वधू के सिर पर पानी का घड़ा है और मां के हाथ में करवा। मां को देखकर घायल बेटे ने पुकारा—"मां, पानी।" पर मां तो घावों को देखकर पानी पिला रही है। वह केवल एक पुत्र की मां नहीं है—वह मातृत्व की महिमा लिये है—उसका वात्सल्य कर्त्तव्य की कठोरता से दीप्त है। उस घायल लड़के ने जब अपनी पत्नी को देखा, तो मां से निराश होकर—स्त्री से इशारा किया पानी के लिए। पर पत्नी विवश है! वह कहती है—

किण विध पाऊं आणियो, बोलंतां जल लाव।
बांटे सास बलोबली, भाला हंदा घाव।।

—तुम्हारे यह कहने पर कि मुझे जल पिला, कैसे मैं लाया हुआ जल पिला दूं। सास तो एक के बाद दूसरे को भालों के घावों के अनुपात से जल दे रही है।

भाव की कोमलता है, मर्म स्पर्शिता है। हमारी आँखों के सामने अमिट चित्र घूमने लगते हैं—रणभूमि की विकरालता, बेटे की बेचैनी, बहू की असमर्थता और मां की निष्पक्ष कर्त्तव्य निष्ठा। मन में मां के प्रति श्रद्धा, पुत्र-वधू के प्रति करुणा के भाव उमड़ने लगते हैं।

ऐसी वीर माताओं के द्वारा शिक्षा पाये हुए संस्कारित, दीक्षित बालक ही नहीं, बालिकाएँ भी जब वधू के रूप में, बहन के रूप में या पत्नी के रूप में गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती हैं, तब वे मां के द्वारा पढ़ाये हुए पाठ को कभी भूली नही और बराबर अपने पतियों को, भाइयों को, प्रेरणा देती रहीं—कायरता या भीरुता पर लताड़ती रही और कर्त्तव्य के लिए बलिवेदी पर प्राणोत्सर्ग करने के लिये—पीड़ा के अनन्त सागर को दबाकर—मुस्करा कर—भेजती रहीं।

यह नव वधू है—उसका पति युद्ध से भागकर घर आ गया है—उसी समय मणिहारी वधू को सुहाग का चुड़ला पहनाने आयी है—इस पर वह वधू मणिहारी से मनुहार के स्वर में करुणा भरी वाणी से कहती है—

मणिहारी! जा री सखी, अब न हवेली आव।
पीव मुआ घर आविया, विधवां किस्या बणाव।।

—हे मणिहारी मेरी सखी! तू अब चली जा। मेरी हवेली में भूलकर

भी न आना। मेरा यह पति मुर्दा होकर घर आया है। मैं तो विधवा हो गयी हूँ। विधवा के लिए शृंगार कैसा !

हम अनुमान लगा सकते हैं—इस भर्त्सना भरी कशाघात करनेवाली वाणी को सुनकर कौन ऐसा होगा जो कायर की जिन्दगी जीकर मरना पसन्द करेगा—वह तो युद्ध में जीतकर विजयी होगा या मरकर—सूर्यमण्डल भेदकर—चिर अमर होगा। ऐसे अमृत पुत्रों की वीर गाथाएँ राष्ट्र को अमरत्व प्रदान करती हैं—

पति युद्ध के लिए प्रस्थान कर रहा है—वीर नारी सोल्लास प्रोत्साहित करती है—

> **पाछा फिर मत झांकज्यो, पग मत दीज्यो टार।**
> **कट भल जाज्यो खेत में, पर मत आज्यो हार॥**

प्राणोपमा प्रियतमा के इस मधुर अनुरोध का पालन भला कौन प्रिय न करेगा ! कठोर वातावरण में जहाँ वे 'वज्राणि कठोराणि' हैं, वहाँ पारिवारिक मधुवेला में हमेशा 'मृदूनि कुसुमादपि' भी हैं।

राजस्थान की धरती में चाहे फसल कम हुई हो, पर वीरों की खेती यहाँ हुई, "मरुधरा रही उर्वरा धरा" वीरों, दानवीरों को पैदा करने में यहाँ की धरती सबसे आगे रही है। शौर्य के रण-खेतों को रक्त के जल से यहाँ के वीरों ने जिस तरह इसे सींचा है—वह बेजोड़ है, अप्रतिम है।

यहाँ के जन-जन की माँग एक ही रही है—मां से—जननी से—

> **माई एहड़ा पूत जण, जेड़ा राणप्रताप।**
> **अकबर सूतो ओझकै, जाण सिराणे सांप॥**

—हे माता ! ऐसे पुत्रों को जन्म दे, जैसा राणाप्रताप है, जिसके कारण शाहंशाह अकबर रात में सोता-सोता चौंक पड़ता, मानो सिरहाने साँप आ बैठा हो !

राजस्थान के इस विश्रुत इतिहास के स्वर्ण पृष्ठों के पीछे इस शौर्योदार्य सिवेलरी के पीछे हैं—वीर माता की कर्त्तव्यनिष्ठ शुभ्र मूर्ति ! □

या देवी सर्वभूतेषु लक्ष्मीरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥



मैया और बाबा के साथ क्रीड़ा करते हुए कृष्ण और बलराम।
अठारवीं सदी, पहाड़ी शैली



कृष्ण बाबा नन्द और माँ यशोदा के साथ
अठारवीं सदी—पहाड़ी शैली



"मैया मैं तो चंद खिलौना लैहों"
(मध्यकालीन भारतीय चित्रकला, गुलेर शैली)

राय आनन्द कृष्ण

भारतीय चित्रकला में माता-पुत्र का अङ्कन

भारतीय कला की संरचना का एक मुख्य स्रोत हमारे धार्मिक विंब हैं। इन धार्मिक उपाख्यानों से भारतीय कला स्फूर्त होती रही। प्रारंभिक काल से चित्र और मूर्ति विधानों में हमें यह तत्व मुखरित होता हुआ मिलता है। दुर्भाग्यवश भारतीय चित्रकला के ऐतिहासिक काल के प्रारंभिक उदाहरणों का अभाव है: वे नष्ट हो गए। केवल उनका सांकेतिक उल्लेख तत्कालीन साहित्य से प्राप्त होता है, जो इस परंपरा की समृद्ध अवस्था से हमें परिचित कराता है। अतः हमारी यह कहानी अजंता के महायान काल (प्रायः ४५० ई०) से प्रारंभ होती है। समयाभाव के कारण यहाँ संकेत में ही कुछ चुने हुए उल्लेखों द्वारा संतोष करना होगा—

बुद्ध जीवन की एक कथा है कि जब बोधिसत्व ने अपनी माता के गर्भ में प्रवेश किया, तो उन्होंने श्वेत हस्ती का रूप धारण किया। अतः उस समय उनकी माता माया देवी को ऐसा स्वप्न आया कि एक आकाशचारी श्वेत हस्ती उनके गर्भ में प्रवेश कर रहा है। भरहुत आदि की मूर्तियों में तो आकाश से उतरता एक हाथी दिखलाया गया है, परंतु अजंता में इसका सांकेतिक चित्रण है: माया देवी अपने शयनागार में सोई हैं, उनकी पृष्ठभूमि में हाथी के दो विशालकाय दाँत चन्द्राकार प्रस्तुत हैं।



कृष्ण बाबा नन्द और माँ यशोदा के साथ
अठारवीं सदी—पहाड़ी शैली



"मैया मैं तो चंद खिलौना लैहों"
(मध्यकालीन भारतीय चित्रकला, गुलेर शैली)

राय आनन्द कृष्ण

भारतीय चित्रकला में माता-पुत्र का अङ्कन

भारतीय कला की संरचना का एक मुख्य स्रोत हमारे धार्मिक विव हैं। इन धार्मिक उपाख्यानों से भारतीय कला स्फूर्त होती रही। प्रारंभिक काल से चित्र और मूर्ति विधानों में हमें यह तत्व मुखरित होता हुआ मिलता है। दुर्भाग्यवश भारतीय चित्रकला के ऐतिहासिक काल के प्रारंभिक उदाहरणों का अभाव है: वे नष्ट हो गए। केवल उनका सांकेतिक उल्लेख तत्कालीन साहित्य से प्राप्त होता है, जो इस परंपरा की समृद्ध अवस्था से हमें परिचित कराता है। अतः हमारी यह कहानी अजंता के महायान काल (प्रायः ४५० ई०) से प्रारंभ होती है। समयाभाव के कारण यहाँ संकेत में ही कुछ चुने हुए उल्लेखों द्वारा संतोष करना होगा—

बुद्ध जीवन की एक कथा है कि जब बोधिसत्व ने अपनी माता के गर्भ में प्रवेश किया, तो उन्होंने श्वेत हस्ती का रूप धारण किया। अतः उस समय उनकी माता माया देवी को ऐसा स्वप्न आया कि एक आकाशचारी श्वेत हस्ती उनके गर्भ में प्रवेश कर रहा है। भरहुत आदि की मूर्तियों में तो आकाश से उतरता एक हाथी दिखलाया गया है, परंतु अजंता में इसका सांकेतिक चित्रण है: माया देवी अपने शयनागार में सोई हैं, उनकी पृष्ठभूमि में हाथी के दो विशालकाय दाँत चन्द्राकार प्रस्तुत हैं।

माता-पुत्र का मार्मिक चित्र भी अजंता से प्राप्त होता है। यह इस वर्ग के चित्रों की एक प्रमुख उपलब्धि है। जब भगवान् बुद्ध अपना दिव्य निर्देश संसार में प्रचारित कर चुके, तो उनके जन्मस्थान कपिलवस्तु के वासियों की उत्कट इच्छा को जानकर वे अपना उपदेश देने वहाँ भी पधारे। एक दिन वे भिक्षा माँगते-माँगते अपनी परित्यक्ता पत्नी यशोधरा के द्वार पर भी पहुँचे। इस अकिंचना के पास अब भिक्षा देने को बचा ही क्या था! अतः वह अपने भवन के द्वार पर अपने बालक राहुल को लेकर खड़ी, एक अतृप्त और निर्निमेष दृष्टि से बुद्ध की ओर देख रही है और इसी प्रकार अपनी अमूल्य थाती, राहुल को बुद्ध को समर्पित कर रही है। स्वयं बुद्ध इन दोनों मानवीय आकृतियों से नितांत भिन्न, अपौरुषेय और बृहदाकार हैं अर्थात् दोनों में कोई सामंजस्य ही नहीं है। वे निर्विकार रूप से इस भिक्षा को ग्रहण कर रहे हैं। परंतु उस विरागमय वातावरण में भी माता-पुत्र का मार्मिक चित्रण हुआ है।

अजंता में जातक कथा चित्रणों में भी माता-पुत्र के कई दृश्य आते हैं, मानव समाज को अतिक्रांत कर, समस्त प्राणिमात्र तक जिनकी व्याप्ति हो जाती है। इनमें एक पशु-जगत् का उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा—

अपने पूर्व जन्म में एकबार बोधिसत्व (बुद्ध के पूर्व की स्थिति) हाथियों के राजकुमार के रूप में अवतरित हुए, उनकी मां अंधी थी। उनकी ख्याति सुनकर राजा के व्याध उन्हें पकड़ ले गए, पर दरबारी अस्तबल में उन्होंने अपनी मां के वियोग में खाना-पीना ही छोड़ दिया। इस पर दयालु राजा ने उन्हें पुनः उसी वन में छुड़वा दिया। इस दृश्य का चूड़ान्त होता है, जब माता-पुत्र का मिलन होता है। माता अपनी सूँड़ से हाथीरूपी बोधिसत्त्व को सहला रही है। हाथी सदैव सूँड़ से दूसरे हाथी को स्पर्श करता रहता है, परंतु यहाँ दो मानवीय भावनाएँ भी हैं—एक तो मां शिशु को सहलाया करती है, दूसरा कोई भी अंधा व्यक्ति स्पर्श द्वारा ही सान्निध्य का अनुभव करता है।

यहाँ बुद्ध-जन्म का दृश्य पूर्ण मूर्ति-विज्ञान के रूप में हुआ है अर्थात् माया देवी शाल वृक्ष की डाल पकड़े खड़ी हैं और उनके पार्श्व से उत्पन्न हो रहे हैं, महाप्रजापति (ब्रह्मा) और शक्र (इंद्र) उन्हें सादर ग्रहण कर रहे हैं। अर्थात् इस श्रेणी के दृश्य में केवल अलौकिकता है, भावना का स्तर पूर्ण धार्मिक है, मानवीय नहीं।

जैन-ग्रंथों के पूर्ववर्ती चित्रण प्राप्त नहीं हुए हैं, परवर्ती सचित्र ग्रंथ प्रायः ११००ई० से मिलने लगते हैं। ये अपभ्रंश चित्र-शैली में हैं, जिसे कुछ विद्वान् पश्चिमी भारतीय शैली भी कहते हैं। १४-१५ वीं शती के इन सचित्र ग्रंथों में जिनमें श्वेतांबर ग्रंथों का बाहुल्य है—अंतिम और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी के जीवन-चरित के दृश्य 'कल्पसूत्र ग्रंथ' में मिलते हैं। सभी तीर्थंकरों के

जन्म के पूर्व उनकी माताओं को चौदह (दिगंबर परंपरा के अनुसार सोलह) मांगलिक स्वप्न आते हैं। यह दृश्य अवश्य ही दिखलाया जाता है। महावीर स्वामी के जन्म के पूर्व उनका भ्रूण ब्राह्मणी के गर्भ से माता त्रिशला के गर्भ में परिवर्तित किया गया था। दोनों दृश्यों में माताएँ अपने शयनकक्ष में लेटी भर दिखलाई गई हैं। इन्द्र के दूत हरिनैगमेश भ्रूण को सादर हाथ में ले जाते अंकित हैं।

प्रायः पंद्रहवीं शती से अपभ्रंश शैली में वैष्णव ग्रंथ भक्त बिल्वमंगल रचित 'बाल-गोपाल-स्तुति' की चित्रित प्रतियाँ मिलने लगती हैं। इनमे कृष्णलीला के दृश्य हैं। हमलोग सूरदास के प्रसिद्ध पद "मैया कबहुँ बढ़ैगी चोटी" से परिचित हैं। बहुत कुछ यही भाव सूरदास के पूर्ववर्ती बिल्वमंगल ने भी अपनी एक स्तुति में दिया है, जिसका चित्रण भी मिलता है। यहाँ बीच में एक पट्टी के समान यमुना बह रही है। दूसरे किनारे पर बलराम अन्य गोपों के साथ गेंदबल्ला खेल रहे हैं। इस ओर यशोदा के सम्मुख कृष्ण बैठे हैं, एक हाथ में दूध का पात्र लिए हैं और दूसरे से अपनी चोटी खींचकर उसकी लंबाई का अनुमान कर रहे हैं।

१६वीं शती से प्राक् राजस्थानी शैली के उदाहरण मिलने लगते हैं, ये चित्रकला में एक दूरगामी परिवर्तन के द्योतक हैं, जो प्रायः तीन शतियों तक उत्तर भारतीय चित्र-संवेदन के मेरुदंड थे। इस प्रारंभिक शैली के अंतर्गत एक विस्तृत कृष्णलीला चित्रावली प्रस्तुत की गई, जो चित्र-संयोजन या भावाभिव्यक्तियों के प्रबल संवेदन की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। इनमें माता यशोदा देवकी के साथ कृष्ण के अनेक दृश्य हैं। यहाँ उनमें से एक का उदाहरणार्थ उल्लेख पर्याप्त होगा। इस दृश्य में कृष्ण-बलराम अक्रूर के साथ मथुरा के लिए विदा हो रहे हैं। घर के बाहर नंद और अन्य गोप दुपट्टों के छोरों या हाथों से अपनी आँखें पोंछ रहे हैं। बेचारी यशोदा असहाय होकर अंदर पड़ी हैं, उनकी फटी-फटी आँखें शून्य की ओर देख रही हैं। नीचे एक छोटा-सा लेख भी है—"जसोदा बिह्वल परी।"

राजस्थान के प्रमुख केन्द्रों में सत्रहवी शती से अपनी-अपनी उपशैलियों का विकास हुआ, जिनमे मुख्यतः कृष्णलीला के अंतर्गत माता-पुत्र के अनेक दृश्य मिलते हैं। उनमें से कुछ के उल्लेख कर ही संतोष करना होगा। भागवत पुराण के चित्रों में ऐसे दृश्य प्रायः मिलते हैं। इनके साथ राजस्थानी की ही एक उपशैली 'मालवा शैली' को भी संपृक्त किया जा सकता है, जिनमे कृष्णलीला चित्रों का बाहुल्य है। इनके साथ-साथ 'सूरसागर' के पदों के चित्रण भी मेवाड़ शैली में मिलते हैं। मेवाड़ शैली की सूरसागर की एक चित्रमाला में यशोदा-कृष्ण के अनेक दृश्य हैं। इनमें एक में कृष्ण की बलैया लेती हुई यशोदा हैं। फिर भी राजस्थानी शैली में अपेक्षाकृत माता-पुत्र के चित्र स्वल्प हैं। पहाड़ी शैली में कृष्णलीला के चित्रों में माता-पुत्र के अनेक अंकन हैं। इनका उल्लेख करने के पहले

हम शिव परिवार का एक चित्र लेते हैं। इसमें सारा परिवार हिमालय की एक उपत्यका से दूसरी उपत्यका की ओर जा रहा है। पार्वती शिशु गणेश को अपनी गोद में लिए उतर रही हैं—उन्हें शिव हाथ बढ़ाकर सहारा दे रहे हैं कि माता-पुत्र को कष्ट न हो।

कृष्णलीला के संदर्भ में दो दृश्यों का वर्णन करना अपेक्षित है। पूतनावध वाले चित्र में एक ओर एक बरामदे में बालक कृष्ण को अपने पैरों पर बैठाकर घबराई हुई यशोदा उसकी नजर उतार रही हैं, उनकी सशंक सखियाँ उन्हें घेरे हुए हैं। वे एक गाय की पूँछ पर पानी डालकर कृष्ण को सिंचित कर रही हैं कि कुदृष्टि न रहे, यह पूतनावध के बाद का दृश्य है। एक अन्य दृश्य तृणावर्त वध का है। इसमें बालक कृष्ण अपने खिलौनों के साथ खेलने में तन्मय हैं, माता यशोदा घर के बाहर चबूतरे पर बैठी हैं, जैसे घर का काम-काज पूरा कर महिलाएं हाल तक बाहर आ जाती थीं। सहसा तृणावर्त बालकृष्ण को अपने बगूलों में दबाकर उड़ाकर आकाश में ले जाता है, जहाँ कृष्ण उसका वध कर डालते हैं। तीसरे दृश्य में मृत तृणावर्त एक बहुत बड़ी शिला पर पड़ा है। गाँव की स्त्रियों के साथ यशोदा वहाँ पहुँची हैं, और इस भयानक दृश्य से आतंकित हैं। उन्हें देखते ही कृष्ण अपने बाल सुलभ रूप में पुनः आ जाते हैं, और हाथ बढ़ाकर उनकी गोद में आ जाने के लिए उत्सुक हैं। ये गुलेर-काँगड़ा शैली के चित्र हैं, जिनका काल प्रायः १७७० ई० है।

गुलेर-काँगड़ा शैली के परवर्ती चित्रों में (प्रायः १८०० ई०) कृष्ण-यशोदा के अनेक स्फुट चित्र भी मिलते हैं। एक में माता यशोदा अपने बिस्तर पर लेटी हैं, उनके स्तन से बालक कृष्ण का मुंह लगा है। सबसे विलक्षण है, यशोदा की उनींदी आँख जैसे दूध पिलाते समय माताओं को हलकी झपकी आती रहती है।

पहाड़ी शैली के एक अन्य उदाहरण में यशोदा कृष्ण को गोद में लिए हुए और दूसरे हाथ में एक झब्बेदार खिलौना लटकाए हुए हैं जिसे बलराम जमीन से लपकने के लिए उतावले हो रहे हैं। इस कौतुक से यशोदा के चेहरे पर हलकी मुस्कान है।

हमने ऊपर के वृत्तांत में देखा कि सामान्यतः कृष्ण-यशोदा के संदर्भ में ही माता-पुत्र के दृश्यों के चित्रण हुए हैं। पहाड़ी शैली का इसी प्रकार का एक चित्र है, जिसमें चन्द्रखिलौना अंकित हुआ है अर्थात् बाल हठ को देखते हुए माता यशोदा एक बड़े थाल में चन्द्र का प्रतिबिंब कृष्ण को दिखला बहला रही हैं।

भारतीय चित्रकला के अन्य क्षेत्रों में भी माता-पुत्र दृश्य के चित्रण हुए हैं। ऊपर कुछ पंक्तियों में कुछ प्रमुख उदाहरण दिए गये हैं, जिनसे इस विषय की सामान्य विशेषताओं का परिचय प्राप्त होता है। □





॥ गोद में खेलता भविष्य ॥

श्रीकान्ता

□

पुरायुगीन माताएँ

(क)

सात्विका मां—सुनीति

सात्विक माता के गर्भ से ही सद्गुण सम्पन्न पुत्र का जन्म होता है। परम भक्त ध्रुव की माता सुनीति भी ऐसी ही मा थी।

पति द्वारा परित्यक्ता सती-साध्वी सुनीति अपने नन्हें से शिशु ध्रुव के साथ राजमहल के पिछले हिस्से में निवास करती थी। पति के प्रेम से वंचित नारी ने अपना समस्त स्नेह पुत्र पर उँड़ेल दिया। उसके लालन-पालन और शिक्षण में अपना मन लगाया। मां की तपस्या, त्याग और प्रेम ने पुत्र को प्रतिभासम्पन्न बनाया। एक दिन पांच वर्ष के नन्हें ध्रुव पिता के दरबार में जा पहुँचे। वहाँ विमाता सुरुचि के पुत्र उत्तम को पिता की गोद में बैठा देख ध्रुव ने भी पिता की गोद में बैठने की चेष्टा की। यह देख विमाता ने तिरस्कारपूर्वक उनको दूर हटा दिया और कहा—"तुमने अभागी माता के गर्भ से जन्म लिया है। यदि तुम्हें महाराज की गोद में बैठना है, तो जाकर भगवान् को प्रसन्न करो और उनसे वरदान लेकर मेरे गर्भ से जन्म धारण करो।" माता के लिए अपमानजनक कथन को सुन मातृ-भक्त ध्रुव के नेत्र लाल हो गये। कठोर नेत्रों से विमाता को देखकर वे तीव्रता से लौट पड़े।

माता सुनीति के समक्ष पहुँच ध्रुव ने दौड़कर अपनी जननी की गोद में मुख छिपा लिया और फूट-फूट कर रोने लगे। माता ने पुचकारा, पीठ सहलाई, मुख पोंछा। बार-बार बड़े स्नेह से पूछा—"तुम्हें किसने मारा है? किसने तुम्हारा अपमान किया है?" बड़ी कठिनता से रोते हुए बच्चे ने सब ज्यों-का-त्यों सुना दिया।

माता सुनीति का हृदय भर आया। नेत्र झरने लगे। उन्होंने कहा—"बेटा, मैं तो पति द्वारा त्यक्ता अभागिनी हूँ। पर मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। भगवान् को प्रसन्न करके तुम सुरुचि के पुत्र उत्तम तो क्या, अपने पितामह मनु से भी श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर सकते हो। बेटा, तू श्री भगवान् का ही आश्रय ले, तू अपने चित्त में श्री पुरुषोत्तम भगवान् को बैठा ले तथा अन्य सबका चिन्तन छोड़कर केवल उन्हीं का भजन कर। बेटा, श्री हरि को छोड़कर मुझे तो तेरे दुःख को दूर करने वाला और कोई दिखाई नहीं देता। माता सुनीति ने जो वचन कहे, वे अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति का मार्ग दिखलानेवाले थे। माता के वचन को सुन ध्रुव ने कहा—"मां! मैं वन में जाकर तपस्या करूँगा और भगवान् को अवश्य प्रसन्न करूँगा। माता ने हृदय पर वज्र रख लिया। अपने पाँच वर्ष के सुकुमार बालक को वन के लिए विदा कर दिया। उस समय माता के हृदय में कैसा तूफान उठ रहा होगा, उसका वर्णन शब्दों से नहीं किया जा सकता। सुनीति एक क्षत्राणी माता थी। उन्हें अपने पुत्र का और अपना अपमान सह्य नहीं था। वे नहीं चाहती थीं कि उनके पुत्र को बचपन से ही अपमान के जहर को पीने की आदत पड़े। जो अधिकार उनके पति ने उनसे और उनके पुत्र से छीन लिया था, उस अधिकार को वे ईश्वर से लेना चाहती थीं। माता सुनीति को दृढ़ विश्वास था कि भगवान् अपने शरणागतों की सब प्रकार से रक्षा करते हैं। अतः उन्होंने निर्भय होकर अपने प्राणप्रिय पुत्र को भगवान् के प्रार्थना हेतु वन में भेज दिया।

ध्रुव के वनगमन की कथा सुन नारदजी भी विस्मित हो उठे! उन्होंने ध्रुव को रोकने की कोशिश की। समझाया—बेटा, अभी तो तू बच्चा है, खेल-कूद में मस्त रहता है। हम नहीं समझते कि इस उम्र में किसी बात से तेरा सम्मान या अपमान हो सकता है। मेरे विचार से साधारण पुरुषों के लिए भगवान् को प्रसन्न करना बहुत कठिन है। योगी लोग अनेकों जन्मों तक अनासक्त रहकर समाधि योग के द्वारा बड़ी-बड़ी कठोर साधनाएँ करते रहते हैं, परन्तु भगवान् के मार्ग का पता नहीं पाते। इसलिए तू यह व्यर्थ का हठ छोड़ दे और घर लौट जा। बड़े होने पर जब परमार्थ-साधन का समय आवे, तब उसके लिए प्रयत्न कर लेना।"

ध्रुव छोटा अवश्य था, सुकुमार अवश्य था, पर भीरु नहीं था। उसके कानों

में तेजोमयी मां सुनीति के वचन गूंज रहे थे। उसकी रगों में वीर क्षत्रिय का रक्त हिलोरें ले रहा था, अपमान को पीना उसके स्वभाव में नहीं था। उसने देवर्षि नारद से कहा—"पूज्यवर! सुरुचि ने अपने कटु वचनरूपी वाणों से मेरे हृदय को विदीर्ण कर डाला है। इसलिए उसमें आपका यह उपदेश नहीं ठहर पाता। ब्रह्मन्! मैं उस पद पर अधिकार करना चाहता हूँ, जो त्रिलोक में सबसे श्रेष्ठ है तथा जिस पर मेरे बाप, दादे और दूसरे कोई भी आरूढ़ नहीं हो सके हैं। आप मुझे उसी की प्राप्ति का कोई अच्छा-सा मार्ग बतलाइये।"

ध्रुव की विश्वास और दृढ़ता से भरी ओजस्विनी वाणी को सुन नारद भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। आखिर उन्हें कहना ही पड़ा—"बेटा, तेरी माता सुनीति ने तुझे जो कुछ बतलाया है, वही तेरे लिए परम कल्याण का मार्ग है। भगवान् वासुदेव ही वह उपाय है, इसलिए तू चित्त लगाकर उन्हीं का भजन कर। फिर उन्होंने ध्रुव को "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" नामक मंत्र भी प्रदान किया।

ध्रुव के वन जाने के बाद महाराज को अपनी भूल ज्ञात हुई। उन्होंने सुनीति से क्षमा माँगी और उन्हें राजमहल ले गये। उधर ध्रुव के सर पर तेजस्विनी माता सुनीति का आशीर्वाद था। उनके असफल होने का सवाल ही नहीं उत्पन्न होता। छः महीने के अन्दर ही ध्रुव ने ईश्वर को तुष्ट कर नित्य लोक की प्राप्ति का वरदान उपलब्ध किया। श्री भगवान् ने उन्हें दर्शन देकर स्वयं कहा —"हे उत्तम व्रत का पालन करनेवाले राजकुमार, मैं तेरे हृदय का संकल्प जानता हूँ। यद्यपि उस पद का प्राप्त होना बहुत कठिन है, तो भी मैं वह तुझे देता हूँ। जिस तेजोमय अविनाशी लोक को आज तक किसी ने प्राप्त नहीं किया, वह ध्रुव लोक मैं तुझे देता हूँ। तेरा कल्याण हो।" इस तरह से माता के आशीर्वाद और प्रेरणा से पाँच वर्ष की बाल्यावस्था में भी ध्रुव ने वह कर दिखाया, जिसे करने के लिए बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी अधीर, पर असफल रहते हैं। ध्रुव के लौटने पर महाराज ने उनका स्वागत किया। जो माता निरन्तर अपने बच्चों की कामना का ही चिन्तन करती रही थी, उसके आनन्द का क्या पूछना! उनका हृदय गद्‌गद हुआ जाता था। उनका रोम-रोम आनन्द-विभोर था।

समय पाकर ध्रुव राजा बने, दीर्घकाल तक उन्होंने राज्य किया। पृथ्वी पर राज्यभोग का समय समाप्त होने पर भगवान् के पार्षद विमान लेकर आये। विमान पर बैठने के साथ ही ध्रुव को अपनी स्नेहमयी मां की याद आयी। मां की प्रेरणा से ही तो उन्हें विष्णुलोक की प्राप्ति हुई है और उसी मां को उन्होंने भुला दिया। उनका हृदय उन्हें धिक्कार उठा। उन्होंने विष्णुदूतों से प्रार्थना की—"मैं तो दिव्यलोक को जा रहा हूँ और मेरी तपस्विनी माता पृथ्वी पर एकाकिनी कष्ट पाएगी। प्रमादवश मैं आते समय उनके चरण-स्पर्श करना भी

भूल गया। आप लोग कृपाकर के विमान को पृथ्वी पर लौटा चलें।" विष्णु-दूत हंस पड़े—"राजन्! आपकी पुण्यमयी मां भला मर्त्यलोक में कैसे रह सकती है, वे आपसे आगे के विमान में जा रही हैं।"

आदर्श माता अपने पुत्र को अपने सदुपदेश से चरम उन्नति तक पहुँचा सकती है। आदर्श माता सुनीति ने विश्व को वह कार्य कर दिखाया, जो राजाओं के लिए तो दुर्लभ है ही, मुनिगण की कल्पना से भी परे है। माता के उपदेश व प्रेरणा से पाँच साल के नन्हें बालक ने अजेय प्रभु को भी जीत लिया। एक आदर्श मां के लिए कुछ भी असंभव नहीं, उसके निर्णय के समक्ष नियति तो क्या, स्वयं ईश्वर भी शीश नवा देते हैं।

(ख)

दो वीर माताएँ—कुन्ती और विदुला

श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को जो गीता का उपदेश दिया था, उसे असंख्य लोगों ने अनेक बार पढ़ा होगा, अनेक पंडितों ने उस पर प्रवचन दिया होगा; पर जिस अमूल्य संदेश को लोगों ने भुला दिया, वह संदेश था—वीर माता कुन्ती का, जो उन्होंने श्रीकृष्ण के माध्यम से अपने पुत्रों तक भेजा था। श्रीकृष्ण ने किस स्वर में यह संदेश उनके पुत्रों को दिया, यह तो मालूम नहीं। श्रीकृष्ण का कर्मयोग पर दिया गया उपदेश किस हद तक माता कुन्ती के ओजस्वी उपदेश से प्रेरित था, यह भी ज्ञात नहीं। पर इतना विश्वास जरूर है कि अगर अर्जुन ने यह उपदेश माता कुन्ती के ही मुख से और उन्हीं की वाणी से सुना होता, तो शायद ही उन्हें गीता के उपदेश की आवश्यकता होती।

कौरवों के साथ संधि करने के असफल प्रयास के बाद जब श्रीकृष्ण माता कुन्ती से मिले, तो उन्होंने कहा—"कृष्ण, जाकर मेरे पुत्रों से कहना, क्षत्राणी जिसके लिए पुत्र को जन्म देती है, उसका यह उपयुक्त अवसर आ गया है। श्रेष्ठ मनुष्य किसी से वैर ठन जाने पर उत्साहहीन नहीं होते। उनसे कहना, तुम्हारा पैतृक राज्य-भाग शत्रुओं के हाथ में पड़कर लुप्त हो गया है। तुम साम, दान, दण्ड, भेद नीति से पुनः उसका उद्धार करो। पुत्रो! तुम्हारे लिए इससे ज्यादा दुख की बात और क्या हो सकती है कि तुम्हारी माता तुम्हें जन्म देकर भी अन्न के लिए दूसरों पर आश्रित है। अतः तुम राजधर्म के अनुसार युद्ध करो। कायर बन अपने बाप-दादाओं का नाम मत डुबाओ और पुण्य से वंचित होकर पापमयी गति को न प्राप्त होओ। ब्रह्माजी ने तुम्हारे लिए जैसे धर्म की सृष्टि की है, उसी पर दृष्टिपात करो। उन्होंने अपनी दोनों भुजाओं से क्षत्रियों को

उत्पन्न किया है, अतः क्षत्रिय बाहुबल से ही जीविका चलानेवाले होते हैं। वे युद्धरूपी कठोर कर्म के लिए रचे गये हैं तथा सदा प्रजापालनरूपी धर्म में प्रवृत्त होते हैं।" फिर उदाहरण के लिए माता कुन्ती ने पुरातन इतिहास में चर्चित वीर माता विदुला और उनके पुत्र संजय की कथा सुनाई।

विदुला नाम से प्रसिद्ध एक क्षत्रिय महिला थीं, जो उत्तम कुल से उत्पन्न यशस्विनी, तेजस्विनी, मानिनी, जितेन्द्रिया, क्षत्रिय धर्मपरायणा और दूरदर्शिनी थीं। राजाओं की मण्डली में उनकी बड़ी ख्याति थी। वे अनेक शास्त्रों को जाननेंवाली और महापुरुषों के उपदेश सुनकर उनसे लाभ उठानेवाली थीं। एक समय उनका पुत्र सिंधुराज से पराजित हो अत्यन्त दीनभाव से घर आकर सो रहा था। राजरानी विदुला ने अपने उस औरस पुत्र को इस दशा में देखकर उसकी बड़ी निन्दा की।

माता विदुला ने अपने पुत्र से कहा—"संजय, जान पड़ता है तेरे रूप में पुत्र के नाम पर मैंने कलि-पुरुष को ही जन्म दिया है। संसार की कोई भी नारी ऐसे पुत्र को जन्म न दे, जो अमर्षशून्य, उत्साहहीन, बल और पराक्रम से रहित तथा शत्रुओं का आनन्द बढ़ानेवाला हो। तू मेरे गर्भ से उत्पन्न हुआ है, तो भी मुझे आनन्दित करनेवाला नहीं है। ऐसा लगता है मानो तुम मेरे कोख से पैदा ही नहीं हुए हो! तुम क्रोधशून्य हो, अतः क्षत्रियों में तुम्हारी गणना नहीं की जा सकती। तुम तो नाममात्र के पुरुष हो। ओ कायर! उठ खड़ा हो, इस तरह शत्रु से पराजित होकर घर में शयन न कर। कायर तेरी कीर्ति धूल में मिल गयी। तेरा राज्य छिन गया, अब तू किसलिए जी रहा है! अरे, धूम की तरह न उठ। जोर-जोर से प्रज्वलित हो जा और वेगपूर्वक आक्रमण करके शत्रु-सैनिकों का संहार कर डाल। तू एक मुहूर्त या एक क्षण के लिए भी बैरियों के मस्तक पर जलती हुई आग बनकर छा जा। बेटा, तू धैर्य और स्वाभिमान का अवलम्बन कर अपने पुरुषार्थ को जान और तेरे कारण डूबे हुए इस वंश का तू स्वयं उद्धार कर। अगर कोई शूरवीर पराक्रमी राजा युद्ध में दैववश वीरगति को प्राप्त हो जाय, तो भी उसके राज्य में प्रजा सुखी ही रहती है।"

माता के वचन सुन पुत्र ने कहा—"माँ! तेरा हृदय वज्र के समान कठोर है। क्षत्रियों का आचार-व्यवहार कैसा आश्चर्यजनक है, जिसमें स्थित होकर तू मुझे युद्ध में लगा रही है। अगर मैं मारा जाऊँ और तुझे सारी पृथ्वी भी मिल जाय, तो तुझे क्या सुख मिलेगा?"

माता ने जवाब दिया—"संजय! युद्ध से मेरा कोई लाभ हो या हानि, युद्ध करना क्षत्रियों का धर्म है, ऐसा समझ कर उसी में मन लगा, युद्ध बन्द न कर। यदि पहले के समान आज भी मैं तेरे यश की वृद्धि करनेवाले प्रशंसनीय कर्मों को

नहीं देखूंगी, तो मेरे हृदय को क्या शान्ति मिलेगी ? हम सदा लोगों के आश्रय-दाता रहे हैं, दूसरों पर आश्रित कभी नहीं रहे, परन्तु अब यदि दूसरों का आश्रय लेकर जीवन धारण करना पड़ा, तो मैं जीवन का परित्याग ही कर दूंगी। बेटा, अपार समुद्र में डूबते हुए हमलोगों को तू पार लगानेवाला हो। तू नौका-विहीन अगाध जलराशि में तू हमारे लिए नौका हो जा। हमारे लिए कोई स्थान नहीं रह गया है, तू स्थान बन जा। हम मृतप्राय हो रहे हैं, तू हमें जीवन-दान कर। अगर तू जीवन के प्रति आसक्ति को त्याग देगा, तो शत्रुओं को भी परास्त कर सकेगा। युद्ध को स्वर्ग-द्वार के सदृश उत्तम गति अथवा अमृत के सदृश राज्य की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग मानकर तू जलते हुए काठ की भाँति शत्रुओं पर टूट पड़। संजय, इस लोक में युद्ध एवम् विजय के लिए ही विधाता ने क्षत्रिय की सृष्टि की है। वह विजय प्राप्त करे या युद्ध में मारा जाय, सभी दशाओं में उसे इन्द्रलोक की प्राप्ति होती है। पुण्यमय स्वर्गलोक इन्द्र भवन में भी वह सुख नहीं मिलता, जिसे क्षत्रिय वीर शत्रुओं को वश में करके सानन्द अनुभव करता है।"

माता की ओजस्विनी वाणी को सुनकर कायर संजय के हृदय में भी वीरता ने अंगड़ाई ली और वह बोल उठा—"मां ! मैं तेरे सम्पूर्ण आदेशों का यथोचित रीति से पालन करूँगा। शत्रुओं से अपने राज्य का उद्धार करूँगा, नहीं तो युद्ध में शत्रुओं का सामना करते हुए अपने प्राणों का विसर्जन करूँगा। जब तुम जैसी वीर क्षत्राणी मेरी माता है, तो मुझमें ऐसा साहस होना ही चाहिए।"

माता ने कहा—"मैंने तुझे कितने ही उत्साहजनक वचन सुनाये हैं, अब तू पुरुषार्थ कर, मैं तेरा पराक्रम देखूंगी।

आदर्श माता विदुला की इस कथा को सुनाकर माता कुन्ती ने श्रीकृष्ण से कहा—"संजय का हृदय यद्यपि बहुत दुर्बल था, तो भी विदुला का वीरोचित वचन सुनकर उसका तमोगुण जनित भय और विषाद भाग गया। माता के वाक्‌वाणों से बिध कर और तिरस्कृत होकर चाबुक की मार खाये हुए अच्छे घोड़े के समान संजय ने माता के उस समस्त उपदेश का यथावत् रूप से पालन किया। यह उत्तम उपाख्यान वीरों के लिए अत्यन्त उत्साहवर्द्धक है, यह जय का इतिहास है। विजय की इच्छा रखनेवाले पुरुष को इसका श्रवण करना चाहिए। इस-लिए हे श्रीकृष्ण ! मेरे पुत्रों को यह कथा अवश्य सुना देना।

"श्रीकृष्ण, मुझे राज्य के छिन जाने का दुख नहीं। पुत्रों का जुए में हारना और वनवास जाने का दुख नहीं, परन्तु भरी सभा में मेरी सुन्दरी-युवती पुत्रवधू द्रौपदी ने रोते हुए जो दुर्योधन के कटु वचन सुने थे, वही मेरे लिए महान दुःख का कारण बन गया है। मेरे पुत्रों से कहना, मैंने इसी क्षण के लिए उन्हें जन्म दिया है। वे अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी अपने कर्त्तव्य का पालन करें।

श्रीकृष्ण, मेरे पुत्रों को याद दिलाना, उन्हें अपनी पत्नी के अपमान का बदला अवश्य लेना है अन्यथा उन्हें क्षत्रिय कहलाने का कोई हक नहीं।"

जिस दर्प-दीप्त वाणी को सुन भीरु संजय का हृदय वीररस से ओतप्रोत हो उठा, उस तेजस्विनी कहानी को सुन वीर पाण्डवों पर क्या असर हुआ होगा, इसका अनुमान तो हम लगा ही सकते हैं! यह सच है कि अगर माता आदर्श माता हो, तो पुत्र कभी गलत राह पर नहीं चलेगा। अगर चल भी पड़ा, तो उसकी मां उसे कर्तव्य की याद दिलाकर सही राह पर ले आएगी। माता चाहे तो मिट्टी को सोना बना सकती है। कायर को वीर बना सकती है। विधि के विधान को अगर कोई बदल सकता है, तो एक तेजस्विनी मां ही बदल सकती है।

माता विदुला और माता कुन्ती भारत के पुरातन इतिहास की ऐसी वीर माताएँ हैं, जिन्होंने इतिहास को अपनी ओजस्विनी वाग्धारा से अभिषिक्त किया है। अपने पुत्रों के चरित्र को उदात्त बनानेवाली ये क्षत्रिय माताएँ हमेशा-हमेशा के लिए यशः कलेवर के रूप में अजर-अमर हैं।

(ग)

ऋषि-कल्पा मदालसा

इस संसार म ऐसे अनेक ऋषि, मुनि और गुरु हुए हैं, जिन्होंने ज्ञान का उपदेश देकर, वेदान्त का उपदेश देकर, अपने शिष्यों का उद्धार किया। परन्तु माता मदालसा ही एकमात्र ऐसी मां थीं, जिन्होंने परम उत्तम ज्ञान का उपदेश देकर अपने पुत्रों का संसार-सागर से उद्धार कर दिया। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि मां ही परम गुरु है। मां अपने पुत्र के व्यक्तित्व को चाहे जिस साँचे मे ढाल सकती है। वह चाहे तो पुत्र को साधु बना सकती है और चाहे तो उसे राजा बना सकती है। मां के प्रखर व्यक्तित्व के प्रकाश मे ही पुत्र के व्यक्तित्व का विकास होता है। माता मदालसा एक आदर्श विदुषी ही नहीं, एक आदर्श सती और आदर्श माता भी थीं। वे राजा ऋतध्वज की महारानी थी।

देवी मदालसा ने जब प्रथम पुत्र को जन्म दिया, तब राजा ने उसका नाम विक्रान्त रखा। इस नाम को सुन मदालसा हँस पड़ी। समयानुसार क्रमशः दो पुत्र और हुए। उनके नाम सुबाहु और शत्रुमर्दन रखे गये। उन नामों पर भी मदालसा को हँसी आई। इन तीनों पुत्रों को उसने लोरियों के माध्यम से विशुद्ध आत्मज्ञान का उपदेश दिया। मदालसा ने लोरियों में कहा—

शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम
कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव

पञ्चात्मकं देहमिदं न तेऽस्ति
नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः ।।

हे तात ! तू तो शुद्ध आत्मा है, तेरा कोई नाम नहीं है। यह कल्पित नाम तो तुझे अभी मिला है। यह शरीर भी पाँच भूतों का बना हुआ है। न यह तेरा है, न तू इसका है। फिर किसलिए रो रहा है ?

त्वं कञ्चुके शीर्यमाणे निजेऽस्मि
स्तस्मिंश्च देहे मूढतां मा व्रजेयाः ।
शुभाशुभैः कर्मभिर्देहमेत
न्मदादिमूढैः कञ्चुकस्ते पिनद्धः ।।

तू अपने इस देहरूपी चोले के जीर्णशीर्ण होने पर मोह न करना। शुभाशुभ कर्मों के अनुसार यह देह प्राप्त हुआ है। तेरा यह चोला मद आदि से बँधा हुआ है। (तू तो सर्वथा इससे मुक्त है)

तातेति किंचित् तनयेति किंचि-
दम्बेति किंचिद्दयितेति किंचित् ।
ममेति किंचिन्नममेति किंचित्
त्वं भूतसङ्घं बहु मानयेयाः ।।

कोई जीव पिता के रूप में प्रसिद्ध है, कोई पुत्र कहलाता है, किसी को माता और किसी को प्यारी स्त्री कहते हैं। कोई 'यह मेरा है' कहकर अपनाया जाता है और कोई 'मेरा नहीं है' इस भाव से पराया माना जाता है। इस प्रकार यह भूत समुदाय के ही नाना रूप हैं, ऐसा तुझे मानना चाहिए—

दुःखानि दुःखोपगमाय भोगान्
सुखाय जानाति विमूढचेताः ।
तान्येव दुःखानि पुनः सुखानि
जानाति विद्वान् विमूढचेताः ।

यद्यपि समस्त भोग दुःख रूप है तथापि मूढ़ चित्त मानव उन्हें दुःख दूर करनेवाला तथा सुख की प्राप्ति करनेवाला समझता है। किन्तु जो विद्वान् हैं, जिनका चित्त मोह से आच्छन्न नही हुआ है, वे उन भोगजनित सुखों को भी दुःख ही मानते हैं।

बड़े होने पर मदालसा के तीनों बालक ममता शून्य और विरक्त हो गये।

जब मदालसा ने चौथे पुत्र को जन्म दिया, तब राजा ने उन्हें ही नाम रखने को कहा। मदालसा ने नाम रखा 'अलर्क'। राजा ने इस अद्भुत नाम का अर्थ पूछा। मदालसा ने उत्तर दिया—"नाम से आत्मा का कोई संबंध नही है। संसार का काम चलाने के लिए कोई नाम रख लिया जाता है। वह संज्ञामात्र है। उसका कोई अर्थ नही। आपने भी जो नाम रखे हैं, वे भी निरर्थक ही हैं।

विक्रान्त का अर्थ गति है, पर आत्मा तो सर्वत्र व्यापक है, उसका कही आना-जाना नहीं होता । सुबाहु नाम भी असगत है, क्योंकि आत्मा के बाँह नही होती । शत्रु-मर्दन नाम की भी कोई सार्थकता नही है । सब शरीरों मे एक ही आत्मा का वास है । फिर कौन किसका शत्रु और कौन किसका मर्दन करनेवाला ।"

इस उत्तर को सुन राजा भी निरुत्तर हो गये । मदालसा ने चौथे पुत्र को भी ब्रह्मज्ञान का उपदेश सुनाना आरभ किया । तब राजा ने रोककर कहा—"देवि, इसे तो ज्ञान का उपदेश देकर मेरी वश-परपरा का अन्त न करो । इसे प्रवृत्ति मार्ग में लगाओ और उसके अनुकूल ही उपदेश दो ।" मदालसा ने पति की आज्ञा मान ली और अलर्क को कोरे ज्ञान का उपदेश नही दिया, बल्कि शिष्टाचार, व्यवहार-शास्त्र, राजनीति और अन्य अनेक तरह के पाठ पढाये । उसने अलर्क को लोरी सुनाई—

राज्यं कुर्वन् सुहृदो नन्दयेथाः ।
साधून् रक्षंस्तात यज्ञैर्यजेथाः ॥
दुष्टान् निघ्नन् वैरिणश्चाजिमध्ये ।
गोविप्रार्थे वत्स मृत्युं व्रजेथाः ॥

"तात ! राज्य करते हुए अपने सुहृदों को प्रसन्न रखना, साधु पुरुषों की रक्षा करते हुए यज्ञों द्वारा भगवान् का भजन करना, सग्राम में दुष्ट शत्रुओं का संहार करते हुए गो और ब्राह्मणों की रक्षा के लिए प्राण न्योछावर कर देना ।" उन्होंने यह भी कहा—"बेटा ! काम, क्रोध, मद, लोभ, मान और हर्ष—राजा का विनाश करनेवाले शत्रु हैं । इसलिए राजा को पहले इन शत्रुओं को जीतने की चेष्टा करनी चाहिए । उनके जीत लेने पर विजय अवश्यम्भावी है । यदि राजा ही उनके वश में हो जाय, तो उसका विनाश निश्चित है । राजा को नीति के लिए समस्त प्रजा पर समान भाव रखना चाहिए, साधु और दुष्ट दोनों के प्रति समान भाव से राजनीति का प्रयोग करना चाहिए । राजा को सचयशील होना चाहिए । उसे पराक्रमी और शत्रु का नाश करनेवाला होना चाहिए । राजा को आग की चिनगारियों से शिक्षा लेनी चाहिए । जैसे आग की छोटी-सी चिनगारी बड़े-से-बड़े वन को जला डालने की शक्ति रखती है, उसी प्रकार छोटा-सा शत्रु भी यदि दबाया न जाय, तो बहुत बड़ी हानि कर सकता है । अतः दुर्बलावस्था में ही शत्रु को उखाड़ फेंकना चाहिए । राजा का सबसे बड़ा कर्तव्य है प्रजा को धर्म में लगाना । राजा सब प्राणियों का पालन करने से ही कृतकृत्य होता है ।

मदालसा ने अलर्क को गृहस्थाश्रम धर्म की भी शिक्षा दी । उसे बचपन में ही व्यवहार-शास्त्र का पंडित बना दिया । उसे राजनीति का पूर्ण ज्ञान कराया । धर्म, अर्थ और काम—तीनों शास्त्रों में उसे प्रवीण बनाया ।

इस प्रकार माता मदालसा ने सिद्ध कर दिया कि मां ही पुत्र की सच्ची गुरु है। वालक पर माता की शिक्षा का जो प्रभाव पड़ता है, वह प्रभाव वालक के सम्पूर्ण जीवन-निर्माण का आधार होता है। मां अपने पुत्र के भविष्य को वना सकती है, उसके चरित्र को तराश सकती है। उसकी भावनाओं को मन चाही दिशा में मोड़ सकती है। माता मदालसा ने अपने मातृत्व के प्रभाव से अपने कुल का उद्धार करके सदा के लिए आदर्श मां के रूप में अपना नाम अमर कर दिया। □

ओंकार शरद

□

दिव्य माता—मां शारदा

कभी-कभी कैसी विपरीत बातें भी देखने को मिलती हैं। अधिकांश संतों-संन्यासियों ने परमार्थ की उपलब्धि के लिए अपनी पत्नियों का त्याग किया। भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, चैतन्य महाप्रभु, तुलसीदास और श्री अरविंद—इन सभी के साथ यही रहा।

एक बार श्री अरविंद के एक शिष्य ने पूछा था—'जब संतों को पत्नी का त्याग करना ही पड़ता है, तो वे विवाह ही क्यों करते हैं?' तब श्री अरविंद का उत्तर था—'संत ऐसा इसलिए करते हैं कि विवाह में बंधते समय उन्हें अपनी नियति का ज्ञान नहीं रहता।'

सारांश यह कि जिन्हें संत बनना है, उन्हें विवाह के बंधन में नहीं बंधना चाहिए।

श्री अरविंद के पाण्डीचेरी आ जाने के बाद उनकी पत्नी बहुत चाहती थीं कि अरविंद उन्हें पाण्डीचेरी जाकर अपने साथ रहने की अनुमति दे दें। लेकिन श्री अरविंद ने किसी प्रकार भी यह अनुमति नहीं दी। तब श्री अरविंद की पत्नी मृणालिनी देवी मां शारदा के शरण में गयीं। मां शारदा ने उन्हें आशीर्वाद दिया। और जब यह बात श्री अरविंद को मालूम हुई कि मृणालिनी को मां शारदा का आशीर्वाद प्राप्त हो गया है, तो तत्काल मृणालिनी देवी को पाण्डीचेरी आकर रहने की उन्होंने अनुमति दे दी। लेकिन विडम्बना भी कैसी? मृणा-

लिनी देवी पाण्डीचेरी के लिए प्रस्थान करने ही वाली थीं कि अचानक कलकत्ते में उनका देहान्त हो गया और अन्तत: वे पाण्डीचेरी नहीं ही जा सकीं।

इस घटना से अनुमान लगाया जा सकता है कि जिस बात का सभी संतों को भय रहता है, वही भय श्री अरविंद को भी था, इसीलिए स्वेच्छा से उन्होंने मृणालिनी देवी को अपने पास आने की अनुमति नही दी और दी तब जब उन्हें विश्वास हो गया कि मा शारदा ने मृणालिनी देवी को रक्षा-कवच पहना दिया है।

इस बात से यह तो सिद्ध होता ही है कि श्री अरविंद को मां शारदा के प्रति कैसी अपार श्रद्धा व अखण्ड विश्वास था।

यही वह विपरीत बात भी उभर कर सामने आती है। और संतों ने विवाह किया और बाद में पत्नी का त्याग करके संन्यासी बने। लेकिन श्री रामकृष्ण देव ने पहले संन्यास लिया फिर बाद में विवाह किया। यही विपरीत स्थिति है। श्री रामकृष्ण परमहंस और मां शारदा का दाम्पत्य अद्भुत, अपूर्व और अत्यन्त उच्च शिखर पर आसीन था। जब श्री रामकृष्ण देव भावावेश में आने लगे, तो लोगों ने समझा कि उन्हें वात या उन्माद रोग हो गया है। वैद्य-कविराज, ओझा-गुणी सभी को दिखाया गया, पर श्री रामकृष्ण का रोग छूटने के बजाय और बढ़ता गया। अन्तत: श्री रामकृष्ण की माताश्री ने उनका विवाह करने का निश्चय किया कि बेटा गृहस्थ हो जाएगा, तो सामान्य हो जायेगा।

तब श्री रामकृष्ण चौबीस वर्ष के थे, पर इसी आयु में वे साधनापथ पर बहुत आगे बढ़ चुके थे। वे स्वयं अपने को ईश्वरार्पित कर चुके थे यानी संन्यास ले चुके थे और समस्त नारी जाति को माता के रूप में देखते थे। उनके विवाह की चर्चा चली, तो उन्हें ज्ञात हो गया कि लोग उनका विवाह का आयोजन कर रहे हैं। उन्हें अपनी नियति का पता था कि उन्हें संन्यासी जीवन ही बिताना है, फिर भी उन्होंने विवाह-आयोजन का विरोध नही किया। अत: यह भी नहीं कहा जा सकता कि सरल-प्रकृति श्री रामकृष्ण का जोर-जबरदस्ती से विवाह किया गया। बल्कि जब उनकी मां को कही कोई मनपसन्द कन्या नहीं मिली और वे बहुत परेशान हुई तो श्री रामकृष्ण ने स्वयं ही कहा—'जयरामबाटी ग्राम में रामचन्द्र मुखोपाध्याय की कन्या से मेरा विवाह होगा, यह तो कभी का निश्चित है।' इस प्रकार उनकी वहू कहाँ है, यह भी उन्होंने ही बताया। इस प्रकार श्री रामकृष्ण और मां शारदा का विवाह हुआ। विवाह के समय श्री रामकृष्ण चौबीस वर्ष के थे और शारदा-मणि छ: वर्ष की।

विवाह के बाद श्री रामकृष्ण अपनी बालिका वधू को अपनी मां के पास छोड़ कर स्वयं दक्षिणेश्वर आकर पूर्ववत् रहने लगे।

कई वर्ष बाद युवावस्था प्राप्त होने पर मां शारदा ने लोगों के मुंह से जब यह

सुना कि उनके पति पागल हैं, उन्हें उन्माद का रोग है, तब चिन्ता से व्याकुल होकर उन्होंने दक्षिणेश्वर पति के पास जाने का निश्चय किया। और कई दिनों की पदयात्रा करके वे पति की सेवा में दक्षिणेश्वर आ उपस्थित हुईं। तब श्री रामकृष्ण ने बड़ी प्रसन्नता से उनका स्वागत किया, सम्मानपूर्वक अपने ही कमरे में वास दिया।

इस दक्षिणेश्वर यात्रा के समय की भी एक घटना खूब प्रसिद्ध है। पदयात्रा की थकावट से माँ शारदा रास्ते में ही भारी बुखार से बेहोश हो गयीं। तब एक रात उन्हें एक अद्भुत अनुभव हुआ। श्री माँ शारदा ने यह घटना स्वयम् कही—मेरा शरीर ज्वर के दाह से जल रहा था और मैं बेसुध पड़ी थी। ऐसी अवस्था में मुझे ऐसा दिखाई दिया कि एक स्त्री मेरे सिरहाने के पास आकर बैठी है। उसका वर्ण काला है, लेकिन मुख उसका बहुत सुन्दर है। पास में बैठकर वह मेरे सिर पर हाथ फेरने लगी। उसके शीतल व कोमल स्पर्श से मेरा दाह कम पड़ने लगा। मैंने उससे पूछा—'देवी, आप कहाँ से आई हैं?' वह बोली—'दक्षिणेश्वर से!' मैं चकित होकर बोली—'क्या आप दक्षिणेश्वर से आई हैं? मैं भी वहीं जाने के लिए रवाना हुई हूँ। मेरी इच्छा है कि वह जाकर उनके (श्री रामकृष्ण के) दर्शन करूँ और उनकी सेवा में कुछ समय बिताऊँ। पर मैं तो यहाँ राह में ही बीमार पड़ गयी हूँ। हे देवि, क्या मेरे भाग्य में उनके दर्शन हैं?' वह स्त्री बोली—'है क्यों नहीं? अवश्य है। तू अब अच्छी हो जायेगी। वहाँ जायेगी, उनके दर्शन करेगी। सब कुछ अच्छा होगा। तेरे ही लिए तो मैंने उन्हें वहाँ रोक रखा है।' मैं बोली—'सच! पर देवि, आप मेरी कौन होती हैं?' वह बोली—'मैं तेरी बहन हूँ।' इसके बाद मैं होश में आ गई।

श्री रामकृष्ण का संसार की अन्य नारियों के प्रति जैसा मातृभाव था, वही माँ शारदा के प्रति भी था। माँ शारदा से उन्होंने विवाह किया था, कई महीने उन्हें अपने कमरे में ही अपने निकट सुलाया। एक रात जब माँ शारदा श्री रामकृष्ण के पाँव दबा रही थीं, तो उन्होंने पूछा—'अच्छा, आप मुझे क्या समझते हैं?' तब श्री रामकृष्ण ने कहा था—'जो माता (काली माँ) जगत् का निर्माण करके मंदिर में खड़ी है, जो माता (जननी माँ) इस शरीर को जन्म देकर नौबतखाने में ठहरी हुई है, वही इस समय मेरा पाँव दबा रही है।'

एक रात श्री रामकृष्ण के कमरे में माँ शारदा सोई हुई थीं और श्री रामकृष्ण बैठे उन्हें देख रहे थे। सहसा उनके मन में कोई भाव उठा और वे अपने आपको संबोधित करके बोल उठे—'अरे मन, जिस नारी शरीर के लिए सांसारिक लोग व्याकुल रहते हैं, वह नारी शरीर यही है। यदि यह शरीर तुझे चाहिए तो वह यहीं पास पड़ा है।' ऐसा कहकर माँ शारदा को छूने के लिए उन्होंने अपना हाथ

बढ़ाया, लेकिन छूने से पहले ही उन्हें समाधि लग गई और इतनी गहरी लगी कि सवेरे तक वे समाधि में ही रहे।

श्री रामकृष्ण ने कहा था—'वही (पत्नी—मां शारदा) यदि इतनी शुद्ध और पवित्र न होती और कामासक्ति से विवेकहीन बन जाती, तो हमारे संयम का बांध टूट कर देह बुद्धि का उदय हो जाता या नहीं, यह कौन कह सकता है? उसके साथ एकांत में रहते हुए मुझे निश्चय हो गया कि विवाह के बाद मैंने श्री जगदम्बा से अत्यन्त व्याकुलता के साथ जो प्रार्थना की थी कि 'हे माता, इसके मन से सभी काम-वासना नष्ट कर दे' उस प्रार्थना को माता ने अवश्य सुन लिया।'

श्री रामकृष्ण ने मां शारदा की षोडशी-पूजा भी की थी। उस दिन उन्हें (मां शारदा को) महाकाली के आसन पर बिठा कर खुद पुजारी के स्थान पर बैठे थे। और उन्होंने प्रार्थना की थी कि—'हे बाले, हे सर्वशक्ति-अधीश्वरी माते, हे त्रिपुर सुंदरी, सिद्धि का द्वार खोल दे और इसका (पत्नी का) मन और शरीर पवित्र करके इसमें प्रकट हो और सबका कल्याण कर।' फिर उन्होंने 'शिवगेहिनी, गौरी, नारायणी' कहकर अपनी पत्नी को प्रणाम किया और दोनों समाधि में चले गये।

इस प्रकार श्री रामकृष्ण और मां शारदा दोनों के साधना-विकास में एक-दूसरे की परस्पर बहुत प्रेरणा रही। कौन अधिक, कौन कम, कहना मुश्किल है।

श्री रामकृष्ण ने पत्नी मां शारदा को माता के स्थान पर बिठाकर समस्त नारी जाति के प्रति अपना सम्मान प्रकट किया और मां शारदा भी विश्वरूपा, दिव्य मां बनकर प्रकाशमान हुईं। अपनी कोख से एक भी संतति को जन्म न देकर भी वे विश्व भर की मां बनीं। ऐसा दिव्य माता का दूसरा रूप संसार में अन्यत्र नहीं मिलेगा।

श्री रामकृष्ण लीलासंगिनी मां शारदा के संबंध में कहा करते थे—'वह सारदा है, सरस्वती है।—ज्ञान देने आई है।'

मां शारदा श्री रामकृष्ण की 'शक्ति' थीं, जो बाद में श्री रामकृष्ण का शरीर न रहने पर युगधर्म का प्रचार करके श्री रामकृष्ण का ही काम करती रहीं।

मां शारदा स्वयं महाशक्ति की पर्याय थीं।

शारदा मां का जननी, गुरु और देवी आदि रूप हमारे सामने स्पष्ट उजागर है। ज्ञानदात्री, शक्तिदात्री मां शारदा करुणा की अवतार थीं। शिष्यों को दीक्षा देती थीं, तो शिष्य का समस्त भार ग्रहण करती थीं, उसके रोग व पापपुंज को भी अपने ऊपर लेकर स्वयं कष्ट भोगती थीं। और दुर्बल शिष्य को अभय बनाती थीं। यही तो श्री रामकृष्ण भी करते थे।

एक बार मां शारदा ने एक शिष्य से स्वयं कहा था—'तुम क्या सोचते हो कि

ठाकुर यदि यह शरीर न रखें, तो भी जिन लोगों का भार ले रखा है, उनमें से एक के भी वाकी रहते मेरा छुटकारा है ? उनके साथ रहना पड़ेगा। उनके अच्छे-बुरे का भार जो लेना पड़ा है। मंत्र देना क्या खेल है ? कितने वोझ सिर पर लेने पड़ते हैं, उनके लिए कितनी चिंता करनी पड़ती है। यही देखो न, तुम्हारे पिता स्वर्गवासी हुए, मेरा मन भी दुखी हुआ। मन में आया कि ठाकुर ने इस लड़के को फिर किस परीक्षा के वीच डाला ? कैसे ठेलठाल के वच निकलोगे, यही चिन्ता है। इसीलिए तो इतनी वातें वताई। तुम लोग क्या यह सव समझ सकते हो ? यदि तुम लोग समझ पाते, तो मेरी चिन्ता का वहुत-सा भार हल्का हो जाता। ठाकुर नाना प्रकार से लोगों को खेलाते हैं, पर धक्का मुझे संभालना पड़ता है। जिन्हें अपना मान कर ग्रहण किया है, उन्हें तो छोड़ नही सकती।'

श्री मां शारदा को अपने शिष्यों की इतनी चिन्ता रहती थी कि अक्सर रात को वे सो नहीं पाती थी। पूछने पर जवाव देतीं—'क्या करूं वेटा ! लड़के सव व्याकुल होकर मुझे आ पकड़ते हैं, आग्रह कर उस समय दीक्षा तो ले जाते हैं, पर कहाँ, कोई नियम से, नियम से ही क्यों, कोई तो कुछ भी नही करते। तो भी उनका भार जव ले लिया है, तव मुझे उन्हें देखना ही पड़ेगा। इसीलिए हर समय जप करती रहती हूँ और ठाकुर से उनके लिए प्रार्थना करती हूँ, 'हे ठाकुर, उन्हें चेतना दो, मुक्ति दो, उनके इहकाल और परकाल के वारे में तुम्ही देखते रहो। इस संसार में वड़ा दुख है। फिर उन्हें आना न पड़े।'

गुरु-शिष्य परम्परा पर इन उद्धरणों से नई रोशनी पड़ती है। दीक्षा लेना या दीक्षा देने को हम जितना सहज-सरल समझते हैं, उतना है नहीं। गम्भीरता से लिया जाय, तो देखेंगे कि जिसे दीक्षा दी, उस शिष्य का सव अच्छा-वुरा गुरु दीक्षित संतानें हों, उन पर कितनी गम्भीर जिम्मेदारी का पहाड़ लदा रहता है।

एक वार एक भक्त को अभय और आश्वासन देती हुई मां शारदा ने कहा था—'तुम्हे चिन्ता क्या है वेटा ? तुम लोगों का ख्याल मेरे मन में रहता है। तुम्हें कुछ नही करना पड़ेगा, तुम्हारे लिए मे ही करती हूं।' इतना सुनकर भक्त ने पूछा—'तुम्हारी जहां जितनी संताने हे, क्या उन सव के लिए ही तुम्हे करना पड़ता है ?' श्री मां ने कहा—'सवके लिए ही हमें करना पड़ता है।' भक्त ने पूछा ? 'तुम्हारी इतनी संतानें हैं, क्या तुम्हें सवका ख्याल रहता है ?' तव मां ने समझा कर कहा —जिनके नाम याद रहते हैं, उनके लिए तो जप करती हूँ, पर जिनके नाम ख्याल में नहीं आते हे उनके लिए ठाकुर से यही प्रार्थना करती हूं, 'ठाकुर, वच्चे अनेक जगह हैं, जिनके नाम मुझे अभी याद नहीं आते हैं, तुम्हीं उन्हें देखना, और वही करना जिससे उनका कल्याण हो।'

मां की वृद्धावस्था व विगड़ते स्वास्थ्य को देखकर एक वार स्वामी विशेश्वरानन्द ने आग्रह करते हुए श्री मां से कहा कि इतने असंख्य भक्तों की मंगल-चिन्ता करना अव उनके लिए संभव नहीं है, तव दीक्षित भक्तों की संख्या कम होना ही अच्छा है। इस पर श्री मां ने कहा, 'सो तो ठाकुर ने मुझे मना नहीं किया। उन्होंने मुझे इतनी वातें वतलाई, फिर क्या इस वारे में कुछ न वतलाते? मैं ठाकुर के ऊपर ही भार देती हूँ। उनसे मैं रोज कहती हूँ, 'जो जहाँ है देखना।' फिर जानते हो, ये सव ठाकुर के दिए हुए मंत्र हैं, उन्होंने मुझे दिए थे—'सिद्ध-मंत्र।'

मंत्र-शक्ति और पापग्रहण के संवंध में श्री मां ने स्पष्ट कहा था—'मंत्र के द्वारा शक्ति चलती है। गुरु की शक्ति शिष्य में जाती है और शिष्य की गुरु में आती है। इसी से तो मंत्र देने से पाप लेकर शरीर में इतनी व्याधि होती है। गुरु होना वड़ा कठिन है, शिष्य का पाप लेना पड़ता है। शिष्य यदि पाप करे, तो वह गुरु पर ही पड़ेगा। अच्छे शिष्य से गुरु का भी उपकार होता है।'

श्री मां कष्ट पाती थी, कष्ट का कारण भी जानती थीं, फिर भी भक्तों के कल्याण के लिए वे अथक परिश्रम करती थी। एक वार एक भक्त ने उनके पैर की गठिया का उल्लेख करते हुए कहा था—'मां, मैंने सुना है कि भक्तों के पाप लेने से ही तुम्हें यह व्याधि है। मेरा एक आन्तरिक निवेदन है कि तुम मेरे लिए दुख मत भोगो, मेरे कर्मों का भोग मुझसे ही करा लो।' तव मां ने वड़ी वेचैनी से कहा था,—'क्यों, सो क्यों वेटा, सो क्यों? तुम सव भले-चंगे रहो, मैं ही भोगूं।'

संतानों के प्रति मां के प्रेम का और भी कोई उदाहरण इससे वढ़कर कहीं मिलेगा क्या?

श्री रामकृष्ण के देह-त्याग के वाद मां ने भी शरीर छोड़ देने का संकल्प करना चाहा। उस समय श्री रामकृष्ण ने उन्हें दर्शन देकर कहा—'नहीं, तुम अभी रहो। वहुत से काम अभी वाकी हैं।'

अतः श्री रामकृष्ण के कामों को पूरा करने के लिए श्री मां वाद में चौंतीस वर्ष और रहीं, और स्वर्गवाहिनी अमृत गङ्गा की पवित्र धारा की भाँति मां की कृपा ने कितने ही असंख्य शिष्यों को संजीवित किया—तारिणी, तापहारिणी रूप में श्री मां ने वहुत से सन्तप्त स्त्री-पुरुषों के पाप-तापों को ले लिया। क्योंकि असली माता तो वही होती है, जो संतति का पाप भी अपने में समाहित कर ले और संतान को सुखी देखे।

इसीलिए कहा गया है कि मां शारदा दिव्य माता थीं। असंख्य संतानों के कष्ट अपने पर लेकर उन्होंने सवको सुखी रखा। वे दिव्य माता थीं, वे विश्व की समस्त नारियों की वृहत्तम मर्यादा थीं, महत्तम गरिमा भी थीं....

या देवी सर्वभूतेषु, मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः॥ □

उत्सर्गशीला मातृत्व

मां जीजाबाई का कृतित्व / शोभा कनोई

छत्रपति शिवाजी भारत के मध्यकालीन इतिहास में एक महत्त्वाकांक्षी, धर्मनिष्ठ, स्वातंत्र्य-प्रिय, अभय युवक की अमर-गाथा है—जो भाग्य के द्वारा असहाय शिशु बनकर जन्म लेता है—पर, जो अपने पुरुषार्थ से सूर्य बन चमकता है और जिसके आतंक व भय से दिल्ली की सल्तनत यानी विश्व की सर्वाधिक शक्तिशाली सल्तनत कॉप उठती है और उसके प्रचण्ड धक्के से वह थरथराती जमींदोज हो जाती है। मजहब मे अन्धा, अत्याचारी और 'किबले के ठौर' अपने बाप बादशाह शाहजहाँ को कैद में डालनेवाले आलमगीर के जुल्मों से हिन्दू-जाति का जहाज डगमगा रहा था, उस समय यह युवक एक शक्तिशाली कर्णधार बनकर आता है और भारत में सच्चे स्वराज्य की "हिन्दू पद पातसाही" की स्थापना करता है।

छत्रपति शिवा—माने क्या ? मातुश्री जीजाबाई—जीजाबाई, जो पति से एक प्रकार से परित्यक्ता—एक किले में आनेवाले शिशु की—भारत के भविष्य की—प्रतीक्षा में है। उसकी एकमात्र अभिलाषा है—कोई अवतारी पुरुष आवे और देश-जाति के लिये त्याग करे, बलिदान करे—ना, इससे आगे बढ़कर

विजयी हो ! वह मां अपने शिशु को लोरियों के द्वारा, गीतों के द्वारा, रामायण, महाभारत की कथा के द्वारा—दूध के साथ-साथ—एक और अमृत का भी पान कराती है। इन्हीं भावों से भरी होती थीं—उनकी लोरी—

सोजा मेरे लाल तुलजा मां के लाल
मां भवानी के लाल, भारत मां के लाल
सोजा, मैं लोरी मीठी गाऊँ।
झूला झूम झुलाऊँ॥

जितना सोना है तू सोले, मीठे सपनों में तू खोले
परियों से हँस बातें कर ले, तितली-सा उड़ मधु रस पीले।
फिर न यहाँ सोने की बिरियाँ
इस आँचल की शीतल छइयाँ
सोजा..............

यह फूलों की गोद कहाँ, फिर गिरि के पथ पथरीले
तीखे काँटे कंकड़-कुश हैं, ऊबड़-खाबड़ टीले
घोड़ों की पीठों पर आसन, भाला ही सहचर है
जहाँ कहीं पुकार करुण है, वही तुम्हारा घर है
फिर तो निशिदिन चलना ही है
तूफानों में पलना ही है।
सोजा..............

दुश्मन खड़ा द्वार पर आकर वह ललकार रहा है
तलवारों-तोपों के बल पर, आँखें दिखा रहा है
मंदिर टूट रहे, लुटती हैं मणियाँ राह डगर में
भूखों का क्रन्दन अबला का रोदन है घर-घर में
तुम प्रहरी अठपहरी प्रहरी, सदा जागते रहना
सावधान, घनघोर निशा में निर्भय सदा विचरना
सोजा.............

दुष्टों का कर नाश, साधु का रक्षक बन जाना है
धर्म विजय का शंख बजाते विजयी बन आना है।
तब मैं तुमको और विजय को साथ-साथ ही लूँगी
ढोलों के ढमको से, गाकर तुम्हें बधा कर लूँगी
तुम कीरत बन गौरव बनकर आशा बनकर आना
तुम सूरज-सा सदा चमकना, चंदा-सा मुस्काना॥
सोजा मेरे लाल........

वही शिशु, जब बालक हुआ—बड़ा हुआ—दादा कोंणदेव के निरीक्षण में—मां के संरक्षण में—दुर्द्धर्ष ओज का सागर—बनकर प्रकट हुआ। प्रायः माताओं की भूमिका—बच्चे के लिए थोड़े ही वर्षों तक सीमित रहती है—पर,

जीजाबाई इसका अपवाद हैं। जीजाबाई—शिवा के लिए मां, पिता, गुरु, बनकर रहीं और शिवाजी उनकी गोद मे शिशु की तरह ही रहे और वह महिषमर्दिनी दुर्गा बनकर, उनके लिए कवच बनकर, ढाल बनकर रही।

अफजल खाँ से मिलने जाना है—जान का खतरा है—मां ने कहा—'जा बेटा, तू विजयी होगा।' शिवाजी चले जाते हैं। और विजयी हो लौटते हैं। मां ने कहा—"किसकी पताका फहरा रही है? दुश्मन की?—जाओ—जब तक इस पर तुम्हारा झण्डा न फहरावे—तब तक भोजन का त्याग!" मां की आज्ञा यानी प्रभु का आदेश—फिर सिंहगढ़ विजय!

शिवाजी मां के परम भक्त थे। ऐसे मातृ-भक्त पुत्र ने विजय-पर-विजय पाई; असफलता में उसने निराश होना नहीं सीखा। सभी धर्मों के प्रति प्रेम, मातृ जाति के प्रति आदर, नैतिक आदर्शों का सम्मान, प्रजारंजन, कृतज्ञता, साहस, शौर्य, रण-कौशल, राजनीतिक-पटुता, तत्काल निर्णय, सूझबूझ एवं दूरदर्शिता में—इन गुणों को निरन्तर बढ़ाने में—जीजाबाई—अविरल शक्ति-स्रोत थीं। राजयोगी—निःस्पृह त्यागी और हिन्दू-जाति की रक्षा में तत्पर महान् शिवाजी—सन्त शिरोमणि स्वामी समर्थदासजी का शिष्यत्व पाकर धन्य हो गये। आदर्श पुत्र, आदर्श मां और आदर्श गुरु—इसी से हमारे स्वतंत्रता के इतिहास में छत्रपति ने विजय का एक चमकता हुआ अध्याय जोड़ दिया।

राष्ट्रमाता—कस्तूरबा / कृष्णा गुप्ता

वैसे तो मां शब्द ही अद्भुत है। इसके उच्चारणमात्र से ही स्नेह, वात्सल्य और ममता की धारा प्रवाहित होती है। सभी मां अपने बच्चों को असीम प्यार देती हैं, उनकी संरक्षक और हृदय से शुभ चाहने वाली हैं। पर कुछ महिलाएँ अपने मातृत्व को केवल अपने बच्चों तक सीमित नहीं रखतीं। अपने घर-परिवार से निकलकर सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश करती हैं, तो उनके मातृत्व का भी फैलाव होता है। वे केवल अपने बच्चों की ही मा नहीं, जनसाधारण की मां हो जाती हैं। वे ममता का केवल एक छोटा-सा झरना न रहकर मातृत्व का एक विशाल सागर हो जाती हैं। ऐसी मां सच में राष्ट्र-मां कहलाने लायक हैं। आधुनिक भारत की ऐसी विशिष्ट मां में कस्तूरबा गाँधी का नाम सर्वोपरि है। कस्तूरबा केवल अपने चार पुत्र—हरिलाल, मणिलाल, रामदास और देवदास की मा न रहकर सारे देशवासियों की मा हो गईं। राजेन्द्रबाबू ने लिखा है, 'जिस प्रकार गाँधीजी सबके बापू थे, कस्तूरबा सबकी मां।' गाँधीजी ने स्वयं कहा है, 'उसके लिये ममता के एक अटूट बन्धन की भावना दिन-रात मेरे

अन्तर में जाग्रत रहती है।' बापू ने भी कस्तूरबा में मातृ-हृदय के दर्शन किये।

कस्तूरबा एक साधारण, सीधी सादी, निरक्षर भारतीय पत्नी के रूप में आयीं, पर वह पत्नी किसी साधारण व्यक्ति की नहीं थीं। एक असाधारण समर्पित व्यक्ति की, जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र और मानव को अर्पण कर दिया। किन्तु इस महात्मा के पीछे थीं अत्यत सरल, स्नेहमयी कस्तूरबा, जिसने बापू के मन को समझते ही अपने जीवन को उनकी इच्छाओं के अनुकूल ढाल लिया, उनके त्याग, सादगी-सेवा और आदर्श को अपने जीवन में उतार लिया और खुशी-खुशी उनके पदचिह्नों पर चलने में सार्थकता का अनुभव किया। प्रारम्भ में कस्तूरबा बापू के बीच झगड़ा भी होता, क्योंकि जरा-जरा-सी बात पर बापू सबके सामने 'बा' को डाँटा-फटकारा करते थे। किन्तु बा शक्ति और साहस की देवी थी, धैर्य और सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति और शीघ्र ही बा ने बापू के आदर्श और आज्ञा का अनुकरण कर उनके मन को जीत लिया। और सच्चे अर्थों में उनकी सधर्मचारिणी एवं हर कार्य मे साथ देनेवाली जीवन-साथी हो गईं। बा और बापू ने गृहस्थ जीवन का एक विलक्षण आदर्श समाज के सामने रखा। बापू ने अपने आधे जीवन में जब ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने का निर्णय किया, तब बा ने उसे स्वेच्छा से स्वीकार किया। दोनों ने यह कर दिखाया कि सच्चा गृहस्थ जीवन-अनुकूल समय आने पर सेवा-परायण वानप्रस्थ का और बाद में ज्ञान-परायण संन्यास का रूप ग्रहण कर लेता है। किन्तु बापू की महानता के पीछे थीं बा। बापू ने स्वयं लिखा है 'अगर बा का साथ न होता, तो मैं इतना ऊँचा उठ नही सकता था।' बापू के ही शब्दों में 'पवित्र जीवन बिताने के मेरे प्रयत्न में उसने मुझे कभी नही रोका।' इस प्रकार बा के जीवन के निर्माण में, उनके आत्मविकास में हमेशा सहायक बनीं। दोनों का संबंध सच्चे मित्रों-सा हो गया। स्त्री के नाते, पत्नी होने के नाते बा ने मरते दम तक बापू की सुख-सुविधा का ध्यान रखा और स्वयं उनकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझा। वह बापू की छोटी-सी-छोटी बात का ध्यान रखती। उनके खाने-पीने का प्रबन्ध स्वयं करती। खाते समय नियम से पास बैठती और प्रेम से उनकी देखरेख करतीं।

पूरा राष्ट्र बा और बापू का परिवार था। सर्वप्रथम वह दक्षिण अफ्रीका में फोनिक्स आश्रम की बा बनीं और फिर साबरमती और सेवाग्राम में अपने ममत्व का विस्तार करती हुई सबकी बा बन गई। बापू के शब्दों में, 'उसका हृदय अथाह समुद्र की तरह सहानुभूति से भरा रहता है। दूसरे के दुःख का पता चलते ही पिघल जाता है। फिर तो बा मेरे मोह को भी भूल जाती है।' बा नम्रता की मूर्ति थी। उनके हृदय में सबके लिये प्रेम-ही-प्रेम था। वह

आश्रम का अनोखा आकर्षण थीं। वा ने ही आश्रम को घर बना दिया और आश्रमवासियों को पुत्रवत् स्नेह दिया। वहाँ आने-जानेवाले मेहमानों का ध्यान रखना, उनके खाने का प्रबन्ध करना, सारी जिम्मेदारी वा पर थी। मेहमानों की कतार हमेशा लगी रहती और वा बड़े प्रेम से सबकी आवभगत करती। कभी किसी काम से नहीं घबड़ाई, दूसरे की मदद करने के लिये सदा हाजिर ही रहती थीं। घर में जिस प्रकार मां अपने बच्चों की सुख-सुविधा का ध्यान रखती है, उसी प्रकार वा भी सब आश्रमवासियों की सुख-सुविधा का ध्यान रखती थीं। आवश्यकता पड़ने पर चक्की भी पीसी, पाखाने साफ किये, जूठे वर्तन माँजे।

वा गाँधीजी के साथ स्वतन्त्रता-संग्राम में उतरीं, सत्याग्रह में भाग लिया, समय-समय पर जेल गई, महिलाओं को प्रेरित किया। स्वेच्छा से खादी अपनायीं। खुशी से चरखा काता। हरिजनों को हृदय से लगाया। बीमारों की सेवा-शुश्रूषा करने में तो वह कुशल परिचारिका थी। बापू के कदमों पर चलीं, उनके कठोर नियमों का पालन किया और फिर ७२ साल की आयु मे कारावास में बापू की गोद में ही अपने प्राण त्याग दिये।

उनके पास सम्पत्ति नहीं थी। वैभव नहीं था, सत्ता नहीं थी, पद नही था, पर थी एक अमूल्य निधि, एक निश्छल, निर्मल, विशाल हृदय, जिसमे सबके लिए मातृत्व ही मातृत्व था। वह वास्तव में आश्रम की ही नही, पूरे भारत की वा थीं, यहाँ तक कि बापू के लिए भी वे वा थीं।

आनन्द भवन से प्रवाहित मातृधारा / श्रीकान्ता

पण्डित जवाहरलाल नेहरू की माता स्वरूपरानी नेहरू के स्मरणमात्र से आदर्श मातृत्व का सजीव चित्र आँखों के सामने नाचने लगता है। उस नारी का जीवन धन्य है, जिसके पति व पुत्र ने स्वाधीनता के लिये जीवन का बहुत बड़ा भाग जेल में बिताया हो। उस जननी का मातृत्व श्लाघ्य है, जिसके पुत्र ने देश की पराधीनता की हथकड़ी-बेड़ी काटने में खून-पसीना एक कर दिया।

आनन्द भवन में स्थित नेहरूपरिवार के पास वैभव की कोई कमी नहीं थी। एक समय ऐसा भी था, जब यह परिवार पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रँगा हुआ था, पर माता स्वरूपरानी की भारतीयता उसे भी ढक लेती थी। माता स्वरूपरानी नेहरू ने एक भारतीय वीरांगना की तरह स्वाधीनता-संग्राम की बलिवेदी पर अपना सर्वस्व चढ़ा दिया।

माता स्वरूपरानी अपने पुत्र जवाहरलाल की शिक्षा-दीक्षा में काफी रुचि

रखती थीं। प्रतिदिन रात को बहुत देर तक उन्हें रामायण और महाभारत के वीरों की कथाएँ सुनाती थीं। भगवान् राम और कृष्ण के अद्भुत चरित्रों से बालक जवाहरलाल में वीरता का संचार करती थीं।

जवाहरलालजी को वे बड़े-से-बड़े अपराध और चंचलता के लिये भी क्षमा कर देती थीं और यही कारण था कि बालक जवाहरलाल पिता की अपेक्षा अपने आप को माता के अधिक निकट पाता था। उन्होंने लिखा भी है—"मैं जितने भरोसे के साथ माताजी से अपनी बात कह सकता था, उतने भरोसे से पिताजी से कहने का सपने में भी ख्याल नहीं करता था।" इससे उनके मातृ-प्रेम का पता चलता है।

माता स्वरूपरानी में अपार धैर्य और सहन-शक्ति थी, बड़ी-से-बड़ी विपत्ति का भी वे वीरता से सामना करती थीं। उन्हें वैधव्य भी देखना पड़ा, परन्तु वे अपने कर्तव्य-पथ में सदा अविचलित ही रहीं।

एकबार जब पण्डित जवाहरलाल नेहरू जेल में थे, माता स्वरूपरानी पर एक राजनीतिक जुलूस का नेतृत्व करते वक्त लाठी से प्रहार किया गया। माता स्वरूपरानी नेहरू को काफी चोट लगी, फिर भी उन्हें इस बात से प्रसन्नता रही और गर्व था कि वे स्वयंसेवकों और स्वयंसेविकाओं के साथ बेंतों की मार खाने के सम्मान से वंचित नहीं रहीं। पर इस दुर्घटना के बाद वे अस्वस्थ रहने लगीं।

संसार से विदा लेते समय भी माता स्वरूपरानी को इस बात का संतोष था कि उसका पुत्र जवाहरलाल अपने कर्तव्य-पथ पर हिमालय की तरह अडिग है। माता के लिये इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात और हो ही क्या सकती थी!

भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में माता स्वरूपरानी का नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखा रहेगा। वे मूर्तिमान स्वाधीनता थीं।

वे तो स्वाधीनता के सपने आँखों में सजोये चली गयी, पर उनका लाडला अपने माता-पिता द्वारा बताये गये पथपर चलता हुआ एक दिन स्वतन्त्र भारत का प्रथम प्रधानमंत्री बना। आज भी उनका परिवार देश-सेवा के भार को अपने कंधों पर उठाये उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। यह माता स्वरूपरानी की मेहनत, लगन और आशीर्वाद का फल है। उनके द्वारा लगाये गये बीज ने एक वट वृक्ष का आकार ले लिया है। पुत्र जवाहर को मां से जो कुछ भी मिला था उसे अपनी बेटी को दे दिया और बेटी ने बेटे को। इस तरह पीढ़ी-दर पीढ़ी माता स्वरूपरानी की शिक्षा अनमोल रत्न तराशती रही। वे मर कर भी जीवित रहीं, अपनी आँखों से न सही, अपने कुटुम्ब की आँखों से उन्होंने अपने सपनों को साकार होते देख लिया। वे सच्चे अर्थ में एक आदर्श मां थी, उन्हें पाकर भारत-भूमि धन्य हो गयी।

मातृभावापन्न भारत कोकिला   कृष्णा गुप्ता

प्रिय, तुम होगे जैसा कि लोग कहते हैं,
केवल एक जानेवाली चमक
मिट्टी के दिये की बुझती लौ की---
मुझे परवाह नहीं. . . . . क्योंकि तुम उजागर कर देते हो मेरा सारा अंधेरा
अमर आभाओं से दिन की!
जैसा कि सब लोग समझते हैं, प्रियतम, तुम होगे,
केवल एक साधारण शंख
हवाओं द्वारा समुद्र से कभी उछाले गए---
मुझे परवाह नहीं, क्योंकि तुम मुझे सुनवाते हो
अनन्त की सूक्ष्म मर्मर-ध्वनि।
और यद्यपि तुम हो, मर्त्य जाति के मानव समान,
केवल एक अभागी वस्तु
जिसे मौत मार दे या भाग्य मिटा दे---
मुझे परवाह नहीं. . . . . क्योंकि मेरे हृदय को तुम देते हो
हू-ब-हू दर्शन ईश के निवास का!

यह कविता "भारत कोकिला", हिन्दुस्तान की बुलबुल, श्रीमती सरोजिनी नायडू की है, जो स्वतन्त्रता-संग्राम के सेनानियों में एक हंसमुख गर्वभरी मा की आकृति के रूप में उभरी। सर्वप्रथम देशभक्ति के वृहद् स्तम्भ गोपालकृष्ण गोखले से सरोजिनी ने प्रेरणा ग्रहण किया। और फिर यह उल्लासमयी, आनन्द-भरी कवयित्री मिली सीधे-सादे तपस्वी, अहिंसा के पुजारी महात्मा गांधी से। संत और गायक एक-दूसरे के प्रति आकर्षित हुए। यद्यपि दोनों के व्यक्तित्व भिन्न थे, दोनों के उद्देश्य और आदर्श एक-दूसरे से मिलते-जुलते थे। वे दोनों शांति और एकता के मसीहा थे। गांधीजी से प्रेरित हो सरोजिनी रणक्षेत्र में उतर पड़ीं और उन्होंने विशेष रूप से भारत के विद्यार्थियों और स्त्रियों को मुक्ति के लिए प्रेरित किया। उस समय देश की राजनीति में पुरुष ही पुरुष थे, पर जैसे ही सरोजिनी कांग्रेस के मंच पर उतरीं, अपने ओजस्वी, प्रेरणादायक, धाराप्रवाह भाषणों द्वारा सारे देशवासियों के दिल और दिमाग पर छा गईं। युवकों के लिए वह मातृ-मूर्ति अद्भुत शक्ति और प्रेरणा का स्रोत थीं। शीघ्र ही इस वीरांगना के भाषण और कविताएँ देश के कोने-कोने में गूंज उठे। अपनी अद्भुत वाणी द्वारा उन्होंने लोगों को जागृत किया। गांधीजी के साथ घूम-घूमकर, देश के भिन्न-भिन्न भागों में भाषण दिये तथा सारे देशवासियों को एकता के सूत्र में बांधने का निरन्तर प्रयास किया। जब

दिसम्वर १९२५ में सरोजिनी नायडू कानपुर में कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षा चुनी गयीं, तो अपने अध्यक्षीय भाषण में भारत की अखण्ड एकता पर वल देते हुए देशवासियों को भय त्यागने को कहा। उन्होंने घोषणा की—"स्वतन्त्रता की लड़ाई में भय एक अक्षम्य विश्वासघात है और निराशा एक अक्षम्य पाप है।" सरोजिनी ने सव संप्रदायों, धर्मों और जातियों को विश्वास और श्रद्धा से जोड़ने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया।

भारत की मुक्ति के वृहद् अभियानों में निर्भय हो जेल की यात्राएँ की, युवकों और स्त्रियों के वीच मुक्ति और प्रेरणा का मंत्र फूंका और फिर गाँधीजी की हत्या के अगले साल स्वयं चिर निद्रा में लीन हो गईं। उनकी गूंजती आवाज हमेशा के लिये खामोश हो गई। पर आज भी हमारा राष्ट्र इस निर्भय स्त्री, प्रतिभाशाली कवयित्री, शान्ति की अग्रदूत, स्त्रियों की मुक्ति की प्रवक्ता, दार्शनिक मार्गदर्शक, स्वतन्त्रता के इस सेनानी को कभी नहीं भूल सकता। मीरा वहन के शब्दों में—वे वुद्धि-चातुर्य से भरी हुई थीं और अपने मातृवत् स्वभाव से सब स्नेह की वर्षा किया करती थीं।

जीवन के अंतिम दिनों में वे उत्तर प्रदेश की राज्यपाल थीं और लखनऊ में रहती थीं। वे तव वहुत वृद्धा और शिथिल हो गई थीं। महान देशसेविका के नाते जीवन भर वे राष्ट्र को स्नेमयी माता की तरह लोरियाँ और गीत सुनाती रहीं। और जीवन के अंतिम दिन भी उनका वही रूप दिखाई पड़ा। शाम को शयन के पूर्व उन्हें तवीयत कुछ गड़वड़ लगी, तो नर्स ने कहा—"डाक्टर को वुलाती हूँ।" तव सरोजिनीजी ने कहा—"नहीं, डाक्टर नहीं, तुम मुझे लोरी सुनाओ।" नर्स हिचकी, मैडम गवर्नर को वह लोरी कैसे सुनाती। सरोजिनीजी ने डाँटा, 'कैसी औरत हो लोरी और गीत भी नहीं गा सकती?' विवश नर्स ने लोरी गाना शुरू किया! सरोजिनीजी पलंग पर लेटी, आँखें मूंदे लोरियाँ सुनती रहीं। फिर थोड़ी देर वाद उन्हें सोता जान नर्स भी चली गई। सवेरे देखा गया कि सव के अनजाने रात को ही सरोजिनीजी की जीवनलीला समाप्त हो चुकी थी। तव भी उनके चेहरे पर लोरी सुननेवाली मुस्कान और संतोष की आभा थी। यों भारत कोकिला ने शरीर का पिंजरा त्यागा था। उनका सचमुच एक माता का विशाल व करुणापूर्ण हृदय था। □



मातृ-संरक्षण चित्र: अमृत शेरगिल

शोभा कनोई

□

संत मां टेरेसा

सेवा-धर्म गहन है; योगियों के लिये भी अगम्य है---यह कथन शत-प्रतिशत सही है। सेवा के कण्टकाकीर्ण पथ पर चलनेवाले कम और जीवन भर निभाने वाले और भी कम होते हैं। और दु:खियों, बीमारों, गरीबों के बीच वही रह सकता है---जो भगवान् को दीनबन्धु, आर्त, रक्षक जानता है---वही उनमें प्रभु समझ कर आजीवन सेवा का व्रत ले सकता है। 'मदर टेरेसा' ऐसी ही एक सेवाव्रती मा हैं--जो प्यार के साथ दु:खियों में प्रभु का दर्शन करती हैं, और उन्हीं से घिरी संसार के कोने-कोने में नजर आती हैं।

ग्रीस के एक छोटे-से गाँव अलवानिया परिवार मे उत्पन्न 'गोकला' आज सपूर्ण विश्व की 'मदर टेरेसा' ही नहीं टेरेसा संत भी हो गई हैं। विश्व के हर प्राणी में यीशु को देखने वाली 'मां' ने उनके दुख और पीड़ा में जीवन सर्मपित कर अपने आप को उसी में भुला दिया। मां टेरेसा को उतनी ऊँचाई तक ले जाने के पीछे नेपथ्य में उनकी मां ही हैं। उनकी मां हमेशा से बड़ी करुणार्द्र एवं ममतामयी थीं। एक बार उन्हें एक वृद्ध महिला मिलीं जो ट्यूमर से ग्रस्त थीं और परिवार वालों ने उन्हें घर से बहिष्कृत कर दिया था। इसे देख 'गोकला' की मां द्रवीभूत हो उठीं और उस औरत को अपने घर ला उसकी सेवा-शुश्रूषा में लग गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि वे जल्द ही स्वस्थ हो चलने-फिरने लगी। इस घटना

ने 'गोकला' के शिशु मन पर अत्यधिक प्रभाव डाला। स्कूल के समय से ही उनकी ध्यानधारणा ईश्वरमुखी हो गयी। अपने अन्तस्तल में वे कुछ विचित्र-सा अनुभव करती थीं। मानो हर पल उन्हें कोई अपने नजदीक बुला रहा हो। इस प्रकार का मूल स्वर अभय का था। आयरलैंड के लोरेटो संप्रदाय के मठ की संन्यासिनियों के प्रभाव ने उन्हें संन्यासी जीवन की ओर खींचा।

'जो लोग जीवों से प्रेम करते हैं, वे लोग ही ईश्वर की सेवा करते हैं।' स्वामी विवेकानन्द के इस आदर्श पर विश्वास रखने वाली 'मदर टेरेसा' कहतीं, 'दो-चार पैसे दरिद्रों को देने से ही सहायता नहीं होती, उन्हें प्यार भी देना चाहिये।'

अट्ठारह वर्ष की अल्प आयु में शिक्षिका का काम लेकर वे कलकत्ता आयीं। लोरेटो की ननों के साथ परोक्ष रूप से मुक्त 'डाटर्स आफ सेंट ऐन' का भार उन्हें मिला। सेंट मेरी स्कूल की दीवार के बाहर ही मोतीझील बस्ती थी, यहीं मां टेरेसा ने सबसे पहले दरिद्रता से साक्षात्कार किया। उन्हें देखकर उनका दिल रो पड़ा।

दरिद्र माता-पिता की निष्पाप संतानों की दुर्दशा से वे द्रवित हो उठीं और स्कूल के बच्चों को उन्होंने उनकी किसी-न-किसी रूप में सेवा करने की प्रेरणा दी। इससे उन्हें संतोष नहीं हुआ। वे शहर की दीन, दरिद्र बस्तियों के रहने वालों के साथ मिल जाना चाहती थीं। उन्हें प्यार करना चाहती थीं, और आनन्द पहुँचाना चाहती थीं—यीशु को और यीशु के मन को। इसलिये उन्होंने इस्तीफा दे दिया और स्वीकृति मिलते ही उन्हें ऐसा आभास हुआ मानो पिंजरे में बन्द पक्षी को मुक्ति मिल गई हो।

कलकत्ता का जन-जीवन, विशेष रूप से लाखों गरीब बस्ती के रहनेवालों के दुख-दारिद्र्य ने उनके कोमल हृदय पर गहरा प्रभाव डाला। अब पश्चिम बंगाल उनका स्वदेश बन चुका था। उन्होंने भारतीय नागरिकता ग्रहण कर अपने-आपको भारतीय घोषित कर दिया।

भारत की गरीब जनता की सेवा में संलग्न मां टेरेसा पूर्ण रूप से भारतीय बन 'मां' की भूमिका निभाने लगीं। गरीबी, दारिद्र्य व अभाव का जीवन 'मां' ने सहर्ष स्वीकार किया था, जहाँ केवल अनुभूति व आवेग से मंजिल तय नहीं की जा सकती थी, बल्कि चिकित्सा-दवा-दारू की भी आवश्यकता थी, प्यार के साथ-साथ ज्ञान की भी आवश्यकता थी। इसलिये उन्होंने छोटे-छोटे गाँवों में बच्चों को शिक्षा देनी शुरू की। अपने इस कठिन कँटीले मार्ग पर जब वे निकलीं तो उनके पास सिर्फ पाँच रुपये की पूँजी थी, पर इससे वे निरुत्साहित नहीं हुईं। उनके काम धीरे-धीरे बढ़ने लगे, ईश्वर उनकी सहायतार्थ हमेशा उनके द्वार पर खड़े रहते। एक दिन मां ने बरसात में एक आदमी को मरते देख मुमूर्षु लोगों के लिये आश्रय

स्थल बनाने का निश्चय किया। जिसके लिये उन्हें कई मुसीबतों का सामना करना पड़ा, पर वे अपने निश्चय पर अडिग-अटल रहीं। विरोधियों को उन्होंने प्यार से समझाया कि जो कष्ट में पड़े शरणार्थी हैं, उन पर दया कर उन्हें तकलीफ न पहुँचायें, कुछ ही दिनों में मोह छोड़कर इस दुनिया से चले जानेवाले निरीह लोगों को शांति से रहने दें। उनकी यह मृदु, कोमल वाणी लोगों को ईश्वर की प्रतिध्वनि-सी लगी। कुछ दिनों बाद आंदोलनकारी पुजारियों में एक पुजारी को दुःसाध्य यक्ष्मा रोग ने आ घेरा। मां ने जिस सेवा व लगन से उसकी सेवा की कि आत्मीय स्वजन भी नहीं कर सकते हैं। उसने मां में साक्षात् काली के दर्शन किये और अपने जीवन को धन्य समझने लगा।

मां ने अनाथ परित्यक्त शिशु बच्चों के लिये 'निर्मला शिशु भवन' का निर्माण किया। यही उनकी सच्ची दुनिया थी, जहां उनको नैसर्गिक आनन्द की प्राप्ति होती। किसी भूखे बच्चे को खिलाकर उन्हें लगता, मानो यीशु को ही खिलाया हो। किसी के पैर, हाथ या देह के घाव साफ करते समय भी उन्हें इसी भाव की प्रतीति होती है। वे हमेशा कहती हैं, यह बातें अनुभव करने की हैं।

हम एक-दो संतानों के पीछे ही परेशान हो जाते हैं, पर विश्व की 'मां' जिसे हर भूखे, नंगे बच्चे की परवाह है; वह किस तरह उनका भरण-पोषण करती होगी? मां को ईश्वर पर पूर्ण विश्वास है। कितनी बार ऐसा मौका आया है, जब शिशु भवन का खजाना—भंडार सब खाली हो जाते, पर उसी समय कोई-न-कोई दाता सशरीर वहाँ आ पहुँचते। इसी आत्मविश्वास, मनोबल ने आज उन्हें इस स्तर पर ला खड़ा किया, जहाँ मानव मानव न होकर ईश्वर से भी ऊँचा उठ जाता है। सम्पूर्ण विश्व की जननी 'मदर टेरेसा' दुःखी, रुग्ण एवं परित्यक्त आदमी की सेवा में अपने को समर्पित करने में दिन-रात संलग्न रहती हैं। इतना ही नहीं, कल की चिन्ता से दूर, अपने कर्त्तव्यों को दृढ़ता से पूर्ण करती रही हैं, चाहे वह छोटा-से-छोटा काम ही क्यों न हो।

वैसे तो मां टेरेसा भारतीय नागरिक हैं और इनकी सेवा का प्रधान क्षेत्र भारत ही रहा है, पर फिर भी दुनिया के किसी भी कोने से जब आर्त्त मानवता की पुकार सुनती हैं, तो ये दौड़कर सेवा के लिये पहुँच जाती हैं।

विश्व भर में इन्हें पदक, पुरस्कार, उपाधियों से लाद दिया गया है; पर ये यश से दूर, विनम्र एवं प्रसन्न भाव से एक मन से सेवाकार्यों में लगी हैं।

इस प्रकार विश्वमाता के रूप में इनका व्यक्तित्व स्थापित हो गया है, सेवा के क्षेत्र में इनकी कीर्ति चतुर्दिक् व्याप्त है। □

ने 'गोकला' के शिशु मन पर अत्यधिक प्रभाव डाला। स्कूल के समय से ही उनकी ध्यानधारणा ईश्वरमुखी हो गयी। अपने अन्तस्तल में वे कुछ विचित्र-सा अनुभव करती थीं। मानो हर पल उन्हें कोई अपने नजदीक बुला रहा हो। इस प्रकार का मूल स्वर अभय का था। आयरलैंड के लोरेटो संप्रदाय के मठ की संन्यासिनियों के प्रभाव ने उन्हें संन्यासी जीवन की ओर खींचा।

'जो लोग जीवों से प्रेम करते हैं, वे लोग ही ईश्वर की सेवा करते हैं।' स्वामी विवेकानन्द के इस आदर्श पर विश्वास रखने वाली 'मदर टेरेसा' कहतीं, 'दो-चार पैसे दरिद्रों को देने से ही सहायता नहीं होती, उन्हें प्यार भी देना चाहिये।'

अट्ठारह वर्ष की अल्प आयु में शिक्षिका का काम लेकर वे कलकत्ता आयी। लोरेटो की ननों के साथ परोक्ष रूप से मुक्त 'डाटर्स आफ सेंट ऐन' का भार उन्हें मिला। सेंट मेरी स्कूल की दीवार के बाहर ही मोतीझील बस्ती थी, यहीं मां टेरेसा ने सबसे पहले दरिद्रता से साक्षात्कार किया। उन्हें देखकर उनका दिल रो पड़ा।

दरिद्र माता-पिता की निष्पाप संतानों की दुर्दशा से वे द्रवित हो उठीं और स्कूल के बच्चों को उन्होंने उनकी किसी-न-किसी रूप में सेवा करने की प्रेरणा दी। इससे उन्हें संतोष नहीं हुआ। वे शहर की दीन, दरिद्र बस्तियों के रहने वालों के साथ मिल जाना चाहती थी। उन्हें प्यार करना चाहती थीं, और आनन्द पहुँचाना चाहती थीं—यीशु को और यीशु के मन को। इसलिये उन्होंने इस्तीफा दे दिया और स्वीकृति मिलते ही उन्हें ऐसा आभास हुआ मानो पिंजरे में बन्द पक्षी को मुक्ति मिल गई हो।

कलकत्ता का जन-जीवन, विशेष रूप से लाखों गरीब बस्ती के रहनेवालों के दुख-दारिद्र्य ने उनके कोमल हृदय पर गहरा प्रभाव डाला। अब पश्चिम बंगाल उनका स्वदेश बन चुका था। उन्होंने भारतीय नागरिकता ग्रहण कर अपने-आपको भारतीय घोषित कर दिया।

भारत की गरीब जनता की सेवा में संलग्न मा टेरेसा पूर्ण रूप से भारतीय बन 'मां' की भूमिका निभाने लगीं। गरीबी, दारिद्र्य व अभाव का जीवन 'मां' ने सहर्ष स्वीकार किया था, जहाँ केवल अनुभूति व आवेग से मंजिल तय नहीं की जा सकती थी, बल्कि चिकित्सा-दवा-दारू की भी आवश्यकता थी, प्यार के साथ-साथ ज्ञान की भी आवश्यकता थी। इसलिये उन्होंने छोटे-छोटे गाँवों में बच्चों को शिक्षा देनी शुरू की। अपने इस कठिन कँटीले मार्ग पर जब वे निकलीं तो उनके पास सिर्फ पाँच रुपये की पूँजी थी, पर इससे वे निरुत्साहित नहीं हुई। उनके काम धीरे-धीरे बढ़ने लगे, ईश्वर उनकी सहायतार्थ हमेशा उनके द्वार पर खड़े रहते। एक दिन मां ने बरसात में एक आदमी को मरते देख मुमूर्षु लोगों के लिये आश्रय

स्थल बनाने का निश्चय किया। जिसके लिये उन्हें कई मुसीबतों का सामना करना पड़ा, पर वे अपने निश्चय पर अडिग-अटल रहीं। विरोधियों को उन्होंने प्यार से समझाया कि जो कष्ट में पड़े शरणार्थी हैं, उन पर दया कर उन्हें तकलीफ न पहुँचायें, कुछ ही दिनों में मोह छोड़कर इस दुनिया से चले जानेवाले निरीह लोगों को शांति से रहने दें। उनकी यह मृदु, कोमल वाणी लोगों को ईश्वर की प्रतिध्वनि-सी लगी। कुछ दिनों बाद आंदोलनकारी पुजारियों में एक पुजारी को दु:साध्य यक्ष्मा रोग ने आ घेरा। मां ने जिस सेवा व लगन से उसकी सेवा की कि आत्मीय स्वजन भी नहीं कर सकते हैं। उसने मां में साक्षात् काली के दर्शन किये और अपने जीवन को धन्य समझने लगा।

मां ने अनाथ परित्यक्त शिशु बच्चों के लिये 'निर्मला शिशु भवन' का निर्माण किया। यही उनकी सच्ची दुनिया थी, जहां उनको नैसर्गिक आनन्द की प्राप्ति होती। किसी भूखे बच्चे को खिलाकर उन्हें लगता, मानो यीशु को ही खिलाया हो। किसी के पैर, हाथ या देह के घाव साफ करते समय भी उन्हें इसी भाव की प्रतीति होती है। वे हमेशा कहती हैं, यह बातें अनुभव करने की हैं।

हम एक-दो संतानों के पीछे ही परेशान हो जाते हैं, पर विश्व की 'मां' जिसे हर भूखे, नंगे बच्चे की परवाह है; वह किस तरह उनका भरण-पोषण करती होगी ? मां को ईश्वर पर पूर्ण विश्वास है। कितनी बार ऐसा मौका आया है, जब शिशु भवन का खजाना—भंडार सब खाली हो जाते, पर उसी समय कोई-न-कोई दाता सशरीर वहाँ आ पहुँचते। इसी आत्मविश्वास, मनोबल ने आज उन्हें इस स्तर पर ला खड़ा किया, जहाँ मानव मानव न होकर ईश्वर से भी ऊँचा उठ जाता है। सम्पूर्ण विश्व की जननी 'मदर टेरेसा' दु:खी, रुग्ण एवं परित्यक्त आदमी की सेवा में अपने को समर्पित करने में दिन-रात संलग्न रहती हैं। इतना ही नहीं, कल की चिन्ता से दूर, अपने कर्त्तव्यों को दृढ़ता से पूर्ण करती रही हैं, चाहे वह छोटा-से-छोटा काम ही क्यों न हो।

वैसे तो मां टेरेसा भारतीय नागरिक हैं और इनकी सेवा का प्रधान क्षेत्र भारत ही रहा है, पर फिर भी दुनिया के किसी भी कोने से जब आर्त्त मानवता की पुकार सुनती हैं, तो ये दौड़कर सेवा के लिये पहुँच जाती हैं।

विश्व भर में इन्हें पदक, पुरस्कार, उपाधियों से लाद दिया गया है ; पर ये यश से दूर, विनम्र एवं प्रसन्न भाव से एक मन से सेवाकार्यों में लगी हैं।

इस प्रकार विश्वमाता के रूप में इनका व्यक्तित्व स्थापित हो गया है, सेवा के क्षेत्र में इनकी कीर्ति चतुर्दिक् व्याप्त है। □

ने 'गोकला' के शिशु मन पर अत्यधिक प्रभाव डाला। स्कूल के समय से ही उनकी ध्यानधारणा ईश्वरमुखी हो गयी। अपने अन्तस्तल में वे कुछ विचित्र-सा अनुभव करती थीं। मानो हर पल उन्हें कोई अपने नजदीक बुला रहा हो। इस प्रकार का मूल स्वर अभय का था। आयरलैंड के लोरेटो संप्रदाय के मठ की संन्यासिनियों के प्रभाव ने उन्हें संन्यासी जीवन की ओर खींचा।

'जो लोग जीवों से प्रेम करते हैं, वे लोग ही ईश्वर की सेवा करते हैं।' स्वामी विवेकानन्द के इस आदर्श पर विश्वास रखने वाली 'मदर टेरेसा' कहतीं, 'दो-चार पैसे दरिद्रों को देने से ही सहायता नहीं होती, उन्हें प्यार भी देना चाहिये।'

अट्ठारह वर्ष की अल्प आयु में शिक्षिका का काम लेकर वे कलकत्ता आयी। लोरेटो की ननों के साथ परोक्ष रूप से मुक्त 'डाटर्स आफ सेंट ऐन' का भार उन्हें मिला। सेंट मेरी स्कूल की दीवार के बाहर ही मोतीझील बस्ती थी, यहीं मां टेरेसा ने सबसे पहले दरिद्रता से साक्षात्कार किया। उन्हें देखकर उनका दिल रो पड़ा।

दरिद्र माता-पिता की निष्पाप संतानों की दुर्दशा से वे द्रवित हो उठीं और स्कूल के बच्चों को उन्होंने उनकी किसी-न-किसी रूप में सेवा करने की प्रेरणा दी। इससे उन्हें संतोष नहीं हुआ। वे शहर की दीन, दरिद्र बस्तियों के रहने वालों के साथ मिल जाना चाहती थीं। उन्हें प्यार करना चाहती थीं, और आनन्द पहुँचाना चाहती थीं—यीशु को और यीशु के मन को। इसलिये उन्होंने इस्तीफा दे दिया और स्वीकृति मिलते ही उन्हें ऐसा आभास हुआ मानो पिंजरे में बन्द पक्षी को मुक्ति मिल गई हो।

कलकत्ता का जन-जीवन, विशेष रूप से लाखों गरीब बस्ती के रहनेवालों के दुख-दारिद्र्य ने उनके कोमल हृदय पर गहरा प्रभाव डाला। अब पश्चिम बंगाल उनका स्वदेश बन चुका था। उन्होंने भारतीय नागरिकता ग्रहण कर अपने-आपको भारतीय घोषित कर दिया।

भारत की गरीब जनता की सेवा में संलग्न मां टेरेसा पूर्ण रूप से भारतीय बन 'मां' की भूमिका निभाने लगीं। गरीबी, दारिद्र्य व अभाव का जीवन 'मां' ने सहर्ष स्वीकार किया था, जहाँ केवल अनुभूति व आवेग से मंजिल तय नहीं की जा सकती थी, बल्कि चिकित्सा-दवा-दारू की भी आवश्यकता थी, प्यार के साथ-साथ ज्ञान की भी आवश्यकता थी। इसलिये उन्होंने छोटे-छोटे गाँवों में बच्चों को शिक्षा देनी शुरू की। अपने इस कठिन कँटीले मार्ग पर जब वे निकलीं तो उनके पास सिर्फ पाँच रुपये की पूंजी थी, पर इससे वे निरुत्साहित नहीं हुईं। उनके काम धीरे-धीरे बढ़ने लगे, ईश्वर उनकी सहायतार्थ हमेशा उनके द्वार पर खड़े रहते। एक दिन मां ने बरसात में एक आदमी को मरते देख मुमूर्षु लोगों के लिये आश्रय

स्थल बनाने का निश्चय किया। जिसके लिये उन्हें कई मुसीबतों का सामना करना पड़ा, पर वे अपने निश्चय पर अडिग-अटल रहीं। विरोधियों को उन्होंने प्यार से समझाया कि जो कष्ट में पड़े शरणार्थी हैं, उन पर दया कर उन्हें तकलीफ न पहुँचायें, कुछ ही दिनों में मोह छोड़कर इस दुनिया से चले जानेवाले निरीह लोगों को शांति से रहने दें। उनकी यह मृदु, कोमल वाणी लोगों को ईश्वर की प्रतिध्वनि-सी लगी। कुछ दिनों बाद आंदोलनकारी पुजारियों में एक पुजारी को दु:साध्य यक्ष्मा रोग ने आ घेरा। मां ने जिस सेवा व लगन से उसकी सेवा की कि आत्मीय स्वजन भी नहीं कर सकते हैं। उसने मां में साक्षात् काली के दर्शन किये और अपने जीवन को धन्य समझने लगा।

मां ने अनाथ परित्यक्त शिशु बच्चों के लिये 'निर्मला शिशु भवन' का निर्माण किया। यही उनकी सच्ची दुनिया थी, जहां उनको नैसर्गिक आनन्द की प्राप्ति होती। किसी भूखे बच्चे को खिलाकर उन्हें लगता, मानो यीशु को ही खिलाया हो। किसी के पैर, हाथ या देह के घाव साफ करते समय भी उन्हें इसी भाव की प्रतीति होती है। वे हमेशा कहती हैं, यह बातें अनुभव करने की हैं।

हम एक-दो संतानों के पीछे ही परेशान हो जाते हैं, पर विश्व की 'मां' जिसे हर भूखे, नंगे बच्चे की परवाह है; वह किस तरह उनका भरण-पोषण करती होगी? मां को ईश्वर पर पूर्ण विश्वास है। कितनी बार ऐसा मौका आया है, जब शिशु भवन का खजाना—भंडार सब खाली हो जाते, पर उसी समय कोई-न-कोई दाता सशरीर वहाँ आ पहुँचते। इसी आत्मविश्वास, मनोबल ने आज उन्हें इस स्तर पर ला खड़ा किया, जहाँ मानव मानव न होकर ईश्वर से भी ऊँचा उठ जाता है। सम्पूर्ण विश्व की जननी 'मदर टेरेसा' दु:खी, रुग्ण एवं परित्यक्त आदमी की सेवा में अपने को समर्पित करने में दिन-रात संलग्न रहती हैं। इतना ही नहीं, कल की चिन्ता से दूर, अपने कर्तव्यों को दृढ़ता से पूर्ण करती रही हैं, चाहे वह छोटा-से-छोटा काम ही क्यों न हो।

वैसे तो मां टेरेसा भारतीय नागरिक हैं और इनकी सेवा का प्रधान क्षेत्र भारत ही रहा है, पर फिर भी दुनिया के किसी भी कोने से जब आर्त मानवता की पुकार सुनती हैं, तो ये दौड़कर सेवा के लिये पहुँच जाती हैं।

विश्व भर में इन्हें पदक, पुरस्कार, उपाधियों से लाद दिया गया है; पर ये यश से दूर, विनम्र एवं प्रसन्न भाव से एक मन से सेवाकार्यों में लगी हैं।

इस प्रकार विश्वमाता के रूप में इनका व्यक्तित्व स्थापित हो गया है, सेवा के क्षेत्र में इनकी कीर्ति चतुर्दिक् व्याप्त है। □

श्रीकान्ता

□

पाश्चात्य देश की आदर्श माताएँ

जगत् में ईश्वर की शक्ति का प्रतीक नारी है, जिसका पावनतम और मधुरतम नाम मां है। पुत्र कुपुत्र हो सकता है; पर, माता कभी कुमाता नहीं हो सकती। मां का हृदय तो इतना विशाल है कि उसमें पूरा विश्व समाहित हो जाय। संसार के कोने-कोने में ऐसी आदर्श माताओं का वास रहा है कि जिनके आगमन मात्र से धरती पवित्र हो गई, ममता धन्य हो गई और मातृत्व अमर हो गया। संसार के सारे विद्वान् महापुरुष और वीर योद्धा इन्हीं आदर्श माताओं की भेंट हैं, जो उन्होंने विश्व को प्रदान किये हैं। किसी भी राष्ट्र का निर्माण अकेले पुरुष से नहीं हो सकता। राष्ट्र की स्त्रियाँ मातृ रूप से भावी संतति को इस प्रकार शिक्षित करती हैं, जिससे वह स्वतंत्रता, आत्मसम्मान और आत्मगौरव के लिए जी सके और इन्हीं उदात्त आदर्शों के लिए त्याग कर सके। भारतवर्ष में तो आदर्श माताओं की कभी कमी नहीं रही। हिन्दुस्तान तो माताओं का देश है। हिन्दुओं के देवता भी विपत्ति आने पर 'मा' के शरण जाते हैं। पर मां सिर्फ एक देश में नहीं होती, वह तो समस्त विश्व में होती है। संसार के अन्य देशों में भी ऐसी आदर्श माताएँ हुई हैं, जिनके पुत्र-रत्नों ने विश्व के इतिहास को गौरवान्वित किया है।

फ्रांस के राजा नेपोलियन बोनापार्ट की मां भी एक आदर्श मां थी। विश्व

नपोलियन को माने न माने, पर फ्रांसवासी तो उन्हें याद कर आज भी पुलकित हो उठते हैं। वे दिन फ्रांस के लोगों के लिए स्वर्णिम दिन थे। "वीरों के शब्द-कोश में असम्भव जैसा कोई शब्द नहीं" की घोषणा करनेवाले महावीर नेपोलियन का पालन-पोषण माता लटेसिया के कठोर नियंत्रण में हुआ था। नेपोलियन ने खुद लिखा है—मां एक साथ ही कोमल और कठोर थी। सभी संतानें उसके लिए समान थीं। पुत्र-पुत्रियों में वे कोई भेद नहीं करती थीं, कुछ भला-बुरा करके हम उनके पास कभी क्षमा नहीं पाते थे। हमारे ऊपर मां की तीक्ष्ण दृष्टि रहा करती थी। नीचता की वे अत्यन्त अवज्ञा करती थीं। उनका मन उदार, चरित्र उन्नत था। मिथ्या से उन्हें आन्तरिक घृणा थी। औद्धत्य देखकर उनके नेत्र कठोर हो जाते थे। हमारा एक भी दोष उनकी दृष्टि से छिप सके, यह संभव नही था।"

नेपोलियन की मां धैर्य, साहस, सहिष्णुता और तेजस्विता की प्रतिमूर्ति थीं। नेपोलियन का बाल्यकाल बड़े कष्ट से व्यतीत हुआ। उनका परिवार अत्यन्त दरिद्र था। समय ने पल्टा खाया, नेपोलियन फ्रांस के सम्राट् बन गये। विपत्ति के दिन बदले, मां के सम्मान और वैभव का कोई अन्त नहीं था। परन्तु अत्यंत दरिद्रता एवं दुख के बाद इस वैभव को प्राप्त करके भी माता लटेसिया प्रमत्त नहीं हुई। अपने कष्ट के दिनों की बात उन्हें सम्पत्ति के दिनों में भी कभी विस्मृत नही हुई। उन्हें अनेक लोग कृपण बतलाते हैं। अवश्य ही वे संचयशीला नारी थीं। ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए उन्होंने संचय प्रारम्भ किया। नेपोलियन के औद्धत्य एवं अतर्कित विजय में उस दूरदर्शिनी नारी को पुत्र का पराभव स्पष्ट दिखायी पड़ा। पूछने पर उन्होंने कहा था—"दुख के दिन पुनः नहीं आयेंगे, यह कैसे कहा जा सकता है। आज जो (नेपोलियन) सिंहासनासीन है, एक दिन उसके लिए मुझे ही रोटी का प्रबंध करना होगा।"

अपने पुत्रों पर मैडम लटेसिया का समान प्रेम था। एक बार सम्राट् नेपोलियन ने मां से कहा—"आप लूशियन को अत्यधिक प्रेम करती हैं।" माता ने निःसंकोच स्वीकार किया—"मेरी जो संतान सभी बच्चों में अधिक दुर्दशाग्रस्त है, उसी पर सब बालकों से अधिक मेरा अनुराग है।"

नेपोलियन ने लिखा है—"मां का सम्पूर्ण संचय हम बालकों को देने के लिए ही था। उनके हृदय में वही उच्च भाव, जो दीनावस्था में था, सदा प्रतिष्ठित रहा। अर्थ-लोभ उनकी सद्वृत्तियों के दमन में असमर्थ रहा।" माता लटेसिया सच्चे माने में एक आदर्श मां थीं, एक महान नारी थीं। पुत्र नेपोलियन ने भी मां की महिमा को समझा था। वे अच्छी तरह जानते थे कि पुत्र के व्यक्तित्व के विकास में मां का बहुत बड़ा योगदान होता है। इसीलिए तो उन्होंने अपने

देशवासियों से कहा—"मुझे अच्छी माताएँ दो, मैं तुम्हें एक अच्छा राष्ट्र दूंगा।"

× × ×

इंगलैण्ड की महारानी विक्टोरिया की माता 'लुइसा' भी एक आदर्श माता थीं। वे कर्त्तव्यपरायण और अनुशासनप्रिय थीं। उन्हीं के कठोर नियंत्रण में पलकर महारानी विक्टोरिया ने निर्भयता के साथ सत्य के पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा पाई।

बचपन में ही माता ने विक्टोरिया को उत्तम गुण एवं शील सम्पन्न बनाने का पूरा प्रयत्न किया था। राजकुल में विक्टोरिया ही एकमात्र सन्तान थीं, अतः इंगलैण्ड का राजमुकुट उनके सिर को सुशोभित करेगा यह पहले से निश्चित था। माता लुइसा बड़ी सावधानी के साथ हमेशा इसी प्रयत्न में लगी रहती थीं कि उनकी पुत्री में कोई दुर्गुण न आने पावे। हर सप्ताह माता लुइसा बालिका विक्टोरिया को खिलौने वगैरह खरीदने के लिए एक निश्चित रकम देती थीं। इतने बड़े घराने की रानी होने पर भी माता लुइसा को फिज़ूलखर्ची से नफरत थी। वे ज्यादा पैसे देकर बेटी को बिगाड़ना नहीं चाहती थीं। साथ ही उन्होंने विक्टोरिया को उधार या कर्ज न लेने की भी हिदायत दी।

विक्टोरिया के पैसे उनकी शिक्षिका के पास रहते थे। एक दिन दूकान पर विक्टोरिया ने एक छोटा-सा बक्स पसन्द किया। शिक्षिका ने कहा, इस सप्ताह के पैसे तो समाप्त हो गये हैं। दूकानदार ने उधार देना चाहा, पर बालिका के मानस पर मां की शिक्षा अंकित थी। उन्होंने उधार लेने से मना कर दिया। अगले सप्ताह पैसे मिलने पर ही उन्होंने बक्स खरीदा।

एक दिन विक्टोरिया का मन पढ़ने में नहीं लग रहा था। शिक्षिका ने उन्हें दो बार पढ़ने के लिए कहा; पर, बालिका ने दोनों बार इन्कार कर दिया। माता नाराज हो गईं। शिक्षिका ने विक्टोरिया को मां की नाराजगी से बचाना चाहा, उन्होंने कहा—"आप नाराज न हों, राजकुमारी ने एक बार मेरी बात नहीं सुनी है।" किन्तु विक्टोरिया, जिसको माता से सदा सत्य बोलने की प्रेरणा मिली थी, बोल पड़ी—"आपको शायद याद नहीं, मैंने दो बार आपकी आज्ञा की अवहेलना की है।"

मां के कठोर अनुशासन और शिक्षा के फलस्वरूप ही महारानी विक्टोरिया इतनी विख्यात तथा प्रजाप्रिय हो सकीं।

× × ×

आज के साम्यवादी शक्तिसंपन्न राष्ट्र रूस के जनक कामरेड लेनिन की माता उलियानव्ह भी एक आदर्श मां थीं। वे अत्यंत संयमी और दयालु महिला थीं। पुत्रों को विलासी न होने देना उनका विशेष लक्ष्य रहा। संतानों को उच्च शिक्षा देने में वे सदा प्रवृत्त रहीं। व्यय के संबंध में भी वे बहुत सावधान रहती थीं।

पैसे-पैसे का हिसाव रखतीं और पुत्रों से हिसाव लेती थीं। पुत्र दुर्व्यसनों में न पड़ें, इसलिए वे व्यय का हिसाव बड़ी सूक्ष्मता से लेती थीं। लेनिन जव जर्मनी या अन्यत्र कहीं भी गय, गुप्त रहे, तव भी उन्होंने माता को जो पत्र लिखे हैं, उनमें उन्होंने अपने व्यय का राई-रत्ती हिसाव दिया है। यह वात वतलाती है कि लेनिन पर माता का कितना प्रभाव था और उनके कार्यों में माता का कितना समर्थन और प्रोत्साहन था।

लेनिन के ज्येष्ठ भ्राता सम्राट् जार के विरुद्ध षड्यंत्र करने के अपराध में फाँसी पा चुके थे। फिर भी माता ने लेनिन को उसी मार्ग पर वढ़ने दिया। वे अत्यत तेजस्विनी महिला थी। अन्याय से उन्हें आन्तरिक द्वेष था। रूस के उत्पीड़ित वर्ग को देखकर वे रो पड़ती थीं, दीन-दुखियों के कष्टमोचन में यदि प्राण भी देने पड़े, तो झिझकना नहीं चाहिए, यह शिक्षा लेनिन को माता द्वारा शैशव काल में ही मिली थी। असीम वात्सल्य के ऊपर जिसकी पर-दुखकातरता विजयनी हो, उस महामहिम नारी का कौन अभिनन्दन नहीं करेगा! अगर विश्व को माता उलियानव्ह जैसी माताएँ मिल जायँ, तो संसार को दुख हरने के लिए ऋषि-मुनियों की आवश्यकता नहीं होगी। ये आदर्श माताएँ ही विश्व के दुख को अपने आँचल में समेट लेंगी।

× × ×

अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन की मां 'मेरी वाशिगटन' भी एक आदर्श मां थीं। विद्वानों का कथन शायद विल्कुल सच है कि "वच्चे उतने ही ऊँचे उठ सकते हैं, जितनी ऊँची स्थिति में उनकी माताएँ होती हैं।" वच्चे ही राष्ट्र के नेता और उद्धारक होते हैं और उन्हें योग्य वनाने का दायित्व माता पर ही है। जैसी माता वैसी संतान, जैसी भूमि वैसी उपज। जार्ज वाशिंगटन ने खुद ही लिखा है—"पिता की आकृति मात्र मेरे स्मृति-पट पर है। उनका मेरे जीवन पर कोई प्रभाव पड़ा या नहीं—मैं नहीं जानता। मेरी विद्या, वुद्धि, धन, वैभव, पद एवं सम्मान—इन सवकी मूल कारण मेरी आदरणीय जननी हैं।"

"मेरी वाशिंगटन" अत्यन्त स्थितप्रज्ञा महिला थीं। दुख उन्हें विचलित करने में समर्थ नहीं था और वड़े-से-वड़ा सुख उन्हें प्रमत्त वनाने में असमर्थ रहा। वे धीर, स्थिर एवं वुद्धिमती नारी थीं। संतानों के खेल-कूद, पठन-पाठन एवं आहार-निद्रा में एक व्यवस्थित श्रृंखला वे सदा वनाये रखती थीं। प्रत्येक कार्य अपने निश्चित समय पर निश्चित पद्धति में वे शान्त रहकर किया करती थीं। उनके गृह में पूर्ण सुव्यवस्था रहती। कोई उत्सव, कोई पर्व या कोई सम्मान्य अतिथि उनके नियमित जीवन में अव्यवस्था उत्पन्न नहीं कर पाते थे।

जार्ज वाशिंगटन को अपने शैशव में पूर्ण रूप से माता के नियंत्रण में रहना पड़ा था। इसी अनुशासन ने उन्हें इस योग्य वनाया कि वे अमेरिका के सर्वप्रथम राष्ट्रपति (प्रेसिडेण्ट) हुए।

जार्ज वाशिंगटन जव स्वाधीनता-युद्ध में जाते समय माता का आशीर्वाद लेने आये, तो आशीर्वाद के अनन्तर मां ने जो आदेश दिया था, वह वाक्य उनके उदार अन्तर का परिचय देता है। उन्होंने संग्राम में जाते हुए पुत्र को आदेश

दिया—"स्वदेश के इस मुक्ति-संग्राम में तुम विजयी होकर लौटो", और फिर यह भी कहा—"हाथ में विजयिनी तलवार लेकर लौटना और यदि यह संभव न हो, तो तलवार पर चढ़ जाना।" जार्ज वाशिंगटन का विश्वास था कि माता के आशीर्वाद ने ही उन्हें विजयी बनाया है। अमेरिका स्वाधीन हो गया। वाशिंगटन सर्व- प्रथम राष्ट्रपति (प्रेसिडेण्ट) चुने गये।

सारा नगर सजा था। वाशिंगटन मातृ-दर्शन को जा रहे थे, लोग उनके स्वागत को उतावले हो रहे थे, पर मेरी के घर में कोई स्वागत का समारोह नहीं था। वे तो सदा की भाँति अने दैनिपक कार्यों में लगी थीं। उनके किसी काम में एक मिनट का अन्तर नहीं था। उनका नित्य-प्रशान्त मुख ज्यों-का-त्यों था।

जार्ज वाशिंगटन आये, उन्होंने देखा कि माता नित्य कृत्यों को यथावत् करने में लगी है। माता को उन्होंने अभिवादन किया। माता ने पुत्र की ओर देखकर कहा—"विश्व के झाड़-झंखाड़ का भार तुम्हारे ऊपर डाला गया है। अनेक परीक्षाओं में तुम्हें उत्तीर्ण होना है, अब तक तुम सुयोग्य सिद्ध हुए हो तुम्हें देख कर आज पहले तुम्हारे पिता की स्मृति आती है।"

इसे आप स्वागत समझें तो, उपदेश समझें तो और बातचीत समझें तो बस, वह महान नारी बहुत बोलना नहीं जानती थी। इतने ही शब्दों में सब कुशल-मंगल समाप्त हो गया।

माता 'मेरी' तो कर्मयोगिनी थीं। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन अनासक्त भाव से व्यतीत किया। वे एक आदर्श मां ही नहीं, महान् नारी भी थीं। गीता के अध्ययन का सौभाग्य जिन लोगों को मिला है शायद वे लोग भी ऐसा अनासक्त जीवन नहीं जी सकते, जैसा आदर्श जीवन माता 'मेरी' ने जिया था।

विश्व में तो इन माताओं के अलावा और भी अनेक आदर्श माताएँ हुई हैं, उन पर लिखने बैठें तो पोथियाँ भर जायँ, पर लिखना समाप्त नहीं होगा। इन माताओं ने संसार को अनेक पुत्र-रत्न भेंट किये हैं। इतिहासकारों ने इन रत्नों को तो इतिहास में सजा दिया; पर, इन रत्नों को बनानेवाली माताओं को भुला दिया। स्कूल में पढ़नेवाले किसी से पूछिये—नेपोलियन कौन था? उत्तर में नेपोलियन के उत्थान से पतन तक की सम्पूर्ण कहानी सुना देगा। अब पूछिये—मैडम लटेसिया कौन थी? कोई जवाब नहीं मिलेगा। लाल झण्डे पर लेनिन की तस्वीर सजाये जुलूस में जाते किसी कम्युनिस्ट भाई से पूछिये—लेनिन कौन था? आपकी बेवकूफी पर हँसेगा—"इतना भी नहीं जानते।" अब अगर आपको उसकी बेवकूफी पर हँसना है, तो पूछिये—उलियानव्ह कौन थी? सूनी आँखों के सिवा कोई जवाब नहीं मिलेगा। इस अँधेरी दुनिया में मां एक ऐसा दीपक है, जो अपने संतान को रोशन करने के लिए स्वयं को मिटा देती है। पुत्र अगर जिंदगी में सफल हो जाय, तो मां अपना जीवन सार्थक समझती है। पर विडम्बना तो देखिये संसारवासियों को माता के ज्योतिर्मय पुत्र तो नजर आ जाते हैं; पर उन्हें ज्योति देनेवाली मां? परन्तु मां तो मां है, उसे याद रखें या भुला दें, उसके विशाल हृदय से तो हमेशा स्नेह के फूल ही झड़ेंगे। □

इन्दिरा गाँधी—एक नवशक्ति / शोभा कनोई

मिट्टी का घड़ा कुम्हार बनाता है और मनुष्य का तन-मन ईश्वर, नियति या मां बनाती है। जो ईश्वर है वही मां है, जो नियति है वही मां है, मातृदेवो भव। और जो पुत्र या पुत्री मां की इच्छा को पूरी करते हैं, उनका चरित्र निर्माण एक नवशक्ति के रूप में होता है।

सोलह लंबे वर्षों (दो खंडों में) तक भारत की शक्तिशाली प्रधानमंत्री रहनेवाली श्रीमती इन्दिरा गांधी भारत ही नहीं, विश्व के शीर्षस्थ राजनेताओं में भी श्रेष्ठतम रहीं। नव विकसित राष्ट्रों—नवस्वतंत्र राष्ट्रों और स्वतंत्रता के लिये संघर्षरत राष्ट्रों के लिये वे शक्तिशाली प्रेरणा के रूप में एक नवशक्ति के रूप में उभरी।

भारत की संस्कृति मातृ-महिमा की संस्कृति रही है। यह मातृ-महिमा का ही फल था कि इन्दिराजी को उनके प्रबल विरोधी भी 'दुर्गा', 'सिंहवाहिनी' कहकर स्मरण करते थे।

इन्दिराजी को अपने प्रारंभिक जीवन में मां की स्नेह-छाया जितनी गहनता से मिली उतनी और किसी की नहीं। जेल से एक पत्र में नेहरूजी ने बेटी को लिखा—'तुम बहुत भाग्यवान हो कि तुम्हें ऐसी बहादुर और अच्छी मां मिली है। यदि तुम कभी शंका या परेशानी में पड़ो, तो अपनी मां से अच्छी दूसरी दोस्त नहीं पा सकती।' इन्दिराजी के लिये जिनकी इच्छा-पालन सर्वोपरि कर्त्तव्य रहा। पति के रूप में फिरोज गांधी को वरण करने में पिता, बुआ, परिजन—यहाँ तक कि गांधीजी की असहमति होते हुए भी उन्होंने फिरोज को वरण किया, क्योंकि यह कमलाजी की, माता की इच्छा थी। मातृ-इच्छा को समर्पित होने से बढ़कर कोई योग-साधना संसार में दूसरी नहीं हैं।

फिरोज गाँधी इलाहाबाद के ही पारसी युवक थे। राष्ट्रीय आन्दोलनों में उन्होंने पंडित मोतीलाल नेहरू की प्रेरणा से भाग लिया था। वे कमलाजी को मां जैसा आदर करते थे। जब वे लंदन में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, तब सुना कि कमलाजी बीमार होकर इलाज के लिये जर्मनी आयी हुई हैं, तो वे स्कूल से छुट्टी लेकर फौरन कमलाजी की सेवा में उपस्थित हो गये। फिरोज कमलाजी के लिये कुछ भी करने को हर क्षण तत्पर रहते थे। फिरोज गांधी के आ जाने से इन्दिरा को बीमार मां की देखभाल में सहायता मिलने लगी। यही वह क्षण था जहाँ यह अव्यक्त मातृ-इच्छा कि 'फिरोज उनका पुत्र होता'—इन्दिरा गांधी को प्रतिभासित हुई और उन्होंने मां की वह इच्छा पूरी की—पुत्र न सही जामाता ही सही! उनके जीवन में ऐसी एक नहीं अनेक बनती-बिगड़ती स्थितियाँ दृष्टांत स्वरूप हैं।

आज निःसंदेह कहा जा सकता है कि श्रीमती इन्दिरा गांधी के कार्यकाल में भारत देश ने राजनीतिक, सामाजिक, औद्योगिक, प्रतिरक्षा संबंधी और वैज्ञानिक—सभी प्रकार से हरेक क्षेत्र में भारी प्रगति की और देश की प्रतिष्ठा बढ़ी, लेकिन. . . . .

अदृश्य में चल रही दानवलीला की परिणति ३१ अक्टूबर १९८४, को हुई। अपने ही एक देशवासी ने गोलियों की बौछार से इन्दिरा के जीवन का अंत कर दिया।

६७ वर्ष की वृद्धा, स्वास्थ्य और शरीर से कमजोर एक आजीवन एकाकी निःसंग महिला के अंत का क्या यही एकमात्र निर्मम और कायरतापूर्ण रास्ता था?

विश्वमंच पर अपनी अनुपम भूमिका निभाकर, अपना करिश्मा दिखाकर इन्दिराजी शहीद हो गईं। बलिदानी बनकर अमरत्व पा गईं।

भारत आज भी है, बस इन्दिराजी नहीं हैं।

३० जनवरी, १९४८ को महात्मा गांधी की निर्मम हत्या के बाद दूसरी बार ३१ अक्टूबर, १९८४ को इन्दिरा गांधी की हत्या से देश की नींव हिल उठी।

महात्मा गांधी और इन्दिरा गांधी—एक भारत का अनोखा राष्ट्रपिता और एक भारत की अद्वितीय बेटी—दोनों के जीवन का एक-एक क्षण देश की आजादी और देश की प्रगति के लिए काम आया, लेकिन दोनों की एक जैसी हत्या हुई, दोनों को ही गोलियों से मारा गया और दोनों की हत्या अपने ही देशवासियों ने की और दोनों का हत्या-स्थल बना—नई दिल्ली।

हाय! अखण्ड और समर्पित देशसेवा का क्या यही पुरस्कार है?

सचमुच देश की मां बन देशमाता बन चुकी थीं इन्दिराजी।

इन्दिरा को देश के जनमन से कितना प्यार था, इसका इसी से पता लगता है कि हत्या के पूर्व दिन भुवनेश्वर की एक सभा में बड़ी भावुकता से बोल उठी थीं—अगर देश की सेवा करते हुए मेरी जान भी चली जाए, तो मुझे गर्व होगा। मुझे भरोसा है कि मेरे खून की हर बूंद देश के विकास में योगदान देगी और देश को मजबूत और गतिशील बनायेगी।

ये शब्द किसी मां के ही हो सकते हैं।

सचमुच देश की मां—देशमाता बन चुकी थीं इन्दिराजी।

अपने बचपन में इन्दिरा गांधी ने 'जोन आफ आर्क' बनने का सपना देखा था। क्या सचमुच वे 'जोन आफ आर्क' नहीं बन गईं!

मातृ-भक्त विभूतियाँ

मातृ-भक्त श्री कृष्ण की पाँच प्रतिज्ञाएँ / सम्पतकुमार मिश्र

भगवान् राम जैसे पितृभक्त हैं, ठीक वैसे ही मातृभक्त हैं भगवान् श्रीकृष्ण ! किन्तु उनकी मातृभक्ति की इतनी ख्याति नहीं हैं, जितनी की श्री राम की पितृभक्ति की। इसका कारण यह है कि रामकथा के मूलग्रन्थ वाल्मीकि रामायण का हिन्दी-भावानुवाद भक्तवर तुलसीदास द्वारा सुवाच्य एवं संगीतमय दोहा-चौपाइयों में होने के कारण जनमानस ने उसे हृदयंगम कर लिया। किन्तु श्रीकृष्ण के चरित्रग्रन्थ भागवत का सुखसागर और कृष्णायन के रूप में प्रकाशित हिन्दी-भावानुवाद उतना लोकप्रिय न बन सका, जितना कि रामचरितमानस।

भगवान् कृष्ण का अवतार होने पर जब उन्हें यह पता चलता है कि उनकी माता का, मामा कंस ने विदाई के समय, सब के सामने केश खींच कर रथ से उतार कर, दुखद अपमान किया था, तो वे अन्तःव्यथा से व्यथित हुए और उन्होंने उसी समय पाँच प्रतिज्ञाएँ मनोनीत कर लीं, किसी से कहा नहीं। श्रीकृष्ण भगवान् उच्चस्तर के दूरदर्शी भविष्यद्रष्टा, राजनीतिज्ञ थे। मनोनीत कार्य को कहने की अपेक्षा कर दिखाने में उनका नीतिकौशल सर्वोपरि था। वे बोलते थे कम और कर दिखाते थे अधिक।

भगवान् कृष्ण की पाँच प्रतिज्ञाओं का पता माता यशोदा को उस समय चलता है, जब एक दिन शाम के समय गायों को चराकर गोविन्द ग्वाल-वालों के साथ घर लौटे, तो वात्सल्य भाव से माता यशोदा ने उनके दिव्य मंगल विग्रह (शरीर) को देखने लगीं, तो उनके चरणों को कंटकों से विद्ध एवं कंकड़ों से क्षत-विक्षत लहूलुहान देखकर सहसा सहम उठीं। दुख: मिश्रित आश्चर्य एवं अन्तःव्यथा जनित आँसुओं से नेत्र गीले हो गये। आन्तरिक व्यथा से भर्रायी हुई आवाज में बोलती हैं--खबरदार! कल नंगे पाँव जंगल मत जाना।

दूसरे दिन सुबह सदा की भांति जब श्रीकृष्ण नंगे पांव जंगल जाते हैं, तो करुणामयी माता यशोदा श्रीकृष्ण से कहती हैं कि खड़ाऊँ न पहनने का कारण बताओ, खड़ाऊँ पहन कर जाओ। माता के हठ के आगे मातृभक्त श्रीकृष्ण जो गांगेय भीष्म के अतिरिक्त कहीं न झुके थे, नतमस्तक होकर कहते हैं कि मेरी पाँच प्रतिज्ञाएँ हैं, जिन्हें मैं मुख से नहीं, हाथों से कर दिखाने का संकल्प रखता हूँ। किन्तु माता के हठ के आगे झुकना पड़ता है। माता के कान के समीप होकर बोले--माताजी किसी से बताना मत। मेरी मनोनीत पाँच प्रतिज्ञाएँ ये हैं--१--अपनी माता का अपमान करनेवाले कंस को जब तक न मार दूँ, तब तक जंगलों में वृक्षों के नीचे रहूँगा। २--सिले हुए कपड़े न पहनूंगा, ३--महल न बनाऊँगा। ४--मथुरा की भूमि पर कंस को मारे बिना अन्न न खाऊँगा। ५--कंस को मारने के बाद ही खड़ाऊँ पहनूंगा, पहले नहीं। पाँच प्रतिज्ञाएँ सुनकर माता यशोदा ने श्रीकृष्ण से कहा--चार प्रतिज्ञाएँ रखो, किन्तु नंगे पाँव मत रहो। पैरों में कांटे चुभने से मुझे बहुत दु:ख होता है। माता के इस कथन के उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा--माताजी! मुझे पैर में चुभनेवाले कांटे की चिन्ता नहीं है। हृदय में चुभनेवाले कंस रूपी कांटे को उखाड़ फेंकने की चिन्ता है। त्वरा है, माता मौन हो गईं, श्रीकृष्ण नंगे पांव जंगल चले गये। कंस को मारने के बाद ही उन्होंने द्वारका में प्रासाद बनाये, बाद में खड़ाऊँ पहनना शुरू किया। सिले हुए वस्त्र पहने और कंस को मारकर ही मथुरा में अन्न खाया, पहले नहीं।

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि जैसे भगवान् राम पितृभक्त थे, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण मातृभक्त थे।

ये चार मातृभक्त / उमा कनोई

जब हम किन्हीं अमूर्त गुणों का स्मरण करते हैं, तो कोई-न-कोई मूर्त व्यक्तित्व उभरता रहता है। यदि इन अमूर्त गुणों को किसी व्यक्ति का उष्ण स्पर्श न मिले, तो ये गुण आकाशचारी रह जावें, न इनमें प्रेरणा रहे, न ऊर्जा रहे और न इनकी व्यावहारिक उपयोगिता ही रहे। इन गुणों का सदेह अवतरण जब धरती पर होता है, तभी इनमें शक्ति-स्फूर्ति का संचार होता है।

मर्यादा का नाम लेते ही हमारे मानसपटल पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम का गंभीर एवं उदात्त स्वरूप अंकित हो जाता हैं। दानवीरता के साथ हम कर्ण एवं भामाशाह को याद करते हैं। सत्य की दृढ़ता का प्रतीक हैं हरिश्चन्द्र। अहिंसा महावीर एवं गाँधी से जुड़ी है, तो करुणा बुद्ध को पाकर मूर्तिमती है। इसी प्रकार जब हम मातृ-पितृ-भक्ति की गौरव गरिमा हृदयंगम करना चाहते हैं, तो हमें सहसा स्मरण हो आते हैं—आदि पूज्य श्री गणेश, श्रवण कुमार, आद्य शंकराचार्य प्रभृति महान् विभूतियाँ।

जहाँ तक होता है पुत्र सुपुत्र ही बनने का प्रयासी होता है। माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा में लगा रहने का आकांक्षी होता है। श्रवण कुमार की तरह गाँव-गाँव में अनेक सुपुत्र मिलेंगे। श्रवण कुमार की यह करुण-कथा रघुवंशी सम्राट् दशरथ से जुड़ी है, इसलिए वाल्मीकि की रामायण में वर्णित है, अन्यथा यह कथा विस्मृत के गर्भ मे चली जाती। कभी-कभी बाह्य विवशताओं या सामाजिक यंत्रणाओं से पीड़ित व्यक्ति माता-पिता की भक्ति से विमुख-सा जान पड़ता है—पर, उसके मन में भी मानसी पूजा का भाव अवश्य रहता है।

माता-पिता की सेवा करना पुत्र का प्राथमिक एवं न्यूनतम कर्त्तव्य है। यह तो एक प्रकार से ऋण की स्वीकृति है, अनृण होने का प्रयास नहीं है, क्योंकि माता-पिता के अनन्त उपकारों का किसी भी तरह शोधन नही हो सकता, उनके ऋण से अनृण होने का कोई साधन नही, कोई उपाय नही—एकमात्र कृतज्ञता ज्ञापन ही संभव है।

पुत्र शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यह बतलाता है कि पुत्र वह है, जो अपने बाप-दादों को गिरने न दे, अपने सद्व्यवहार एवं सच्चरित्र से चाहे उनके गौरव में वृद्धि न करे; पर उनको गिरने तो किसी भी तरह न दे, तभी पुत्र-नाम सार्थक है—

पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा॥

—मनुस्मृति ९।१३८

पुत्र का एक पर्यायवाची शब्द है—नन्दन; जैसे यशोदानन्दन, दशरथनन्दन।

नन्दन यानी आनन्दित करनेवाला पुत्र तभी पुत्र है, जब वह अपने सच्चरित्र से, अपने कार्यकलापों से माता-पिता को आनन्दित करे। माता-पिता हमेशा यही चाहते हैं कि वे अपने पुत्रों से जीवन के सभी क्षेत्रों में पराजित हों और सभी लोग उनके पुत्रों की प्रशंसा करें, तभी माता-पिता को सच्चा आनन्द मिलता है। पुत्र का एक पर्यायवाची शब्द है अपत्य यानी जो किसी भी कीमत पर अपने पूर्वजों को पतित न होने दे, उनके गौरव को अक्षुण्ण रखे। "न पतन्ति पितरो ऽननेन—अपत्यम्।" और यथाशक्य उनके गौरव में श्रीवृद्धि करे।

श्री गणेश के आदि पूज्य होने का रहस्य

हमारे पंचदेवोपासना में श्री गणेश का सर्वोपरि महत्व है। हमारे देश के सभी शुभ मंगल कार्यों में प्रथम-प्रथम श्री गणेश का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया जाता है। प्रारंभ का पर्याय बन गया है—श्री गणेश करना। ये विघ्न विनाशक हैं, ऋद्धि-सिद्धि एवं शुभ-लाभ के देनेवाले हैं। गणेशजी के आदि पूज्य बनने की मधुर कथा है, माता-पिता की महिमा अनूठे ढंग से व्यंजित है।

एक बार देवताओं में विवाद उठ खड़ा हुआ कि सबसे पहले पूजा किसकी हो? सभी देवताओं ने अपने-अपने नाम पेश किये। अन्त में प्रजापति ने यह निर्णय दिया कि जो सबसे पहले सारी पृथ्वी की परिक्रमा कर आएगा, वही प्रथम वन्दनीय होगा। देवता अपने-अपने द्रुतगामी वाहनों पर आरूढ़ हो दौड़ पड़े—पृथ्वी परिक्रमा के लिए। पर तुन्दिल शरीर गणेशजी के सामने समस्या थी—उस दौड़ में मूसक को वाहन बनाकर प्रतियोगी के रूप में शामिल होने का कोई प्रश्न ही नहीं था। बुद्धि-सागर गणेशजी को एक उपाय सूझा। उन्होंने माता पार्वती एवं पिता शिवजी की सात बार परिक्रमा की और प्रजापति के पास आ बैठे। जब देवता अपने विजय की उद्घोषणा करने आये, तो गणेशजी ने अपने प्रथम विजयी होने के रूप में कहकर सबको आश्चर्य में डाल दिया। गणेशजी ने प्रजापति से कहा कि माता-पिता सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से भी बड़े होते हैं। मैंने अपने माता-पिता शिव-पार्वती की सात परिक्रमा की है। इस प्रकार एक नहीं, सात परिक्रमा मैंने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की लगाई है। श्री गणेशजी की इस बुद्धिमत्ता एवं युक्ति-युक्त बात का ब्रह्माजी ने समर्थन किया और उनको आदि पूज्य घोषित किया।

इस कथा से यह एक ही रहस्य उजागर किया गया है कि माता-पिता का स्थान सर्वोपरि है और माता-पिता के प्रति आदर-श्रद्धा रखनेवाला सर्वजन वन्दनीय है। गणेशजी की एक कथा में यह भी आता है कि माता पार्वती के परम भक्त एवं सुदृढ़ आज्ञाकारी पुत्र रहे हैं। पार्वती ने जब उनको प्रहरी बनाकर

खड़ा कर दिया, तो उन्होंने किसी को भी अन्दर प्रवेश नहीं करने दिया—यहाँ तक कि अपने पिता शिव से भी भिड़ गये। इसका यही अर्थ है कि माता की आज्ञा सर्वोपरि है और उसका पालन करनेवाला इस एक गुण के कारण भी यशस्वी हो जाता है।

आदर्श भक्त श्रवण कुमार

जब भी हमारे सामने कोई माता-पिता का भक्त व्यक्ति दिखाई पड़ता है, तब हम उस समय एकमात्र श्रवण कुमार का स्मरण करते हैं और हम सहसा कह उठते हैं—"यह तो श्रवण कुमार है।"

श्रवण कुमार शब्द जन-जन की वाणी पर है—ऐसा क्यों? श्रवण कुमार न विद्वान् है, न वेद पारंगत है, न उसने समाज की या राष्ट्र की सेवा की है और न उसमें कोई ऐसा गुण है, जिसके लिए वह याद किया जाय। वह एक साधारण वैश्य कुमार है—उसके माता-पिता अन्धे हैं—श्रवण कुमार अपने माता-पिता की सेवा में रात-दिन लगा है। वह अपने अन्धे पिता को काँवर में बैठाकर—उन्हें अपने कंधों पर लादकर—पदचारी हो—तीर्थ-यात्रा कराने ले जाता है। टेढ़े-कँटीले-पथरीले-बीहड़ पथ पर वह श्रवण कुमार भारत के कोने-कोने में उन्हें वहन करता है, उनके लिए कन्दमूल फल की व्यवस्था करता है और इसी तीर्थ-यात्रा में एक दिन सरयू के तट पर अन्धकार में युवराज दशरथ के शब्दभेदी बाण से अपनी तुम्बी को पानी से भरते समय—किसी वन्य गज की नाद के भ्रम से अनजाने में भूल से विद्ध हो जाता है। शर-विद्ध श्रवण को अपने मरने का दुःख इतना नहीं है, जितना कि वह अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा न कर सकेगा, इसका दुःख है।

श्रवण कुमार ने माता-पिता की भक्ति का एक कीर्तिमान कायम किया है, जो हमारे लिए प्रेरणा-स्रोत है।

आद्य शंकराचार्य की मातृ-भक्ति

भगवान् आद्य शंकराचार्य साक्षात् शिव के अवतार माने गये हैं, उन्होंने भारत के चारों कोनों में चार पीठों की स्थापना कर हमारी सांस्कृतिक एकता को शाश्वत अक्षुण्णता प्रदान की है। उनका जीवन ज्ञान, भक्ति एवं कर्म का त्रिवेणी-संगम है। सर्वतोगामिनी मेधा सम्पन्न आचार्य शंकर के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है—संन्यास के लिए माता की आज्ञा प्राप्त करने के लिए धैर्य का परिचय और सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है माँ की अन्तिम इच्छा के रूप में—संन्यास-धर्म की अवहेलना करते हुए—मुमूर्षु माँ के पास होना और और अपने हाथों से और्ध्व देहिक संस्कार करना।

दृश्य आँखों के सामने जीवन्त खड़ा हो जाता है। विश्व का सर्वश्रेष्ठ मेधावी प्रज्ञा पुरुष—अपने सम्पूर्ण पाण्डित्य एवं संन्यास-धर्म को भूलकर—श्रद्धास्पद मां के पास श्रद्धालु विनम्र पुत्र बनकर ख ा है—माता के शव के पास समाज का कोई भी व्यक्ति—संन्यास के इस अपकर्म के बहिष्कार रूप—दण्ड-स्वरूप—पास तक फटका नहीं है। सर्वश्रेष्ठ संन्यास—मातृत्व के चरणों में—विरोधों की धर्म की परवाह न करता हुआ—अपनी मातृभक्ति के सम्मुख सब तुच्छ बनाता हुआ अभय मुद्रा में खड़ा है। मातृभक्ति का यह उज्ज्वल उदाहरण भगवान् शंकराचार्य ने विश्व के सम्मुख उपस्थित कर मां की अमर महिमा को शीर्षस्थ बना दिया।

मातृ-भक्त आशुतोष मुखर्जी

मातृभक्तों की इस श्रेष्ठ परम्परा में आधुनिक युग में श्री आशुतोष मुखर्जी को भी श्रद्धा से स्मरण किया जाता है। श्री आशुतोष मुखर्जी कलकत्ता हाई कोर्ट के जज और कलकत्ता विश्वविद्यालय के उप-कुलपति थे। उनके मित्र उन्हें विलायत जाने की सलाह देते थे और व्यक्तिगत उनकी भी इच्छा थी। किन्तु उनकी माता समुद्र-यात्रा के लिए राजी न थी।

लार्ड कर्जन भारत के गवर्नर जनरल होकर भारत आये। उन्होंने एक दिन इनको विलायत जाने की सम्मति दी। श्री आशुतोष मुखर्जी ने कहा—"मेरी माता की इच्छा नहीं है।" लार्ड कर्जन ने तनिक सत्ता के स्वर में कहा—"जाकर अपनी माता से कहिये कि भारत के गवर्नर जनरल आपको विलायत जाने की आज्ञा देते हैं।"

श्री मुखर्जी जैसे मातृभक्त स्वाभिमानी का उत्तर था—"यदि ऐसी बात है तो मैं माननीय गवर्नर जनरल से कहूँगा—आशुतोष मुखर्जी अपनी माता की आज्ञा भंग करके दूसरे किसी की आज्ञा का पालन नहीं कर सकेगा; फिर भले वह भारत का गवर्नर जनरल हो या उससे भी बड़ा कोई अधिकारी हो।"

ये पौराणिक या ऐतहासिक दृष्टान्त माता-पिता की भक्ति के एकमात्र सर्वश्रेष्ठ सद्गुण हैं। किसी में और कोई गुण न भी हो, तो भी इसके बल पर यशस्वी एवं अमर हो सकता है। साथ ही यह भी ध्वनि है—माता-पिता की सेवा सर्वोपरि है, उसके सामने अन्य कर्त्तव्य तुच्छ एवं अवहेलनीय हैं।

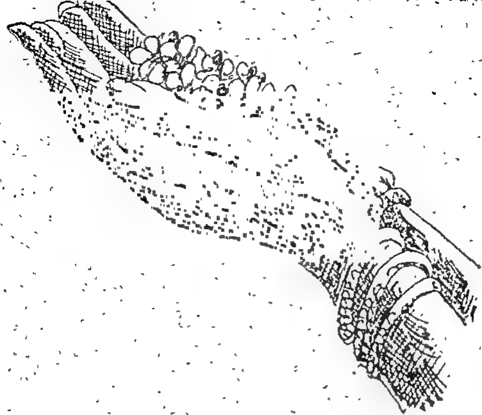
भक्त पुण्डरीक का उदाहरण भी यहाँ स्मरणीय है। वह माता-पिता की सेवा में लगा है। इतने में साक्षात् भगवान् द्वारकाधीश दर्शन देने आये हैं। पुण्डरीक—भगवान् के लिए—खड़े होने के लिए सादर एक ईंट रख देते हैं यानी वे कह रहे हैं—"भगवन्! मैं माता-पिता की सेवा में लगा हूँ। जब तक सेवा

समाप्त न हो तब तक आप प्रतीक्षा करें।" ईंट पर खड़ा होने के कारण कहते हैं––द्वारकाधीश विट्ठल––विट-ईंट पर खड़े होनेवाले के रूप में विख्यात हो गये। यह कथा यह बतलाती है कि माता-पिता की सेवा प्रभु-सेवा से भी बढ़कर है।

भगवान् राम मां की आज्ञा से चौदह वर्ष वनवास में जाते हैं। महाराज शिवाजी के लिए मां जीजाबाई की आज्ञा भगवान् की आज्ञा थी।

संसार का इतिहास ऐसे मातृ-पितृ-भक्तों के उदाहरणों से भरा है। आज भी आप कहीं भी जाइये––इतिहास एवं प्रसिद्धि से दूर––कोई-न-कोई श्रवण कुमार मिल ही जायेगा। माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा करना पुत्र एवं पुत्री का साधारण कर्तव्य, प्रथम कर्तव्य, अंतिम कर्तव्य है। □

तू विधिवधू रमा तू उमा महामाया।
मूलप्रकृति विद्या तू, तू जननी जाया॥



जगदम्ब विचित्रमत्र किं
परिपूर्णा करुणास्ति चेन्मयि।
अपराधपरम्परापरं
न हि माता समुपेक्षते सुतम्॥

मातृ-भक्ति

धन्य हम हुए / श्रीकान्ता

सुमन मुरझा गये,
सुरभि बच रही।
कवि चल बसे,
कविता रह गई।
मां चली गई,
ममता रह गई।
कान्ति ऐसी फैली,
पवित्र हम हुए।
ममत्व ऐसा मिला,
कृतार्थ हम हुए।
मां जो ऐसी मिली,
धन्य हम हुए।
धन्य हम हुए।
सत्य मिल गया,
उन्हें ब्रह्म मिल गया।
ब्रह्माण्ड मिल गया,
उन्हें ॐकार मिल गया।
शाश्वत वे हुईं,
अमर वे हुईं,
जीवित हम हुए।
मां जो ऐसी मिली,
धन्य हम हुए।
धन्य हम हुए। □

मृण्मय दीप की एक छोटी-सी उजली कहानी

अश्रु-आविल नेत्रों एवं काँपते हाथों से जैसे ही मां के लिए सँजोये गये दीपक के ऊपर का मिट्टी का ढक्कन उठाया गया "मिट्टी के वर्तन पर ओंकार की स्पष्ट आकृति।" विषाद भरा वातावरण कुतूहल से, विस्मय से भर गया। कुल पुरोहित सहसा बोल उठे—"मां विभूति थीं, ज्योति में मिल गयीं।" सातों बच्चे शोक-विह्वल थे, स्तब्ध थे, वातावरण में सहसा उल्लास की एक लहर दौड़ गयी। सारे परिवार ने अनुभव किया—उन्हें मुक्ति मिल गयी, वे ब्रह्ममय हो गयीं।

भारतीय परिवार के एक छोटे-से दीपक की यह एक छोटी-सी कहानी है। यह कहानी सूरज की नहीं है, चाँद की नहीं है, नक्षत्र की नहीं है—एक छोटे से स्नेह भरे दीपक की है। ऐसे दीपक की—जिसने जलन का स्वयं अनुभव किया—पर, दूसरों को उजाला दिया, जिसका स्नेह प्रकाश बनकर वरसता रहा, जो आँधियों की चुनौतियों को झेलता हुआ निष्कम्प रहा और अपनी मध्य यात्रा के बीच आश्वस्त भाव से प्रकाशवृत्त फैलाता हुआ निर्वापित हो गया।

घर में सूरज था, तब यह दीपक मौन था। सूरज के असमय अस्त होते ही—अंधेरे में दीप की स्नेह वर्तिका जली—तिलतिल जली—प्यार का प्रकाश फैला—पथ मिला, पाथेय मिला—स्नेहांचल की छाया मिली और जब देखा कि अब प्रभात की वेला निकट है—प्रकाश का सागर प्रतीक्षा में है—यह साँझ का दूत प्रभाती तक चलकर अनन्त में विलीन हो गया। ऐसा ही लगा जैसे एकाकी मंदिर का एक दीप—

> **यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो!**
> **झंझा है, दिग्भ्रान्त रात की मूर्छा गहरी,**
> **आज पुजारी बने, ज्योति का यह लघु प्रहरी,**
> **जब तक लौटे दिन की हलचल,**
> **तब तक यह जागेगा प्रतिपल,**
> **रेखाओं में भर आभा-जल**
> **दूत सांझ का इसे प्रभाती तक चलने दो!**

कहाँ राजस्थान और कहाँ सुदूर पूर्व असम प्रदेश—और वह भी डेढ़-दो सौ वर्ष पूर्व का समय—यातायात की अनन्त कठिनाइयाँ, बीहड़ कँटीले पथ, कभी ऊँट, कभी पैदल, बीच में नदी-नाले,—फिर भी अनेक मारवाड़ी परिवार व्यवसाय की तलाश में मारवाड़ से दूर-दूर देश के कोने-कोने में पहुँचते रहे। श्रम, व्यवसाय, प्रतिभा, ईमानदारी और अर्थ-शुचिता की पूंजी से इन लोगों ने भारत



मातुश्री पन्नादेवी



८-१२-५८

मेरे प्यारे बच्चो

प्यार तुम्हारा पत्र समाचार मिला है। तुम सब मजे में होओगे।

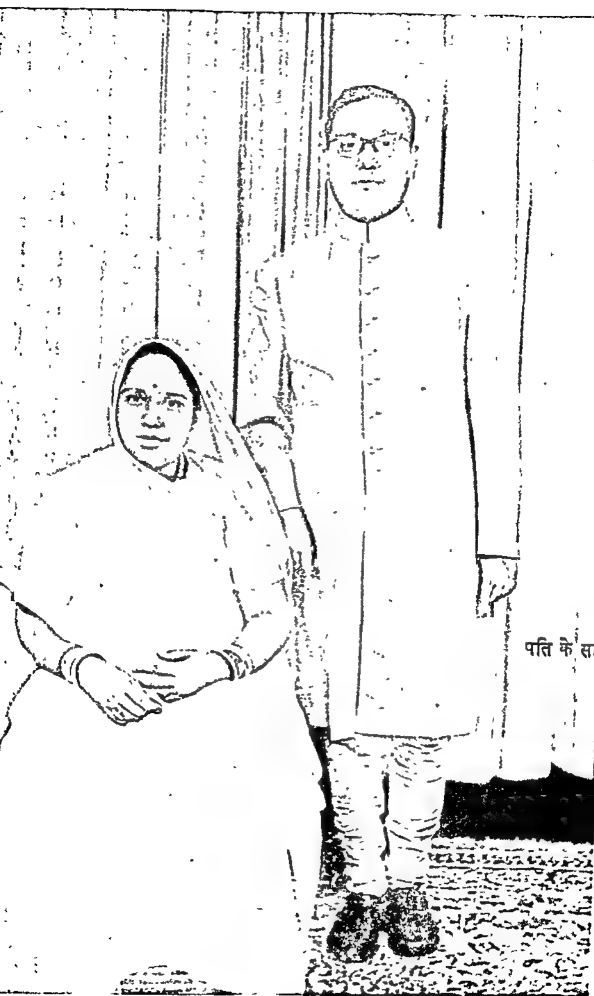
तुम्हारे बाबुजी ने तुम लोगों को प्यार लिख दिये है।

तुम लोगों की पढ़ाई अच्छी तरह चल रही होगी पढ़ाई का ध्यान रखना। आपस में खूब मील कर खेलना

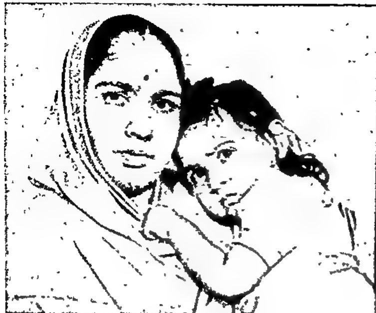
दादाजी और बुआ का कहना मानना मुरली प्रसन्न है।

तुम लोगों को एक साथ पत्र दे रही हूं। कल अलग अलग दूंगी सेस कुशल पत्र देना

तुम्हारी
माँ



पति के स



८-१२-५८

मेरे प्यारे बच्चो

प्यार तुम्हारा पत्र बराबर मीलता है। तुम सब मजे मे होवोगे।

तुम्हारे बाबुजी ने तुम लोगोंको प्यार लीख दीये है।

तुम लोगो का पढाई अच्छा तरह चल रही होगी पढाई का ध्यान रखना। आपसमें खुब मील कर खेलना

दादाजी और बुआ का कहना मानना मुरली प्रसन्न है।

तुम लोगो को एक साथ पत्र दे रही हुं। कल अलग अलग दुगी सैस कुशल पत्र देना

तुम्हारी
माँ


पति के सा



ममतामयी माँ

के नवीन औद्योगिक युग का सूत्रपात किया। 'किं दूरं व्यवसायिनाम्' सूक्ति की चरितार्थता।

आज से करीब ५४ वर्ष पूर्व आसाम में बसे जाने-माने परिवार श्री स्यालीराम जी हंसारिया के यहाँ एक बालिका ने जन्म लिया। इस बालिका का नाम पन्ना रखा गया। इस परिवार में एक पुत्र एवं पुत्री के बाद आनेवाली यह तीसरी सन्तान थी। यह परिवार सुखी, सम्पन्न एवं धर्मानुरागी था---बालिका के आगमन को ईश्वरीय अनुकम्पा के रूप में ग्रहण किया। सब को लगा---जैसे महालक्ष्मी का आगमन हुआ है। माता-पिता ने प्रफुल्लता का अनुभव किया। शिशु को जो भी देखता, वह उसकी मोहक सुन्दरता से मुग्ध हो जाता। बालिका का लालन-पालन बहुत लाड़-प्यार से हुआ। पिता का स्नेह तो इस बालिका पर बरसता ही रहा। दोनों बड़े भाई-बहन भी इस बालिका से बहुत प्रेम करते थे। निःसन्देह इस बालिका को अपने परिवार से---सभी परिचितों से---प्रगाढ़ प्रेम मिला---जिसकी परितृप्ति की छाप उसके भावी जीवन पर लक्षित की जा सकती है।

वह युग लड़कियों की शिक्षा के पक्ष में कम था। प्रायः लोग स्त्री-शिक्षा के विरोधी थे। फिर भी अग्रवाल परिवारों में नया जागरण था, समाज-सुधार की भावना थी और देश में होनेवाले नये विचारों के प्रति एक आकर्षण था। अपनी धार्मिकता को रखते हुए, परम्परा से प्यार करते हुए---जड़-रूढ़ियों के विरुद्ध मनोभावना का यह प्रमाण है कि बालिका पन्ना पढ़ने के लिए स्कूल में भेजी गई। यद्यपि ज्यादा पढने का सुअवसर यह बालिका प्राप्त न कर सकी; फिर भी स्कूल में भर्ती होना---लगता है जैसे नवीन युग द्वार खटखटा रहा है।

बालिका को घर में अत्यधिक प्रेम मिला, सबसे मिला और सबसे अधिक मिला। वह जो भी चाहती, उसकी मनोकामना की पूर्ति की जाती। इस अधिक लाड़-प्यार से बच्चे के जिद्दी होने का, आत्मकेन्द्रित होने का खतरा है, लेकिन घर में जो पूजापाठ, कीर्तन, भजन का वातावरण था---इससे बालिका के मन में धर्म के प्रति, कर्त्तव्य के प्रति एक मौन अनुराग गहराता रहा---जिसके कारण व्यक्तित्व के निर्माण में एक संयत संतुलन पैदा हो गया। बालिका को भगवान् से एक अमूल्य वरदान मिला था---वाणी की मधुरता। उसका हँसमुख चेहरा, मीठी मधुर बातें और वह भी मोहक स्वर में---इस कारण सभी बालिका को प्यार करते थे। वह नटखट थी, शरारती नहीं थी; प्यार में पली थी, पर कर्त्तव्य समझती थी। घर के वातावरण में मिश्री-सा मिठास था, संयत प्रेम था, धार्मिक उदार दृष्टिकोण था---इन्हीं संस्कारों में बालिका का

पोषण हुआ। भाई-भाभी, बहन-जीजाजी की लाड़ली यह बालिका मां-बाप के आँखों का तारा थी।

बालिका बड़ी होने लगी और उस समय की प्रथा के अनुसार होने लगी—सगाई-शादी की चर्चा। इस हंसारिया परिवार का आसाम में बहुत समय से निवास करनेवाले कनोई परिवार में आना-जाना था—दोनों परिवार एक दूसरे से परिचित थे। श्री ख्यालीरामजी अपनी लाडली, सुन्दर और मधुर-भाषी लड़की के लिये शिक्षित, होनहार वर की तलाश में थे। सौभाग्य से उन्हें ढूंढना नहीं पड़ा और उन्होंने कनोई परिवार में प्रथम-प्रथम शिक्षा-क्षेत्र में आगे बढ़नेवाले होनहार उदीयमान युवक लालचंद से अपनी लड़की की सगाई की और १३ वर्ष की वय में पन्ना का विवाह धूमधाम से श्री सूरजमलजी के सुपुत्र लालचंदजी से हो गया। लड़का सुप्रसिद्ध कालेज प्रेसिडेन्सी में बी० ए० पढ़ रहा था। स्मरण रहे—उस समय बी० ए० में पढ़नेवाले लड़कों की संख्या कम, मारवाड़ियों में और भी कम—यह तो संयोग समझिए कि विधाता ने एक-दूसरे के उपयुक्त इस युगल को मिलाकर—भावी विकास की भूमिका का निर्माण किया।

नव वधू के रूप में उसने भरे-पूरे संयुक्त कनोई परिवार में प्रवेश किया। वहाँ सास की छत्रछाया नहीं थी—आठ-आठ देवरानियों-जेठानियों के बीच रहना, सब कुछ नया था—नया वातावरण—नया परिवेश और साथ ही अपने पीहर के वैभवपूर्ण स्वरूप के स्थान पर एक सादगीपूर्ण श्रमनिष्ठ जीवन। पर यह नव वधू अपने माता-पिता से एक सीख गाँठ बाँधकर लाई थी। किसी से कुछ न चाहना, नये साँचे में जल की तरह ढल जाना, अपने मधुर सौम्य व्यवहार को बनाये रखना, मर्यादा में रहना, विनम्रता से स्वाभिमान की रक्षा और सेवा-समर्पण का भाव—इन्हीं से भारतीय परिवार दृढ़ रहते आये हैं और अनेक आघातों से भी टूटे-बिखरे नहीं। यह नव वधू इन्हीं को समेटे अपनी ससुराल में आई थी—इन्हीं गुणों की सुरभि से सुरभित है—इनका भावी जीवन।

इनके पति एक कर्त्तव्यनिष्ठ युवक थे—जिनसे इनको जितना प्रेम मिला, उतना ही कर्त्तव्य का पाठ भी। अपनी प्यारी पत्नी को यही कहते-समझाते—देखो, विवाह के बाद लड़की को अपने पिता से कुछ भी अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए—अपने घर में जो कुछ हो—उसी में सन्तोष, उसी में खुशी। इनके पति श्री लालचंदजी को गीता कंठस्थ थी, इतना ही नहीं गीता के अनुसार कर्ममय जीवन बने—इसके ये साधक भी थे। गीता के अनुसार कर्ममय-जीवन—यही इस युवक का आदर्श था और अपनी पत्नी को भी इसी का रहस्य समझाते। कोम-

लांगी पत्नी कोमल थी—शरीर से भी और मन से भी। उसने पति के ऊपर अपना सब तन-मन न्योछावर कर दिया। भारतीय नारी का मूल अनुभाव की मानो वह प्रतिमा थी—वह चाहे कह न सकी हो, श्रद्धा के ये स्वर मौन भाव में अवश्य रहे हैं—

समर्पण लो सेवा का सार
दया, माया, ममता लो आज
मधुरिमा लो अगाध विश्वास
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इस पदतल में विगत विकार

पति की आज्ञा—प्रभु की आज्ञा—उनके वचन अपने लिए वज्र-रेखा। पति को बहुत जल्द ही कलकत्ता पढ़ने के लिए वापस जाना पड़ा। ये अपने पिता तुल्य ससुर और जेठानी जेठ के साथ आसाम में ही रहीं। जेठानियों को इन्होंने हमेशा सास का मान-सम्मान दिया और इन्होंने भी इनको बहुत लाड़-प्यार से रखा। कलकत्ता जाकर भी इनके पति पत्रों के माध्यम से पत्नी से सम्पर्क बनाये रखते—पत्रों में भी वही कर्त्तव्यमय उपदेश—गीता के भावों का प्रकाशन—जीवन में रोशनी भरने की आतुरता। बीच-बीच में वे आसाम आते और कुछ दिन रहकर लौट जाते।

शादी के दो वर्ष पश्चात् इन्होंने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया, जिसका जन्म अपने ननिहाल में हुआ। जन्म का शुभ संवाद सुनते ही थाल की आवाज से घर-आँगन—सारा वातावरण गूँज उठा। उमड़ती बधाइयों के बीच आनन्द की लहरें। शिशु कमजोर था—लालन-पालन में सावधानी एवं असीम अगाध प्यार को पाकर शिशु बढ़ने लगा। शिशु का नाम रखा गया—आस्तिक भावना-नुकूल—मुरलीधर।

इसी बीच ससुराल में सब के मन को इन्होंने मोह लिया। ससुराल में हाथ से कार्य करने का बाहुल्य था—जिसने बचपन में पीहर में हाथ से गिलास भर पानी न पिया हो—वह बहुत जल्दी खुशी-खुशी घर के सभी कार्यों को चाव से करना सीख गई—यह नयी परिस्थिति में अपने को ढालने का पुष्ट प्रमाण है।

सहज-स्वाभाविक रूप से इस परिणति के कारण इनके मन में न दुविधा थी, न चेहरे पर शिकन और न वाणी में खीझ।

जल्दी-जल्दी घर-गृहस्थी के कार्यों में ये निष्णात हो गईं। कमरे को स्वच्छ रखना, सजाना; घर के सभी कार्यों में हाथ बँटाना—खाना बनाना, चाय बनाना;

पति के सब कार्यों का, उनकी सुविधा का ध्यान रखना, बच्चे की पूरी सारसंभार रखना और भरे-पूरे परिवार के प्रति अपने दायित्वों एवं कर्त्तव्यों का निर्वाह करना—गार्हस्थ्य-धर्म में ये निपुण होती गयी और एक आदर्श गृहिणी के रूप मे अपने को निखारती गयीं—सहनशीलता, अपने बारे में मौन साधे रहना, यदि कभी असुविधा या पीड़ा हो, तो उसे ओठ तक न आने देना—पति के सामने शिकायतों के या फरमाइशों के पन्ने न खोलना—इनके सहज-स्वाभाविक गुण थे। अत्यंत सहिष्णु एवं संतोषी स्वभाव के कारण इनमें माँगने की प्रवृत्ति न थी—पति से भी नहीं। जितना इनके पति स्वयं स्वेच्छया ला देते, उसी से सन्तुष्ट! सेवाभाव इनमें बहुत था। अपनी इकलौती ननद की अस्वस्थता के समय इन्होंने उनकी सेवा-शुश्रूषा पूरी तन्मयता से की, जो सर्वथा श्लाघनीय है।

पति के बड़े भाई जो कुछ भोले स्वभाव के थे, उन पर इनका अत्यधिक आदर का, साथ ही स्नेह का भाव था। थे तो वे जेठ, पर इन्होंने उनको हमेशा पुत्र-वत् ही समझा—उनकी सब जरूरतों का पूरा-पूरा ध्यान रखा।

दो वर्ष बाद इनके दूसरे पुत्र का जन्म हुआ। खूब खुशियाँ मनाई गई। पर, यह शिशु कुछ दिनों बाद अस्वस्थ रहने लगा, इलाज चल रहा था, इसी बीच इनके तीसरे पुत्र का आगमन हुआ। नव शिशु का जन्मोत्सव उत्साह एवं उल्लास के वातावरण में मनाया गया, धार्मिक विधि से नाम-संस्कार हुआ—नाम रखा गया—ओम प्रकाश। दूसरे बेटे का स्वास्थ्य सुधार पर नहीं था। इलाज के लिए इस दम्पति को कलकत्ता आना पड़ा। कलकत्ता में काफी दौड़-धूप की, दिन-रात मेहनत कर इलाज करवाया, अच्छी-से-अच्छी व्ययसाध्य चिकित्सा का प्रबन्ध किया गया, पर वह बालक बच न सका। दम्पति शोकाकुल हो गये। ये बहुत अधीर थीं, व्याकुल थी। पतिदेव ने अपने विवेक से अपनी व्यथा को पीकर गीता का सहारा लिया और अपनी अधीरा पत्नी को गीता के भावार्थ को समझाना शुरू किया—'आत्मा अमर है, नित्य है, इसका कुछ बिगड़ता नहीं। अतः शोक मत करो।' धीरे-धीरे इन्होंने अपने को सम्भाला। अपने बच्चों को सम्भालती हुई घर-गृहस्थी के कामों में जुट गयी। नये परिवेश में अब वधू से आगे बढ़कर पत्नी एवं मां के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करने का शुभारंभ किया।

अब ये कलकत्ता में चित्तरंजन एवेन्यू में एक मकान में कई कमरे लेकर रहने लगे। इनके मिष्ठ एवं शिष्ट व्यवहार के कारण, यहाँ भी मकान के अन्य लोगों से इनके बड़े अच्छे संबंध हो गये। सभी के दुःख को ये अपना दुःख समझतीं,



माँ का लाला



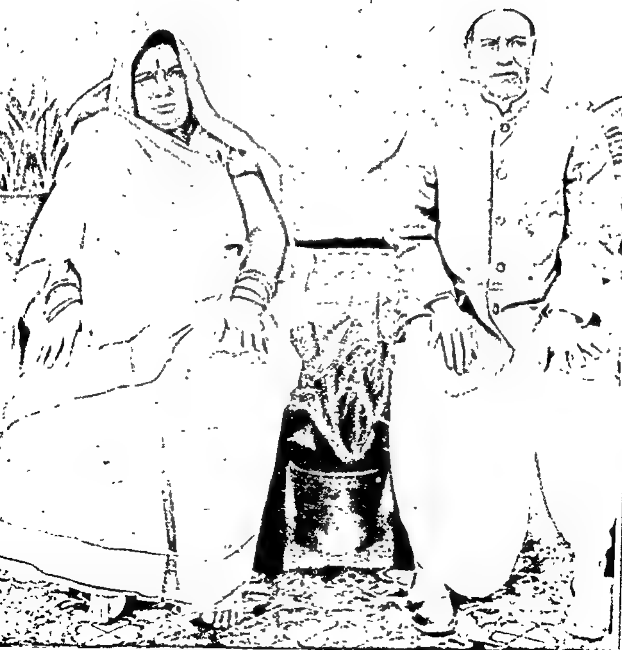
माँ के इष्ट—राधा गोविन्द



माँ के प्रभुजी



गुरुजी सुबोल दा



माँ के जनक-जननी



आदरणीय श्वसुरजी, सूरजमलजी, के साथ समस्त परिवार

सभी का काम आगे वढ़ कर करतीं, साथ ही मुख पर वही विनम्र मृदु मुस्कान —वही स्नेहिल आत्मीयता का भाव।

इनके पति श्री लालचंदजी कनोई परिवार के प्रथम सदस्य थे, जो आसाम को छोड़कर कलकत्ता महानगर में आ बसे थे। कलकत्ता महानगर एवं आसाम का कनोई परिवार—इन दोनों के वीच इन्होंने प्रथम-प्रथम सेतु वाँधा था—जिससे प्रगति के चरण दूर-दूर तक विस्तृत हो रहे हैं। श्री लालचंदजी अध्यवसायी थे, व्यवसाय में कुशल थे, व्यवस्थापक थे और उद्योग के नये-नये क्षितिजों के पारखी थे—इनका थोड़े ही दिनों मे चतुर्दिक यश फैलने लगा। कनोई परिवार के अव अच्छी तरह समझ में आने लगा कि आगे वढ़ने के लिये शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है—अतः इन्होंने अच्छी शिक्षा दिलाने हेतु कनोई परिवार के वालकों को, युवकों को कलकत्ता बुला लिया। इनकी प्रेरणा से कनोई परिवार के हर सदस्य ने शिक्षा के महत्व को समझा। इनके पति ने जो भी महत्वपूर्ण कार्य किये, इनमें इनकी सहधर्मिणी का पूर्ण सहयोग था—सक्रिय सहयोग। वच्चों की शिक्षा के संवंध में, उनके रहन-सहन एवं सुख-सुविधा के संवंध में, उनके आचार-विचार-व्यवहार के सम्वन्ध में ये निरन्तर जागरूक थी। व्यवसाय के सिलसिले में लालचंदजी विदेश तक गये। चाय-उद्योग को उन्नति के शिखर तक पहुँचाने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। पर, इसके पीछे नेपथ्य में यह सद्नारी थी—जिसने कनोई परिवार के सभी वच्चों को अपने से भी सवाया रखा, सभी को वात्सल्य दिया, प्रेम दिया, साथ ही अनुशासनवद्ध मर्यादा।

पति-पत्नी में सहज प्रगाढ़ प्रेम था, परस्पर विश्वास था, एक-दूसरे के लिये उत्सर्ग का भाव था। ये अपने पति से न तो कोई वात छिपातीं और न विना पूछे कोई काम करतीं। विश्वास, प्रेम एवं त्याग की नींव पर चल रहा था—इनका दाम्पत्य-जीवन। इनके पति भी इनको प्यार देते, आदर देते और इनकी कही हुई वात को न टालते।

दो वर्ष वाद ही इनके यहाँ एक कन्या का जन्म हुआ, जिसका नाम कृष्ण कान्ता रखा गया। कन्या के आगमन से पति-पत्नी फूले नहीं समाये, सुकोमल कन्या की किलकारियों से घर गूँज उठा। वच्चों के पालन-पोषण एवं विकास में दम्पति दत्तचित्त थे। कन्या अभी दो ही वर्ष की थी कि उन्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। पुत्र का नाम-संस्कार धूम-धाम से एवं विधिवत् सम्पन्न हुआ—नाम रखा गया हरि कृष्ण।

ईश्वर की कृपा हुई और थोड़े समय वाद ही श्री लालचंदजी ने वालीगंज में एक मकान खरीद लिया। यहाँ जगह की कमी नहीं थी। विशाल भवन था—सव सुख-सुविधा से रहने लगे। यहाँ दूसरी कन्या-रत्न का जन्म हुआ।

पुत्री के जन्म से ये वैसे ही उल्लसित-प्रफुल्लित थे—जैसे पुत्र-जन्म से। इस पुत्री का नाम रखा गया श्रीकान्ता। दो वर्ष बाद तीसरी कन्या-रत्न का आगमन हुआ, जो देखने में अत्यन्त सुन्दर, जो भी देखता, प्यार से गोद में भर लेता। उमा कान्ता के नाम से वह शोभित हुई।

इनके पति को बच्चों से अत्यधिक स्नेह था। वे प्रायः कहते—"बच्चे तो भगवान् के रूप हैं। बालगोपाल की सेवा प्रभु की सेवा है।" इस पुत्री के जन्म के तीन वर्ष बाद इन्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। यह इनकी आखिरी संतान। सबसे छोटा होने के कारण वह सभी का स्नेह-पात्र बना—नाम रखा गया—कृष्ण कुमार।

बच्चों पर दोनों का अत्यधिक स्नेह था। इनके पति का घर में कड़ा अनुशासन था। गलत काम को वे कभी सहन न कर पाते, न बढ़ावा देते—चाहे उनके बच्चे ही क्यों न हों। व्यवहार में शालीनता हो, मर्यादा हो, शिष्टता हो—यही इनकी सीख थी।

बच्चों की शिक्षा के प्रति ये अत्यधिक जागरूक थे। अपने बच्चों को अच्छी-से-अच्छी शिक्षा दिलाई। अपने बच्चों के साथ ननद के बच्चे, जेठानियों के बच्चे भी इनके पास रहते। घर में अपनेपन का भाव था, एक-सा भाव था, समव्यवहार था—सभी बच्चे इन्हें मां ही मानते थे।

देवता समान पति, फूलों-सी सुकुमार बालमण्डली, नौकर-चाकर, महाराज, ड्राइवर—सभी के प्रति इनका मृदु, आत्मीयता से ओतप्रोत व्यवहार था। घर में ये अकेली स्त्री थीं, फिर भी सभी ओर इनकी सुव्यवस्था थी। घर का सम्पूर्ण संचालन-सूत्र इनके पास था और सभी ओर सुव्यवस्था का राज्य था।

इसी बीच इनके भोले-भाले ब्रह्मचारी जेठजी का आसाम में देहान्त हो गया। श्वसुरजी अकेले आसाम में थे। पति बाहर गये हुए थे। दुःसंवाद सुनकर ये एक बार तो अपने को रोक न सकीं, अश्रुधारा बह चली, पुनः अपने को सम्भाला और अपने बड़े लड़के मुरली को तुरन्त अंतिम संस्कार के लिये आसाम रवाना किया। यह थी इनकी दृढ़तापूर्ण निश्चयात्मक मुद्रा।

पति की अस्वस्थता के समय इन्होंने अद्भुत रूप से उनकी सेवा शुश्रूषा की। बच्चों को छोड़कर पति की चिकित्सा के लिये विदेश भी जाना पड़ा। ये अपने कर्तव्य से कभी विचलित नहीं हुई। अंग्रेजी न जानने के कारण विदेश में असुविधा भी हुई—पर, इनका एक ही लक्ष्य था—पति-सेवा, पति को नीरोग देखना।

भारत लौटने के बाद भी इनके पति का स्वास्थ्य पूर्ण रूप से ठीक न रहा। ये उनके आहार का, पथ्य का पूरा ध्यान रखतीं। समय पर दवा देना कभी न

भूलतीं। साथ ही व्यापार में भी हाथ बँटातीं, उन्हें उचित परामर्श देतीं, समय-समय पर प्रोत्साहन भी देतीं। पति के सभी काम अपने हाथों से करतीं।

पति की अस्वस्थता की स्थिति में ही इनके बड़े लड़के का विवाह पंसारी परिवार की कोमलांगी कन्या करुणा के साथ सम्पन्न हुआ। घर में पहला विवाह, खुशी का क्या ठिकाना! सारा वातावरण मंगल ध्वनि से गुंजरित हो उठा। इनका सभी से गहरा लगाव था, आनेवालों का ताँता लगा रहता—सभी का सादर आतिथ्य!

नववधू के आने से घर चहक उठा। बच्चों को प्यारी भाभी मिली, उनकी खुशी की सीमा नहीं। छोटे-छोटे बच्चे भाभी के इर्द-गिर्द बैठे रहते। भाभी प्यार से उन बच्चों को देखतीं और लाज से शरमा जातीं।

बहू के प्रति दोनों को बहुत प्यार था। नववधू के लिये प्यार से चाट मंगवाई जाती—जानी-अजानी हर इच्छाओं को पूरा करने में दम्पति आनन्द-रस में सराबोर थे। छोटी-सी प्यारी दुल्हन इनके लाड़-प्यार को पाकर निहाल हो गयी। श्वसुर के स्नेह और सास की ममता से महीना भर कैसे निकलग या—पता ही न चला।

काफी अस्वस्थ होने पर भी सबका राजस्थान जाने का कार्यक्रम बना। पतिदेव का स्वास्थ्य काफी बिगड़ने लगा, इन्होंने तन-मन से पति की पूर्ण सेवा की, किसी तरह धैर्य बनाये रखा, डाक्टर के परामर्श से सबने दिल्ली प्रस्थान किया और फिर वहाँ से कलकत्ता; पर कलकत्ता पहुँचने के पहले ही उनका स्वर्गवास हो गया। उस समय सबसे छोटा पुत्र इनके पास था। और बच्चे पहले ही कलकत्ता आ चुके थे। दैवी वज्रघात, अकेली सद्‌नारी—अबोध शिशु को आँचल में छिपाये—युग-युग से कठिन पल-पल को रो-रो कर कैसे काटती रहीं—गहन मौन व्यथा का एक स्याह पृष्ठ।

नयन बरसते रहे, झरते रहे; कंठ सिसकता रहा, हृदय छोटे से बालक से चिपटा तड़पता रहा—पर, जानेवाला चला गया—मँझधार में ही नौका की पतवार पकड़ा ईश्वर में समा गया। चौंतीस वर्ष की छोटी-सी उम्र, पहाड़-सा दुःख और इतनी बड़ी जिम्मेदारी। अब तो पति की दी हुई गीता की शिक्षा को जीवन में उतारना था, गीता को जीना था, गीता में जीना था। आज के बाद वह नारी अबला नहीं रही, गृहिणी नहीं रही, पत्नी नहीं रही, सिर्फ मां बन गई अत्यन्त करुणार्द्रा कोमला—साथ ही कठोर सिंहनी भी जिसे अपने शावकों को अपने आँचल में रखना था, उनको तेजस्वी बनाना था और फिर मान-मर्यादा के साथ अपने उद्योग-व्यवसाय का विकास भी करना था। सुरक्षा भी और

बढ़ने के नये क्षेत्र भी। ऐसी मां—एक स्थित प्रज्ञ मां—जिसे न दुःख विचलित कर सके, न सुख-स्पृहा प्रमत्त बना सकी।

इनका सबसे बड़ा पुत्र इस समय सिर्फ १६ वर्ष का था, अभी कॉलेज की शिक्षा भी समाप्त नहीं हुई थी। कभी ऑफिस में कदम भी नहीं रखा था, व्यापार के क ख ग से भी अनभिज्ञ था। इतना बड़ा कारोवार छः छोटे-छोटे भाई-बहन, इतनी बड़ी जिम्मेदारी यों अचानक कन्धों पर आ पड़ी, अबोध सुकुमार बालक विचलित हो उठा। मां ने सहारा दिया, दिलासा दी, प्रेरणा दी, कृष्ण की तरह सारथी बनकर उसके जीवन-रथ की बागडोर हाथों में सम्हाल ली—लगता है झूले पर झुलाने वाले सुकुमार स्नेह भरे कोमल करों ने आज जिन्दगी की कठोर वल्गा थाम ली है, नेपथ्य में रहकर, यह सारथी बच्चों का, बच्चों के जीवन का, परिवार का, कारोबार का दृढ़ता से संचालन करने लगा।

ये संरक्षक की तरह केवल हिदायत ही नहीं देती थीं—वरन् देती थीं, आत्म विश्वास। इन्हीं के शब्दों में—"मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ। ऑफिस की इज्जत तथा अनुशासन पर कभी आँच नहीं आनी चाहिए।" ये महज शब्द नहीं हैं —यह गुर है, यह मंत्र है। मां का यह मंत्र मुरली के लिये, सभी भाइयों के लिये, सभी अधिकारियों के लिये संजीवन मंत्र की तरह छाया हुआ है।

मां की स्नेह-छाया में मुरली ने ऐसी विषम परिस्थिति में बी० ए० की परीक्षा दी। मां ढाल बनकर बेटे की रक्षा करती रही, उसका पथ-प्रदर्शन करती रही और वह अपने कर्त्तव्यपथ पर आगे बढ़ता रहा। व्यापार में आनेवाले उतार-चढ़ाव, सम-विषम परिस्थितियाँ जिसके लिये मुरली अभी पूर्णतः दुधमुँहा था, मां ने एक कुशल पथ-प्रदर्शक का कार्य किया। वह रहती थीं घर में; पर, ऑफिस की राई-रत्ती सभी बातों की उन्हें पूरी तरह जानकारी थी। वे सरल थीं, गंभीर थीं, कुशल थीं, चतुर थीं, और सबसे अधिक थीं मानवीय करुणा व उदारता की मूर्ति। शक्ति एवं क्षमा में सन्तुलन—यही उनकी चरित्रगत विशेषता थी।

अनेक बाधाएँ आईं, विपत्तियाँ आईं, पर मां के आशीर्वाद एवं परामर्श से वह हर विपत्ति का सामना करता हुआ आगे बढ़ता रहा।

मां ने अपने बच्चों पर अपने दुःख की परछाई तक नहीं पड़ने दी। बच्चों को माता-पिता दोनों का स्नेह मिला, शासन मिला। ये नित्य-रात को लोरी गाकर बच्चों को सुलाती थीं। घर का वातावरण भजन के संगीत से गूंजता था।

उस महामहिम नारी ने सिर्फ अपने बच्चों में ही अपने आपको नहीं भुला दिया, बल्कि अपने बूढ़े ससुर का भी पूरा ध्यान रखा। उन पर भी तो दुःख

का पहाड़ गिरा था। बुढ़ापे में लकड़ी टूट गयी। बहू को हृदय से लगा लिया और बोले—"तुम ही मेरी बहू हो और तुम ही बेटा भी हो।" बहू ने भी बेटे और बहू दोनों का कर्त्तव्य निभाया। श्वसुर की सेवा में कभी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने दी। श्वसुर ने भी उन्हें हमेशा बेटी की तरह माना, कभी उनकी बात नही टाली, हमेशा उनकी सलाह ली, उन्हें स्नेह के साथ सम्मान भी दिया।

नयी नवेली दुल्हन पर भी बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ी थी। अट्ठारह साल की अबोध उम्र और एक भरे-पूरे परिवार की गृहिणी की समस्त जिम्मेदारी--मां के मृदु व्यवहार के कारण मां के संरक्षण मे उसने इस जिम्मेदारी को भी पुष्पवत् ग्रहण किया। समय पाकर एक नन्हें शिशु ने जन्म लिया। पोते को पा दादी मां निहाल हो गयीं। अपने गहन दु:ख को भूल नन्हें को हृदय से लगा लिया। अपनी प्यारी बहू की देख-रेख में कोई कमी नहीं रखी। यह बच्चा दादी मां की आँखों का तारा था। इसे देख उनके होठों पर से खोयी हुई मुस्कान लौट आयी।

कुछ ही दिनों में उनके दूसरे पुत्र ओम प्रकाश ने भी हायर सेकेंड्री की परीक्षा पास कर ऑफिस जाना आरम्भ किया। पढाई के साथ-साथ अब वह भाई का हाथ बँटाने लगा। धीरे-धीरे बड़े भाई के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर वह भी कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर हुआ। जिस मां ने कर्त्तव्य के खातिर इतने बड़े दु:ख को अपने हृदय में समेट लिया था, उसके बच्चे अगर अपने कर्त्तव्य को नहीं समझते, तो और कौन समझता ! आखिर शिक्षा उन्हें अपनी मां से ही तो मिली थी।

पति के स्वर्गवास के बाद ये बीमार रहने लगी थीं। पर शरीर की बीमारी कभी चेहरे तक नहीं पहुँच सकी। उनका जीवन तप था, साधना से उनका चेहरा हमेशा देदीप्यमान रहता था। जो भी उन्हे देखता, उनसे मिलता, उनके व्यवहार से इतना प्रभावित होता कि उनके अमिट स्नेह की छाप उसके दिल पर घर कर जाती थी और वह अनायास उन्हें 'मां' कह उठता।

हमेशा धीर और गम्भीर रहनेवाली उदार हृदया सहनशील मां ने कभी किसी से कड़ी बात नही की। अपने बच्चों को भी सदा मधुर बोलने की ही शिक्षा दी। उनके यहाँ काम करनेवाले कर्मचारी वर्ग उन्हें मां कहकर ही बुलाते थे। वे हमेशा उनके दु:ख-सुख का ख्याल रखतीं। उनके परिवार की खबर पूछतीं। जब-जब जरूरत होती, उनकी मदद भी करती। अपने कर्मचारियों को वे अपने परिवार का सदस्य समझती थीं। जो उनके यहाँ एक बार काम

करने आता, उनके स्नेहपाश में इस प्रकार बँध जाता कि फिर और कहीं जाने की सोच भी नहीं सकता था।

स्वयं श्रान्त-क्लान्त होते हुए भी वे शक्ति का स्रोत थीं। उनके पास जाकर हर कोई स्वयं में साहस का अनुभव करने लगता था।

न्यायोचित बात कहने में वे कभी नहीं झिझकती थीं। जो भी बात करतीं, तौल कर करती, सोच-समझ कर करतीं। किसी को बिना मतलब कड़ी बात कहना या कष्ट देना उनके स्वभाव में नहीं था। प्रत्यक्ष रूप से सारे व्यापार का संचालन उनके पुत्र ही किया करते थे, पर नेपथ्य में सबको सुना जाता था, समझा जाता था, निर्णय लिया जाता था। जो आज्ञा दी जाती थी—उसका कितनों को ज्ञान था। परिवार की मर्यादा बनी रहे, गरिमा बनी रहे, यही थी उनकी एकमात्र आकांक्षा व आज्ञा। आज्ञाकारी पुत्र भी मां की बतायी राह पर ही चलते। ऑफिस में वे बड़े जरूर थे, पर, उनके ऊपर थी आँचल की शीतल छाँव लिये उनकी मां—उन तक सबकी पहुँच थी। हर कर्मचारी उन तक अपनी फरियाद ले कर जा सकता था। सुनवाई भी थी और न्याय भी।

जिस प्रकार स्वर्गीय लालचंदजी ने व्यावसायिक जगत् में सफलता पाकर एक कीर्तिमान स्थापित किया था। अपने मृदु व्यवहार के द्वारा लोगों के हृदय में जगह बना ली थी—उसी प्रकार उनकी सहधर्मिणी ने भी सफलतापूर्वक व्यापार के भार को वहन किया, परिवार की मान-मर्यादा और गरिमा को सदा अक्षुण्ण रखा और अपने सद्व्यवहार से लोगों के हृदय को हमेशा के लिये जीत लिया।

इनमें एक ओर परिवार के प्रति कर्त्तव्य-बोध था, उद्योग-व्यवसाय के प्रति दायित्व, पर साथ ही इनमें सामाजिक चेतना थी। इन्होंने अपने परिवार को सामाजिक दृष्टि से भी गौरवपूर्ण बनाया। समाज के कार्यों में रस लेना, विवाह आदि कार्यों में शामिल होना, सभी प्रकार के वैवाहिक रीति-रिवाजों में, सामाजिक कार्यों में ये स्वयं आगे बढ़कर कार्य करतीं, परामर्श देतीं और सभी के कार्यों को सफल बनाने में सक्रिय सहयोग देतीं और अपने बच्चों को भी इस ओर प्रेरित करतीं।

ओम अब विवाह लायक हो गया था। कलकत्ता के धानुका परिवार की शुचि-स्मिता कन्या शोभा से उसका विवाह सम्पन्न हुआ। पतिदेव के स्वर्गवास के बाद घर में यह प्रथम विवाह था। पति की मधुर याद में इनके नयन रो रहे थे, पर नयी नवेली बहू पर समस्त स्नेह उँड़ेले जा रही थी—कहीं उसे श्वसुर की कमी महसूस न हो।

इसी बीच सत्तर वर्ष की आयु में इनके पूज्य श्वसुरजी बीमार पड़े। उन्हें

लकवे ने आ घेरा। ये जी-जान से उनकी सेवा में जुट गयी। अपने बेटों से भी यही कहा—"इन्हें कभी अपने बेटे की कमी महसूस न होने देना। तुम्ही इनके बेटे हो, इनकी सेवा करो, अपने कर्त्तव्य का पालन करो।" उन्हीं की सेवा और तपस्या के फलस्वरूप श्वसुरजी स्वस्थ हो फिर से चलने लगे।

मां की छत्र-छाया में पलते हुए बच्चे अब धीरे-धीरे बड़े होने लगे। इनकी बड़ी पुत्री कृष्णा को पढ़ने में अतिशय रुचि थी। हमेशा कक्षा में प्रथम आया करती थी। पढ़ने के लिये मां ने उसे हमेशा प्रोत्साहन ही दिया। उसने जब बी० ए० की परीक्षा पास कर ली, तब लोग मां को उसकी शादी कर देने की परामर्श देने लगे। कहने लगे लड़की को ज्यादा पढ़ाओगी तो उससे ज्यादा पढ़ा-लिखा वर ढूंढ़ने में तकलीफ होगी। कृष्णा एम० ए० करना चाहती थी। मां से उसका दिल नहीं तोड़ा गया। समाज की परवाह न करते हुए इन्होंने उसे विश्वविद्यालय में दाखिल करवा दिया। कृष्णा ने प्रथम श्रेणी में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर स्वर्णपदक प्राप्त किया। यह जानकर मां की खुशी का क्या ठिकाना! इनके पैरों की हड्डी में गहरी चोट थी, चलना-फिरना मना था, फिर भी ये उपाधि-वितरणोत्सव के समय दीक्षान्त-समारोह में शामिल हुईं। सुपुत्री के इस गरिमामय दृश्य को देखकर मां कितनी उल्लसित हुईं —यह अवर्णनीय है। इलाहाबाद के श्री लोकमणिलालजी के सुपुत्र रवीन्द्र से उसका विवाह सम्पन्न हुआ। लाड़-प्यार में पली उनके नयनों का तारा, हृदय का टुकड़ा, उनकी लाडली अब इतनी दूर चली जायगी, हृदय व्याकुल था, फिर भी जमाई के चेहरे को देख निहाल हुई जा रही थीं, आज उन्हें एक और बेटा मिल गया था।

उनके तीसरे पुत्र हरि ने भी स्कूल की पढ़ाई समाप्त की। कॉलेज में दाखिल लिया और साथ-साथ ऑफिस भी जाने लगा, व्यापार में भी रुचि लेने लगा। कलकत्ता के बजाज परिवार की कन्या सरिता से उसका विवाह सम्पन्न हुआ। सुन्दर, सलोनी, सुकुमार-सी तीसरी बहू भी घर आ गयी। मां की खुशी का पारावार नहीं था।

अब धीरे-धीरे उनका स्वास्थ्य क्षीण होता जा रहा था। उनके श्वसुरजी भी बीमार रहने लगे थे। अभी तो उन्होंने नई बहू का पूरी तरह से लाड़ भी नहीं किया था कि श्वसुरजी का स्वर्गवास हो गया।

इनके सर पर जो एकमात्र सुरक्षा-छत्र था—वह उठ गया। इससे इनके उत्तरदायित्व की श्रृंखला में एक और बढ़ोतरी हुई। कुछ ही दिनों बाद वह करुण हृदया मां रुग्ण हो शय्यागत हो गईं। उनके गुर्दे खराब हो गये थे। उन्हें इलाज के लिये बम्बई ले जाया गया। यहाँ उनका डायलिसिस आरम्भ/

हुआ और साथ में आरम्भ हुआ अस्पतालों का चक्कर। एक अस्पताल से दूसरा अस्पताल, एक शहर से दूसरा शहर, उनके बच्चे उन्हें लेकर डोलते रहे और साथ में अपने बच्चों के ही खातिर बिना किसी शिकवा के, बिना उफ़ तक किये, वे अपना इलाज करवाने विदेश तक का बार-बार चक्कर लगाती रहीं। उन्हें अपने बच्चों के खातिर जीना था। उन्हें अपनी बीमारी की इतनी चिन्ता नहीं थी, जितना दुःख इस बात का था कि उनके बच्चे उनकी स्वस्थता की वजह से इतने दुःखी रहते हैं। चीनी बंद कर दी गयी, नमक बंद कर दिया गया। यहाँ तक पानी भी नाप-तौलकर दिया जाता था। फिर भी चेहरे पर वही चमक थी, वही दीप्ति, वही रौनक थी, होठों पर वही मुस्कुराहट थी—दूसरों की व्यथा, दूसरों के दुःख की अपने से ज्यादा चिन्ता थी।

इसी बीच गुरुजी (सुबोल बाबू) का भी स्वर्गवास हो गया। गुरुजी इनके आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक थे व सबके प्रिय थे। वे ८५ वर्ष के थे। मां उनसे बहुत छोटी थीं; पर मां में निहित व्यापक मातृत्व एवं देवीत्व से अभिभूत हो गुरुजी इनको मां कहकर बुलाया करते थे। मां भी उनसे पुत्रवत् स्नेह रखती थीं। गुरुजी के चले जाने से परिवार का एक बहुत सुहृद चला गया; पर उस धारा मां ने नीलकण्ठ के समान इस दुःख के गरल को भी पी लिया।

जैसे-जैसे उनकी बीमारी बढ़ती गयी, बड़े-बड़े डाक्टरों से उनका सम्पर्क बढ़ता गया। जो भी डाक्टर इनके सम्पर्क में आया, इनके प्रखर व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। बड़े-बड़े विलायत के डाक्टर तक इलाज करने के पहले, दवा देने के पहले, इन्हीं की सलाह लिया करते थे। उन्हें विश्वास था कि जितनी अच्छी तरह से ये अपनी बीमारी को समझ सकती है, ठोस तथा ठीक बात करती हैं, दवा के असर को समझ सकती हैं—उतनी अच्छी तरह नर्स या डाक्टर खुद भी नहीं समझ पाते। इतनी बीमारी में भी ऐसी समझदारी देख डाक्टर चकित रह जाया करते थे। इनके स्नेहिल व्यक्तित्व और मृदु व्यवहार के कारण इनके सम्पर्क में आनेवाले हर डाक्टर के साथ एक पारिवारिक संबंध-सा स्थापित हो गया। हर डाक्टर और नर्स इन्हें मां कहकर ही पुकारते थे। ये भी उन्हें अपने बच्चों की तरह ही मानती थीं। अगर स्नेह से कभी उनका हाथ पकड़ लेती, तो बेचारे डाक्टर और नर्स अपने अन्य रोगियों को भूल इन्हीं के पास बैठे रह जाते।

बीमारी की अवस्था में ही इन्होंने अपनी दूसरी पुत्री श्रीकान्ता का विवाह उत्कल देश के अग्रवाल परिवार के चि० रतन से सम्पन्न किया। नयनों में ज्योति भी नहीं थी, फिर भी आगे बढ़कर सब काम किये और गद्गद‌हृदय से झरते प्यार से जंमाई को अभिषिक्त किया। विवाह के बाद आँखों का ऑपरेशन करवाया

एक आँख की ज्योति [illegible] अपने छोटे पुत्र [illegible]
और छोटी पुत्री [illegible]

इनका [illegible] होता था। इनके
घर से कोई [illegible] दान करतीं, [illegible]
भिखारियों को [illegible] वे दूसरों के दुःख को [illegible]
समस्त बाँटने [illegible] सामाजिक सेवा-कार्यों में
लगीं, सार्वजनिक [illegible] अर्थ-महत्वांक [illegible]
रहता था। इनका [illegible] तो वे अपने [illegible]
विस्मृत कर [illegible] उनके मार्ग-दर्शन का, [illegible]
का, डाक्टर का [illegible] कोई अतिथि आता, तो उनके
सत्कार हेतु [illegible] मगव हो, वे [illegible]
से जरूर मिलतीं, [illegible] पहले ही उसका [illegible]
चाल पूछ लेतीं। [illegible]

बच्चों की [illegible]
धीरे-धीरे [illegible]
होता जा रहा [illegible]
ले गये, पर कोई [illegible]
कोशिश, [illegible]
पर उन्होंने [illegible]
के लिये [illegible]
था। [illegible]
कि माँ [illegible]
बच्चों की [illegible]
एक बार तो [illegible]
हृदय में [illegible]
माँ का [illegible]
नश्वर [illegible]
हो गयीं। [illegible]
किसी [illegible]
गयी माँ के [illegible]

[illegible]
इन्होंने [illegible]
लिए [illegible]

तो फिर और किसे मिलती। वे ब्रह्म में लीन हो गयीं। ईश्वरमय होकर भी ममतामयी बनी रहीं।

यह है—एक छोटे से मृण्मय दीप की—चिन्मयी कहानी—एक मां की—ममतामय मातृत्व की, त्याग की, कर्त्तव्य की, जलन की, प्रकाश की एक उजली कहानी—जिसमें है—केवल कर्त्तव्य की सुरभि, केवल प्रेम की पुनीत प्रभा—और है—भविष्य के लिये अपने बच्चों को सतत जागते रहने की—उद्‌बोधन की प्रेरणामयी आदर्श कहानी। वह ममतामयी मां अब नित्य उपस्थित हैं—इस आर्ष वाणी में—

उत्तिष्ठत। जाग्रत।।
उठो । जागो।। □

मां परम ब्रह्म / श्रीकान्ता

कल तक तू ईश्वर था,
आज मां, लगने लगा।
कल तक 'मां' के लिए
करती थी मैं तुझसे प्रार्थना।
आज तुझ में मां है,
क्या करूं मैं आराधना।
कल तक तू पूज्य था,
आज प्यारा लगने लगा।
कल तक सिर्फ भक्त थी,
आज अंश है तुम्हारा।
कल तक करती थी याचना,
आज अधिकार मांगती हूं।
मेरी मां मेरे निकट हो,
जब रोम-रोम प्रसन्न हो।
मेरी मां मेरे समक्ष हो,
जब चक्षु में अश्रुजल हो।
कल तक तू ईश्वर था,
आज तुझ में 'मां' है।
हर ॐकार ध्वनि में मां है।
हर ईश्वर छवि में मां है।
मेरे नयनों से कोई देखे,
पूरे ब्रह्माण्ड में मेरी मां है।
कल तक जो मेरी मां थीं,
आज वह जगत्-जननी है।
कल तक जो ममत्व का झरना थीं,
आज अमरत्व का सरोवर है॥

तो फिर और किसे मिलती। वे ब्रह्म में लीन हो गयीं। ईश्वरमय होकर भी ममतामयी बनी रहीं।

यह है—एक छोटे से मृण्मय दीप की—चिन्मयी कहानी—एक मां की—ममतामय मातृत्व की, त्याग की, कर्त्तव्य की, जलन की, प्रकाश की एक उजली कहानी—जिसमें है—केवल कर्त्तव्य की सुरभि, केवल प्रेम की पुनीत प्रभा—और है—भविष्य के लिये अपने बच्चों को सतत जागते रहने की—उद्बोधन की प्रेरणामयी आदर्श कहानी। वह ममतामयी मां अब नित्य उपस्थित हैं—इस आर्ष वाणी में—

उत्तिष्ठत ! जाग्रत !!
उठो ! जागो !! □

मां परम ब्रह्म / श्रीकान्ता

कल तक तू ईश्वर था,
आज मां, लगने लगा।
कल तक 'मां' के लिए
करती थी मैं तुमसे प्रार्थना।
आज तुम में मां है,
क्या करूं मैं आराधना।
कल तक तू पूज्य था,
आज प्यारा लगने लगा।
कल तक सिर्फ भक्त थी,
आज अंश है तुम्हारा।
कल तक करती थी याचना,
आज अधिकार मांगती हूं।
मेरी मां मेरे निकट हो,
जब रोम-रोम प्रसन्न हो।
मेरी मां मेरे समक्ष हो,
जब चक्षु में अश्रुजल हो।
कल तक तू ईश्वर था,
आज तुम में 'मां' है।
हर ॐकार ध्वनि में मां है।
हर ईश्वर छवि में मां है।
मेरे नयनों से कोई देखे,
पूरे ब्रह्माण्ड में मेरी मां है।
कल तक जो मेरी मां थीं,
आज वह जगत्-जननी है।
कल तक जो ममत्व का झरना थीं,
आज अमरत्व का सरोवर है॥

श्रद्धामयी ये भावभीनी स्मृतियाँ



शाश्वत मां ।। मुरलीधर

अपनी मां पर—फिर ऐसी मां पर—जो मेरे लिये मां ही नहीं रहीं—पिता थीं, गुरु थीं, पथ-प्रदर्शक थीं—सब कुछ थीं—उन पर कुछ भी लिखना ऐसा लगता है—जैसे दुस्तर महासागर को छोटी नाव से पार करना। हजारों स्मृतियाँ एक साथ कौंधती हैं—मैं अपने को सम्भाल नहीं पाता—थोड़ा विचारों और भावनाओं की लहरों के संग बहता हुआ मां की याद में डूब जाता हूँ। और उस रत्नाकर में जो अनन्त रत्न छिपे हैं—उन्हें बटोरने की, हृदय में संजोने की, कोशिश करता हूँ—ये ही रत्न तो अब मेरे जीवन की अमोल निधि हैं—ये ही जो मेरे पथ-द्वीप हैं—जिसके प्रकाश में भावी जीवन की मंजिल तय करनी है—आरोहण करना है, विकास करना है।

धूमिल-सी याद आती है—बाबूजी कहा करते थे कि मेरे जन्म के समय मां की उम्र बहुत छोटी थी। मैं भी अत्यन्त कमजोर था। मुझे पालने में मां को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। घर के बड़े-बूढ़े तक मेरे बचने की आशा छोड़ बैठे थे। पर मां ने हार नहीं मानी। मुझे गोद में लिये सारी रात आँखों में निकाल देती थी। मां की ही ममता, स्नेह, लगन, विश्वास, परिश्रम और सेवा ने मुझे जीवन-दान दिया।

माता-पिता का लाड़ला, मां के स्नेह-छाया में पलता बड़ा होने लगा। मां ने जब भी कुछ समझाया—प्रेम से समझाया, क्रोध करना तो दूर, कभी मीठी झिड़की भी नहीं दी। मेरी शैतानियों पर अगर पिताजी कभी नाराज भी हो जाते, तो मां पुचकार कर हृदय से लगा लेती।

मैं सब भाई-बहनों में बड़ा था। मां ने जितना स्नेह दिया, उतनी ही अच्छी बातें भी सिखाईं। कभी-कभी सोचने बैठता हूँ, तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्कूल और कॉलेज की शिक्षा तो मां की शिक्षा के सामने नगण्य थी। जीवन में अगर कुछ काम आई, तो मां की शिक्षा ही काम आई।

हम सात भाई-बहन तथा ताऊजी और चाचाजी के बच्चे साथ ही रहते थे। मां हम सब की शिक्षा का ख्याल रखती। सब को समदृष्टि से देखती।

जब मैं चौदह वर्ष का था, तो पूज्य पिताजी बीमार पड़े। आँखों की चिकित्सा के लिए स्विटजरलैंड जाना हुआ। माताजी-चाचाजी के साथ मैं भी था।

माँ अपने नन्दन-निकुञ्ज में



माँ अपने पुत्रों के साथ (बाएँ से) मुरली, ओम, मुन्ना व हरि (माँ अपने चार रत्नों के साथ)

श्रद्धामयी ये भावभीनी स्मृतियाँ



शाश्वत मां ।। मुरलीधर

अपनी मां पर—फिर ऐसी मां पर—जो मेरे लिये मां ही नहीं रहीं—पिता थीं, गुरु थीं, पथ-प्रदर्शक थीं—सब कुछ थीं—उन पर कुछ भी लिखना ऐसा लगता है—जैसे दुस्तर महासागर को छोटी नाव से पार करना। हजारों स्मृतियाँ एक साथ कौंधती हैं—मैं अपने को सम्भाल नहीं पाता—थोड़ा विचारों और भावनाओं की लहरों के संग बहता हुआ मां की याद मे डूब जाता हूँ। और उस रत्नाकर में जो अनन्त रत्न छिपे हैं—उन्हें बटोरने की, हृदय में संजोने की, कोशिश करता हूँ—ये ही रत्न तो अब मेरे जीवन की अमोल निधि हैं—ये ही जो मेरे पथ-द्वीप हैं—जिसके प्रकाश में भावी जीवन की मंजिल तय करनी है—आरोहण करना है, विकास करना है।

धूमिल-सी याद आती है—बाबूजी कहा करते थे कि मेरे जन्म के समय मां की उम्र बहुत छोटी थी। मैं भी अत्यन्त कमजोर था। मुझे पालने में मां को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। घर के बड़े-बूढ़े तक मेरे बचने की आशा छोड़ बैठे थे। पर मां ने हार नही मानी। मुझे गोद में लिये सारी रात आँखों में निकाल देती थी। मां की ही ममता, स्नेह, लगन, विश्वास, परिश्रम और सेवा ने मुझे जीवन-दान दिया।

माता-पिता का लाड़ला, मां के स्नेह-छाया में पलता बड़ा होने लगा। मां ने जब भी कुछ समझाया—प्रेम से समझाया, क्रोध करना तो दूर, कभी मीठी झिड़की भी नहीं दी। मेरी शैतानियों पर अगर पिताजी कभी नाराज भी हो जाते, तो मां पुचकार कर हृदय से लगा लेती।

मैं सब भाई-बहनों में बड़ा था। मां ने जितना स्नेह दिया, उतनी ही अच्छी बातें भी सिखाई। कभी-कभी सोचने बैठता हूँ, तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्कूल और कॉलेज की शिक्षा तो मां की शिक्षा के सामने नगण्य थी। जीवन में अगर कुछ काम आई, तो मां की शिक्षा ही काम आई।

हम सात भाई-बहन तथा ताऊजी और चाचाजी के बच्चे साथ ही रहते थे। मां हम सब की शिक्षा का ख्याल रखती। सब को समदृष्टि से देखती।

जब मैं चौदह वर्ष का था, तो पूज्य पिताजी बीमार पड़े। आँखों की चिकित्सा के लिए स्विटजरलैंड जाना हुआ। माताजी-चाचाजी के साथ मैं भी था।

माँ अपने नन्दन-निकुञ्ज में

माँ अपने पुत्रों के साथ (बाएँ से) मुरली, ओम, मुन्ना व हरि (माँ अपने चार रत्नों के साथ)

मां के साथ दौहित्र यश, बेटी कृष्णा व उमा



मां अपनी भी और उमा (पुत्रिया) के साथ

पौत्र पौत्रियों से घिरी दादी मां

दादी मां, पौत्र आदित्य और अनन्त



१४ जून 1981 माँ का जन्म दिवस
हर्षोल्लास पूर्ण पारिवारिक माधुर्य

माताजी पिताजी की चिकित्सा के कार्यों में रात-दिन व्यस्त रहती थीं ; फिर भी उन्होंने मेरे चाचाजी से कहा— मुरली पहलीवार यहाँ आया है, इसे बर्फीले पहाड़ दिखा लाओ। माताजी एक ओर आदर्श पत्नी के रूप में सेवा में दत्त-चित्त थीं; साथ ही उन्हें मां के दायित्व का पूर्ण बोध था। आदर्श पत्नी एवं आदर्श मां दोनों रूपों में पूर्ण थीं।

इलाज के उपरान्त हम कलकत्ता लौट आये। पिताजी अब अस्वस्थ रहने लगे। मां व्याकुल रहती थीं ; फिर भी मेरी शिक्षा पर उनका पूरा ध्यान था। वे कहतीं— मुरली तू अपनी पढ़ाई में लगा रह, बाबूजी को देख-रेख के लिये मैं पर्याप्त हूँ ! मेरी मां ने पिताजी के सामने यह भी इच्छा व्यक्त की कि मुरली को पढ़ाई के साथ-साथ ऑफिस मे व्यवसाय की व्यावहारिक शिक्षा भी दी जाय। पिताजी ने यही कहा कि अभी शिक्षा पाने दो, फिर तो ऑफिस है ही। मां ने पिताजी की इच्छा को शिरोधार्य किया, पर उनकी प्रेरणा से मैं घर पर ही व्यवसाय के कार्य में रुचि लेने लगा।

मेरी मां रूढ़िवादी नहीं थीं, अपने बच्चों को संस्कारित व स्वस्थ देखना चाहती थीं। शिक्षा के साथ-साथ स्कूल-कॉलेज के खेल-कूद में हिस्सा लेने के लिए उन्होंने मुझे हमेशा प्रोत्साहित किया या यों कहूँ—कॉलेज के साथ एन० सी० सी० कैम्प में जाने के लिये उन्होंने मुझे प्रेरित ही नहीं, बाध्य भी किया। वे मुझे जिन्दगी के हर पहलू से परिचित कराना चाहती थीं। कठिनाइयों का सामना करना सिखाना चाहती थीं।

मेरी मां स्नेहमयी, ममतामयी, वात्सल्यमयी, कर्त्तव्यनिष्ठ, त्याग की देवी थीं। बाबूजी के स्वर्गवास के दु:ख से पीड़ित, अपने ऊपर आयी बड़ी जिम्मेदारी को देख व्याकुल, मैं जब अपने-आप को बिलकुल निस्सहाय-सा महसूस कर रहा था, मां ने सिर्फ एक ही वाक्य में मेरी सम्पूर्ण व्याकुलता को अपने अन्दर समेट लिया। उन्होंने कहा — तुम क्यों घबराते हो—मैं तो हूँ। मेरे अन्दर का हर संशय धुल गया। सच, मेरे ऊपर आँचल की शीतल छांव लिए मेरी मां तो थीं मेरे पथ को ज्योतिर्मय करने के लिए, मुझे कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देने के लिए। मां के संरक्षण में ही मैंने कारोबार का सम्पूर्ण दायित्व सम्हाला।

मां से ही मैंने अनुशासन बनाये रखने की शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने मुझसे हमेशा यही कहा—अपने कर्मचारियों के साथ अच्छा बर्ताव रखो—उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखो—उन्हें अपने परिवार का सदस्य समझो, परन्तु सबको अनुशासन के अन्तर्गत रखो। जहाँ अनुशासनहीनता होगी, वहाँ प्रगति नहीं हो सकती। व्यापार के सिलसिले में भी मां ने मुझे यही शिक्षा दी—अपनी

बात पर अडिग रहो—कभी किसी को धोखा मत दो, अपना कर्त्तव्य करो, ईश्वर स्वयं फल प्रदान करेंगे।

मैंने अपनी मां के चेहरे पर कभी क्रोध की झलक तक नहीं देखी। मां से ही मुझे क्रोध पर विजय पाने की शिक्षा मिली। मां ने हमेशा यही कहा—कोई यदि क्रोध में आकर कुछ कह दे, तो उस पर ध्यान मत दो; यह नहीं, उसका क्रोध बोल रहा है, कुछ समय बाद जब वह शान्त हो जाय तब उसे प्रेम और स्नेह से समझाओ, वह स्वयं ग्लानि अनुभव करेगा।

मां की सलाह और प्रेरणा से मैं दफ्तर में काम करता, वहाँ मैं बड़ा था, मालिक था, पर घर पर आते ही मां की स्नेह-छाया में मैं फिर से नन्हा शिशु हो जाता। बीमार पड़ता तो मां एक क्षण के लिए भी अपने पास से उठने नहीं देतीं। करुणा अगर कहती कि मां को आराम करने दीजिये, मैं बैठती हूँ आपके पास—तो मैं मचल उठता और मां अस्वस्थ होने के बावजूद सारा दिन मेरे सिरहाने मेरी सेवा-शुश्रूषा करने में गुजार देतीं। कहीं बाहर जाता, तो अटैची में मां ही मेरे कपड़े लगातीं, बार-बार हिदायत देतीं, फोन जरूर करना। अगर फोन करने में एक दिन का भी विलम्ब हो जाता, तो मां विचलित हो जातीं।

अब मां काफी अस्वस्थ रहने लगी थीं। पर हमने कभी मां के चेहरे पर दुःख, परेशानी, विषाद या बीमारी की परछाईं तक नहीं देखी। वे हमेशा मुस्कुराती रहीं। मुस्कुराते हुए ही हर विपत्ति का सामना करती रहीं। हमें भी उन्होंने यही शिक्षा प्रदान की। उन्होंने हमेशा यही कहा—जिन्दगी में उतार-चढ़ाव तो आते ही रहते हैं; उनसे कभी घबराना नहीं चाहिए। दुःख कितना ही विशाल क्यों न हो, उसे हृदय तक सीमित रखना चाहिए, उसकी झलक चेहरे पर नहीं आने देनी चाहिए। जिसके चेहरे पर उदासी छायी रहती है, लोग उससे कतराने लगते हैं। पर जो मुस्कुरा कर हर दुःख व विपत्ति का सामना करते हैं—लोग उसका आदर करते हैं उसका साथ देते हैं। उनकी यही शिक्षा तो मेरे जीवन की अमूल्य निधि है। मां अपने हर दुःख को तो हृदय में छिपाये रखतीं, पर दूसरे के दुःख को अवश्य बाँटती थीं। जरूरतमन्द व दुःखी व्यक्ति की मदद में वे हमेशा आगे रहीं। हमें भी यही शिक्षा दी— लोगों के सुख में काम आओ न आओ; पर दुःख में अवश्य साथ दो।

आज मां नहीं—स्नेह की प्यार की छाया नहीं—चारों ओर उदासी है, रिक्तता है, सूनापन है, प्रकृति उदास है, आकाश जैसे धुंधला-धुंधला, सामने कर्त्तव्य है, दायित्व, गुरुतर दायित्व; मा मुझे बल दो, सम्बल दो! तुमने एक दिन कहा था—'मैं तो हूँ;' पर तुम कहाँ हो।

अब मां के स्नेह-भरे आँचल की छाँव के लिए चित्त विचलित है, उस ममता

वे मेरे सपनों के लिए सब कुछ थीं, उनके साकार अस्तित्व के लिए हृदय तड़प रहा है। पर जब भी मैं उनकी तस्वीर के सामने जाकर खड़ा होता हूँ, यही महसूस करता हूँ कि मां कहीं नहीं गयीं, यहीं हैं यहीं हैं हमारे हृदय में ही विराज-मान हैं, उनका स्नेह व आशीर्वाद अब भी हमारे साथ है और हमेशा रहेगा। मां और मां का प्यार तो शाश्वत होता है।

आशीर्वाद ॥ [illegible]

पूज्य पिताजी की मृत्यु के उपरांत तो—मेरे लिए मां केवल मां न रहकर पिता हो गईं, गुरु हो गईं, पथप्रदर्शिका भी गईं—मैंने उनकी स्नेहिल कोमलता के भीतर झांकती हुई दृढ़ता को, कर्तव्यनिष्ठा एवं अडिग धैर्य को देखा और मेरी ममतामयी मां मुझसे कह रही हैं—जाओ, ऑफिस को संभालो, सैनिक की दृढ़ता से—समय की पाबन्दी के साथ—एक अनुशासनबद्ध ढंग से। तब से मां मेरे लिए हो गईं—अनुशासन, धैर्य, दृढ़ता, समय की पाबन्दी और संकटों एवं विषम परिस्थितियों में न डिगनेवाली साहसी मूर्ति।

मैं नित्य नियम से—ऑफिस जाने के पहले मां के कमरे में चरण स्पर्श करने, उनका आशीर्वाद लेने जाता। मां मुझे आशीर्वाद देतीं और मैं वीर की तरह तन्मय होकर अपने कार्यालय में भक्ति भावपूर्वक प्रवेश करता—मां के दर्शन के साथ मेरी चिन्ताएं दूर हो जातीं; मुझमें साहस और धैर्य का संचार हो जाता, मुझे हमेशा लगता—मां की छत्रछाया में सुरक्षित हूं—मेरे पीछे शक्ति का स्रोत है।

यदि किसी दिन मैं मां का आशीर्वाद न ले पाता, तो मेरा वह दिन परेशानी से गुजरता। मां मेरे लिए कहतीं— इसमें प्रेम बहुत है—पर यह अपने भावों को बाहर प्रकट नहीं करता।

मां जब भी बाहर रहीं, मुझे लगता था वह हमेशा आशीर्वाद से अभिसिंचित कर रही हैं—अपनी प्यार भरी दृष्टि से मुझे देख रही हैं, कह रही हैं— सब काम अच्छे होंगे, क्यों [illegible] मैं तुम्हारे साथ हूं, कठिनाइयों की परवाह मत करो।

अनुशासन, समयबद्धता, दृढ़ता, धैर्य एवं आगे बढ़ने की भावना—इन सब में मां! तुम्हारी ही [illegible] मूर्ति है।

जब जब मैं सुबह ऑफिस में जाता हूं, तो तुम्हारे उस कमरे में चला जाता हूं। कुछ क्षणों के लिए, मन उदास, अश्रुपूरित [illegible] करता हूं और फिर अनुभव करता हूं—मां, मेरी शाश्वत मां! [illegible]

[illegible]

फैलाकर कह रही हो—जाओ, ऑफिस, यह तुम्हारा पूजा-गृह है और जिन गुणों को मैंने तुम्हें सिखाया है, उन्हीं के प्रकाश में निरन्तर आगे बढ़ो—आगे बढ़ो। मेरे पास अब कुछ रह गया है, तो सिर्फ मां का आशीर्वाद।

सागर के किनारे खड़ी एक अबोध बालिका ॥ कृष्णा गुप्ता

उठ बेटी! कुछ खा ले।

ऊँहूँ! मैं कुछ नहीं खाऊँगी। क्योंकि मेरी जिद पूरी नहीं हुई थी। मैंने अनशन कर दिया था। पर, जब तक मैं नहीं खा लेती, मां भी अपने व्रत पर अडिग रहतीं। मां की दृढ़ता के आगे मुझे ही झुकना पड़ता। ऐसी थीं मेरी मां—ममता, स्नेह, सरलता, मृदुलता की प्रतिमूर्ति। सौम्य चेहरा, गंभीर व्यक्तित्व के भीतर अत्यन्त सुकोमल हृदय लिए वह सदा हमारी हर इच्छा को पूर्ण करने का प्रयास करतीं। दोनों माता-पिता ही हमेशा हम पर स्नेह की वर्षा करते। हम सात भाई-बहनों की टोली मां-बाबू के चारों ओर चक्कर काटती रहती।

पिताजी की असामयिक, आकस्मिक मृत्यु से परिवार पर वज्रपात हो गया। मां की व्यथा की सीमा न थी। पर उस साहसी नारी ने अपने बच्चों के खातिर अपने हृदय पर पत्थर रख लिया और पिता के रिक्त स्थान को, हमारे जीवन में भरने का बीड़ा उठाया।

मुझे हमेशा से पढ़ने-लिखने की विशेष रुचि रही। हमेशा यही अभिलाषा थी कि खूब पढ़-लिख अपने पैरों पर खड़ी होऊँ, मुझमें स्त्री-स्वातंत्र्य की भावना जो भरी थी। मां ने मेरे विचारों को समझा, उन पर सामाजिक रूढ़ियों की छाया नहीं पड़ने दी। अपनी बेटी के प्रगतिशील विचारों के आगे उन्होंने समाज की जरा भी परवाह नहीं की— अरे! तुम्हें लड़की के ब्याह की कोई चिन्ता नहीं, देखो भला कितनी बड़ी हो गयी है। ऐसे उलाहने तो उन्हें शायद नित्य ही सुनने को मिलते, पर मां पर इनका कोई असर नहीं पड़ता उन्हें तो ईश्वर पर अडिग आस्था थी—'जब लगन लिखा होगा, उसी दिन तो ब्याह होगा, विचलित होने, चिन्ता करने से क्या होगा?' मां ने मेरी पढ़ाई में कोई बाधा नहीं दी और मैंने स्वाधीन हो विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया।

एक बार की घटना मुझे स्पष्ट याद है। मैंने कॉलेज में विद्यार्थियों की हड़ताल में भाग लिया। अन्य साथियों के साथ कॉलेज के गेट पर धरना दिये खड़ी थी। इसकी सूचना मां तक पहुँची, बस फौरन अपनी नासमझ बेटी की

सुरक्षा के लिए दौड़ पड़ी। दूर गाड़ी में बैठी मेरे कल्याण की कामना करने लगीं। मैं निर्भय थी। मां छत्र लिये मेरे पीछे खड़ी थीं।

नवीन विचारों के आवेग में मुझे मां के विचार रूढ़िवादी लगते। उनके संतुलित और परिपक्व परामर्श को मैं सदा काटती, कभी-कभी कटुवचन भी कह देती, किन्तु मेरी इस जननी ने, मेरी हर बात हँसते हुए टाल दी। बस इतना कहकर हँस देतीं—"पगली, कभी ऐसा कहते हैं!" आज मैं सोचती हूँ—क्या मैं अन्य किसी को जो चाहूँ कह सकती हूँ, अगर कहूँ तो एक क्षण मे रिश्ते टूटते दिखाई पड़ें, पर मां-बेटी के अटूट संबंध, अचल स्नेह, निःस्वार्थ ममता पर कभी उलाहना या विचार-विभेद का डंक नही लगा। आज मैं समझती हूँ, मेरी मा रूढ़िवादी नहीं थीं, कट्टर नहीं थीं, अत्यन्त उदार और प्रगतिशील महिला थीं, जिसने बेटी के व्यक्तित्व को पूरी तरह से खिलने में पूरा सहयोग दिया।

विवाह हुआ, मैं दुल्हन बनी और विदाई की घड़ी भी आई। न रोने के प्रण के बावजूद अश्रु की अविरल धारा फूट पड़ी। मां ने इस क्षण 'इनको बड़े स्नेह से समझाया,' मेरी लाडली बेटी से कोई नासमझी हो जाय, तो बुरा न मानना। मां की ही सीख थी कि मैंने सहजता से अपने आपको ससुराल में ढाल लिया। बड़ों के आगे कभी मुँह न खोलना, पति के घर को सर्वोपरि समझना हमेशा मां ने यही शिक्षा दी।

जब मेरी पहली संतान होने को थी, मां ने आत्म-विश्वास के साथ घोषणा की थी—"तुम्हें लड़का ही होगा।" "हे ईश्वर! मेरी बेटी और पीड़ा न सह सकेगी। अतः लड़का ही देना।" यह थी मां की अद्भुत आसक्ति। बेटी पर कोई कष्ट उनके लिए असहनीय था। ईश्वर ने उनकी सुन ली। मुझे बेटा ही हुआ। स्वयं डायलिसिस की पेशेन्ट होते हुए भी, तब तक वे अस्पताल में रहीं, जब तक डाक्टर ने स्वयं उन्हें सूचना दी कि अब आपकी बेटी बिल्कुल ठीक है। डाक्टर साहब स्वयं चकित थे, कैसी अद्भुत नारी है, अपनी अस्वस्थता का जरा भी आभास नहीं, केवल अपनी बेटी की शुभचिन्ता में मगन थीं। अपनी व्यथा को को उन्होंने कभी महत्व नही दिया।

मुझे अच्छी तरह याद है—एक बार मूसलाधार वर्षा के कारण हमारे ऑफिस के कर्मचारी, पाँच बजे छुट्टी होने पर, अपने घर न लौट सके। मेरे पिताजी ने मां से कहा—"उनके लिये शीघ्र कुछ खाने का प्रबन्ध करो।" मां ने महाराज को आदेश दिया। पर उन्हें इतना धैर्य कहाँ, वे स्वयं पूड़ियाँ उतारने में जुट गयी। ऐसी थीं यह कर्त्तव्यशीला महिला, जिन्होंने अपने दायित्व को कभी बोझ नहीं समझा। अपने कर्मचारियों को पुत्रवत् स्नेह दिया। उनके चामत्कारिक व्यक्तित्व से सब प्रभावित होते। जिससे भी वे मिलतीं, वही मां कहने लगता।

वे सचमुच ममता का निर्झर थीं। हमने कभी उन्हें ऊँची आवाज में बोलते नहीं सुना। क्रोध करना तो उन्हें आता ही नहीं था। आश्चर्य होता है, किस मिट्टी की बनी है मां! घटनाएँ अनेक हैं, कहाँ तक लिखूं।

समुद्र के किनारे कोई अबोध बालिका खड़ी हो और कोई उससे पूछे कि समुद्र कैसा है, तो वह क्या जवाब देगी? केवल उँगलियों के इशारे से दिखा देगी!—"यह है समुद्र।" पर सागर की गहराई, विशालता, गंभीरता, मर्यादा, अचल परिपूर्णता का अंदाज क्या सुननेवाला या देखनेवाला लगा पायेगा। मां के लिये और क्या लिखूं! केवल कवि की ये पंक्तियाँ बराबर कानों में गूंजती हैं—

मुझमें है देवत्व जहां पर
झुक जायेगा लोक वहां पर।
किन्तु हुए हैं दूर आज वे
दुर्बलता दुलराने वाले
बीते दिन कब आने वाले॥ □

वन्दना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो॥ : हरिकृष्ण

'मां' विश्व की हर जाति, समुदाय, समाज और राष्ट्र म ममता, प्यार और त्याग की पर्याय है। मां का स्थान विश्व-नक्षत्र-मण्डल में निष्कपट प्यार और त्याग का ध्रुवतारा है। मां जन्म ही नहीं देती, भरण-पोषण ही नहीं करती, वह अपनी संतति को सुसंस्कृत और आदर्शमय बनाती है।

त्यागमयी मां के प्यार की सबसे बड़ी अहमियत उसका मौन प्यार और त्याग है। मां अपने जीवन के मूल्यवान क्षणों को निःस्वार्थ भाव से अपनी संतान पर न्यौछावर कर उन्हें अपने आदर्श की परिकल्पना के अनुरूप ढलता हुआ देखना चाहती है। इस संसार में मां का कोई विकल्प नहीं होता और न ही हो सकता है। इसलिए जननी को ही "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" माना गया है। मां हमेशा से ही मानव जाति की अगाध श्रद्धा का प्रतिरूप रही हैं। मां की भावना को समझकर उसका आदर करना अपने आप में बहुत उत्कृष्ट काम है।

मां के त्याग और बलिदान की तुलना में कुछ भी करना सूरज को दीपक दिखाने के समान है। चाहे जो कितना भी करे मां के त्याग के सामने वह कुछ भी महत्व नहीं रखता, उसके समक्ष वह नगण्य है।

ममतामयी मां का प्यार भरा आँचल हमारे ऊपर नहीं रहा, केवल शेष हैं यादें। ऐसी अमिट यादें जो भुलाये नहीं भूलती। मां का प्यार शब्दों का

विषय नहीं, गहन अनुभूति एवं भावनाओं का विषय है। जहाँ वाणी मौन हो जाती है, आँखें छलछला उठती हैं, गला रुँध जाता है और मैं अपने आप को प्यार के संभार से झुका हुआ अनुभव करता हूँ, मेरे मन-मस्तिष्क में कुछ स्मृतियाँ विद्युत् की तरह कौंधती हैं। मां स्वयं बीमारी से इतनी अशक्त और कमजोर हो चुकी थीं, किन्तु इस शारीरिक कष्ट को उन्होंने कभी अपने मानसिक विचारों और कर्त्तव्यों पर हावी नहीं होने दिया। अपने कष्टों को भुलाकर दूसरों के दुख-दर्दों में शरीक होना मां के लिए एक आम बात थी। मुझे याद है मेरे थोड़ी-सी तकलीफ से मां कितनी विचलित हो जाया करती थीं। मां दसों बार मुझसे फोन पर बात करतीं, मुझे हिम्मत बँधातीं, खाने-पीने की हिदायतें देतीं। मां से बातें करके मैं ऐसा महसूस करता मानो यह कष्ट मुझसे ज्यादा मेरी मां को हो रहा है। ऐसा था--मेरी मां का हृदय--नवनीत-सा कोमल, परदुःख कातर और प्रेम से ओत-प्रोत।

मां के न रहने पर इस समाज की ममतामयी दुनिया से प्यार और त्याग का रिश्ता उठ जाने का आभास होता है। रिश्ते-नाते अगर हैं भी तो सिर्फ एक सामञ्जस्य। फिर भी श्मशान, वैराग्य किसी काम का नहीं होता--जिन्दगी जीने के लिये इसी दुनिया में व्यावहारिकता और कर्त्तव्य के तकादे पर यथोचित सामञ्जस्य या बन्दोबस्त की जरूरत है। सामञ्जस्य जो मां की प्रेरणा, आशा, आकांक्षा के अनुरूप है। अगर जिया जा सके तो वही मां को सच्ची श्रद्धांजलि हो सकती है।

संसार में मां को कभी भूला नहीं जा सकता ; क्योंकि उसकी पूर्ति कभी नहीं हो सकती। हमारे सामने सिर्फ एक ही रास्ता है। मां ने जिन गुणों की हमें शिक्षा दी है, उनको जीवन में उतारें, यही सच्ची श्रद्धा है। मां के न रहने से केवल दुःखी होने से न तो मां के मूल्यों के प्रति श्रद्धा व्यक्त होती है और न कर्त्तव्य और आदर्श निभाने की मां की परम्परा के प्रति अनुराग ही। श्रद्धांजलि इस बात के प्रति निर्भर करती है कि मानव कमजोरियों को दृष्टिगत रखते हुए हम कितने पल और कितने वर्ष उस प्यार और त्याग की अनोखी, अनूठी और अनुपम प्रेरणा की याद में उसका अनुसरण करते हैं।

मां की ममतामयी छवि प्रत्येक क्षण आँखों के सामने हृदय में, मस्तिष्क में, विचारों में कौंधती हुई हमें सच्चा कर्मठ जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करती है। अकर्मण्यता, दम्भ, अभिमान, झूठा दिखावा इत्यादि तामसिक मनोवृत्तियों को तिलांजलि देने के लिए प्रेरित करती हैं। मां का नश्वर शरीर हमारे मध्य आज नहीं, उनके साकार रूप से हम साक्षात्कार तो नहीं कर सकते, लेकिन जिस तरह निराकार ब्रह्म प्रत्यक्ष न होते हुए भी दृष्टिगत है, उसी प्रकार हमारी परम

पूजनीया मां के अवर्णनीय सन्देश उनकी अजर-अमर आत्मा से प्रतिध्वनित पवित्र पावन 'ओंकार' स्वर की तरह हमारे मन, मस्तिष्क और हृदय में हिंडोले लेता हुआ हमें एक नेक और उच्च जीवनयापन करने का सन्देश देता है। उस परमपिता परमात्मा से मेरी यह प्रार्थना है कि उनके अन्तिम समय में उनके भावविह्वल मुख को देखकर मेरे मन ने जो संकल्प किया था एवं अपने को उनके समक्ष पाकर भी, कुछ-न-कुछ कर सकने के वावजूद भी जो सान्त्वना मिली थी और एक सच्चा और कर्मठ इन्सान वनने की प्रतिज्ञा की थी, वह मां के आशीर्वाद द्वारा ही पूर्ण होगी और मुझे पूरा विश्वास है कि मां का स्नेहमय आशीर्वाद हम सवके साथ रहेगा। □

सिर्फ यादें ।। श्रीकान्ता

अश्रु और मुस्कान का संगम सुना जरूर था, पर अनुभव तो प्रथम वार किया। विषाद में आनन्द का संगम सुना भी नहीं था, अनुभव किया। कैसी अजीव परिस्थिति है। कुछ समझ नहीं आ रहा। मन वस में नहीं। ऐसा उद्वेग, ऐसा ज्वार व भाटा, क्या मन सागर है?

मां ब्रह्ममय हो गयीं, इससे बड़ा आनन्द क्या होगा? आत्मा का परमात्मा में लीन होना, आत्मन् का स्वयं ब्रह्म होना ही परमानन्द है। हृदय-आकाश में उड़ता हुआ मां के चरणों में न्यौछावर हुआ जाता है। और फिर वही मन उसी 'मां' के साकार रूप के लिए विषाद सागर में गोते खाता, अश्रु लहरों में डुबकियां लेता त्राहि-त्राहि कर उठता है। कभी इधर, कभी उधर, है न अजीव मनःस्थिति।

मां शब्द में कितना माधुर्य छिपा है, कितना स्नेह, अनुराग, वात्सल्य छलक रहा है, जरा सोचो स्वयं मां व मां का हृदय प्रेम का कितना गहरा समुद्र होगा। वह जितना स्नेह उँड़ेलती है, उतनी ही स्नेहमयी हो जाती है। मां के द्वारा मां के हृदय से झरते अमृत का वर्णन में तो क्या, कोई महाकवि भी नहीं कर सकता। मां का स्नेह तो अमृत की एक ऐसी सरिता है, जिसने न मन समझ पाता है और न शब्द वांध सकते हैं। वह तो सव को प्रेम-धार से भिंगोती निरन्तर वहती जाती है। हृदय तो तव समझता है, जव वह विलीन हो जाती हैं। तव वह नासमझ हृदय रोता है, तड़पता है, गिड़गिड़ाता है, दामन फैलाकर स्वयं! ईश्वरमयी मां से अपने स्नेहमयी मां की भीख मांगता है, पर सव निरर्थक! अव तो सिर्फ एक ही उपाय है, अपने हृदय को इतना विशाल वनाओ कि स्वयं मां मय हो जाओ, पर क्या ऐसा हो सकता है? शायद! पता नहीं, समय ही उत्तर दे सकता है।

किसी विद्वान् ने क्या खूब कहा है—"मां ही ब्रह्मा है, मां ही विष्णु है, मां ही शिव है। ब्रह्मा संसार-सृजन करते हैं। मां हमारा सृजन करती है, हमें जन्म देती है। संसार के सृजन हेतु क्या ब्रह्मा को कष्ट उठाना पड़ता है? नहीं। पर हमें जन्म देने में माता को कितना कष्ट उठाना पडता है, जिसकी कल्पना ब्रह्मा भी नहीं कर सकते। विष्णु पालन करते हैं और मा अपने बच्चों के पालन में तिल-तिल कर अपने को तपा देती है। स्वयं स्वाहा होकर भी उनकी रक्षा करती है। संसार के पालन हेतु क्या विष्णु अपने को मिटाते हैं? शिव पालन भी करते हैं और संहार भी करते है। मां अपने बच्चों की गलतियों का संहार करती है, उनमें अच्छाइयों का संचार करती है। उन्हें पशु से ननुष्य बनाती है। एक मां के सामने शिव भी कुछ नहीं।

सच है, एक आदर्श मां स्वयं ईश्वर है। मनुष्य रूप में वह ईश्वर से ज्यादा महान हैं। कौन कहता है कलियुग में ईश्वर ने जन्म नहीं लिया। इस युग में तो स्वयं ब्रह्म ने साकार रूप मे जन्म लिया है। वह तो आदर्श माताओं के रूप में जन्म लेता रहा है, ले रहा है और लेता रहेगा। 'मातृदेवो भव' कहनेवाला ऋषि जरूर किसी आदर्श माता का पुत्र रहा होगा। उसने अवश्य ही माता के हृदय से छलके अमृतत्व का पान किया होगा।

जिस देश में आदर्श माताओं का वास है, उस देश का भविष्य उज्ज्वल है। उस देश की धरती पूत पावन है। उस देश के वासियों को गंगा स्नान की आवश्यकता नहीं, उनके श्रम-बिन्दु से स्वयं गंगा प्रभावित होंगी।

ऐसी ही एक आदर्श माता की पुत्री हूँ, मैं। जिसकी स्नेह-छाया में पलकर बड़ी हुई, जिसके हृदय के प्रेम-सागर में जी भरकर क्रीड़ाएँ कीं, फिर भी दिल नही भरा। मन विचलित है। मां, सिर्फ मेरी मां ही नही थी, मेरा जीवन थीं। जब वे थीं, उनकी गोद में सर रखकर समस्त संसार को भुला देती। मां की छत्र-छाया में सिंहनी के शावक के समान दिन व्यतीत करती थी। मां ने कभी बेटों और बेटियों में कोई भेद नहीं किया, बल्कि बेटियों को कुछ ज्यादा ही प्यार और स्वतन्त्रता दी। बाबूजी के स्वर्गवास के बाद मां ने बाबूजी और मां दोनों की भूमिका निभायी। कही हमें बाबूजी की कमी महसूस न हो, इसलिए मां ने अपने दुःख को हृदय में समेटे रखा और हम पर राशि-राशि प्रेम लुटाया। हमें अपने आँचल में समेट हमेशा अपने स्नेह-नीर से भिगोये रखा।

मां खुद इतनी बीमार रहती थीं, पर जब भी मैं बीमार पड़ती—मां अपने सभी कष्टों को विस्मृत कर मुझमें अपने आपको भुला देतीं। भुलाये नही भूलते वे दिन जब मैं 'हारापिस' की प्रखर वेदना लिये कलकत्ते में बिस्तर पर पड़ी थी और मेरी मां ऑपरेशन के बाद लंदन के एक अस्पताल में मृत्यु से संघर्ष कर रही

थीं। जितनी बार फोन किया 'मां ने मुझे तुम कैसी हो ?' पूछने का मौका ही नहीं दिया। मेरे स्वास्थ्य के बारे में इतने प्रश्न किये जाते, इतनी नसीहत दी जाती कि समय गुजर जाता और मुझे फोन छोड़ना पड़ता। बार-बार मां यही कहतीं, 'परीक्षा जरूर देना, बीमारी के चलते एम० ए० की परीक्षा मत छोड़ देना, मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। तुम जरूर अच्छे नम्बरों से पास होगी, मेरी मां ने तो जीवन में अनेक कष्ट उठाये थे। कष्ट में जीना सीखा था। कष्ट को कभी कर्त्तव्य-पथ पर रोड़ा नहीं बनने दिया था। फिर मुझे गलत शिक्षा कैसे देती !

जब मैं शादी के बाद ससुराल चली गयी, तब रोज सुबह नियमानुसार मेरे पास मां का फोन आ जाता था और प्रथम प्रश्न हुआ करता था—"तुम कैसी हो ?" सेहत तो मां की खराब रहती थी और मैं उत्तर देती कि मैं कैसी हूं—"यह थी मेरी मां जिसके सामने दो आंसू बहाकर मैं अपने हर दुख को भूल जाया करती थी। मेरी मां मेरी हर व्यथा और वेदना को समेट हृदय को स्नेह से भर देतीं। मैं मां पर कितनी आश्रित हूं, यह तो मुझे तब पता चला जब मां नहीं रही। अब तो आंसू बहते हैं, तो बहते ही चले जाते हैं। क्या कीमत इन बहते आंसुओं की, जब उन्हें पोंछनेवाला ही नहीं रहा ! उनकी मधुर यादों से हृदय भर-भर आता है। इस भरे हुए हृदय में मैं स्वयं डूबे जा रही हूं, गोते लगाती हूं, ऊपर उठने की कोशिश करती हूं। ब्रह्ममयी मां के आंचल को पकड़ने की कोशिश करती हूं। जब आंचल छूट जाता है, तब फिर विषाद-सागर में गोते लगाने लगती हूं। प्रयत्न जारी है, द्वन्द्व भी जारी है—

जब मानस पर यादें उभरती हैं
हृदय में सागर उमड़ने लगता है।
बादल की घटा छा जाती है,
बुद्धि चौंधिया जाती है।
नियति का अट्टहास
बिजली-सा कौंधता है।
आंखें बरसने लगती हैं।
जो कुछ कहने को मचलता है।
मन कुछ सुनने को तड़पता है।
वे स्नेहसिक्त हाथों का स्पर्श,
ममता से झरते हृदय का स्पन्दन,
वे प्रेम से लबालब भरी आंखें,
वे चित्त को लुभानेवाली बातें,
सिर्फ यादें, सिर्फ यादें, सिर्फ यादें !! □

स्नेह की आँचल छाया में ।। उमा

सघन शीतलच्छाय विशाल वृक्ष—उसकी छाया में पलनेवाला शावक नही जानता—धूप क्या है, वर्षा क्या है, आँधी क्या है—वह पेड़ हट जावे और खुले नंगे आसमान के तले आ जावे—वह शावक ! मां के चले जाने के वाद मैंने अपने को ऐसा ही अवश पाया। स्नेह की आँचल छाया के नीचे कव दिन उगते, कव रात ढलती, कुछ पता नही था। पर, जव वह शीतल छाया दूर हो गई, तो मैंने प्रथमवार अनुभव किया कि मैं कितनी सुरक्षित थी, मां पर कितनी आश्रित थी।

मां की मैं सवसे विश्वस्त अंतरंग थी—उनकी निजी सचिव। वे कितना देती थीं—कितना देती थीं—कोई नही जानता। मैं जानती हूँ। वे हमेशा चुपचाप जरूरतमंदों को दिलाती थीं, जिसकी भनक भी किसी को नही मिलती।

मां का प्यार सभी को मिला—हम पूछते—मा—सच वताओ—तुम किसको ज्यादा प्यार करती हो, वे कहतीं—मेरे लिए सभी वरावर हैं—यह कैसा सवाल ! फिर भी—सभी इस वहम को सँजोए हुए हैं—उनको सवसे ज्यादा मां का प्यार मिला है।

सव के अलग-अलग कमरे थे—पर, मेरा कमरा मां का कमरा। मैं वड़ी होती गई—वी० ए० पास किया—पर, मां के लिए—वही हमेशा साथ रहने-वाली—सोनेवाली—भोलीभाली वच्ची ! मां ने मुझे कितना गहन प्यार दिया, इसे कैसे कहा जाय ! वे तो प्यार की नित-नीरा नदी थीं !

जव मुझे किसी रात नीद नहीं आती तो मां के सारे काम—सुवह के काम—धीमे-धीमे होते—दाई-नौकरों को इशारे से आज्ञा दी जाती—सव काम चुपचाप होते—कही मैं जग न जाऊँ ! मां जव भी वाहर गईं—काम से—इलाज के लिए—मैं हमेशा साथ रही।

मां हमेशा समझाती—चाहे तुम्हारा किसी से प्रेम न हो—पर, वह यदि अपने घर आवे, तो प्रेम से मिलो—उसको महसूस न होने दो कि तुम उसको नापसंद करती हो।

मां को क्रोध से हमेशा चिढ़ थी। वे हमेशा समझातीं—यदि कोई गुस्सा करे तो तुम गुस्सा मत करो। वह पता नहीं—किस कारण किसी दु:ख के मारे —गुस्सा कर रहा है। किसी के साथ जव व्यवहार करो, तो अपने को उस जगह खड़ा करके विचार करो। किसी की आह मत लो—किसी के दिल को न दुखाओ।

मां वीमार रहीं—पर, उनको जितना दूसरों के दु:ख या वीमारी की चिन्ता रहती, उतनी अपनी नहीं। सारे घर भर का—छोटों का—वड़ों—सभी का

पूरा ध्यान रखतीं। मुझे कब उठना है, कब पढ़ने के लिए तैयार होना है, जागना है—मां हमेशा याद रखतीं, और छोटी-से-छोटी चीज के लिए पूरी सावधानी वरततीं।

मां को जब कोई बात पसंद नहीं होती, तो वे चुप हो जातीं—विरोध करना उनका स्वभाव नहीं था।

सारी बातें टूटी-टूटी, बिखरी-बिखरी याद आती हैं—जब उनको जोड़ती हूँ, तो अधीर हो जाती हूँ और सारी बातें आँखों के रास्ते झरने लगती हैं।

मां अब कहाँ—शेष हैं—उनकी यादें—जो जीवन की निधि हैं—जो रुलाती हैं, जगाती हैं, रास्ता दिखाती हैं। आशीर्वाद दो मां—तुम्हारे उपदेश के वे पथ-दीप हमेशा हमारे जीवन को ज्योतिर्मय करें। □

उपदेशों के ये पथ-दीप ।। कृष्णकुमार (मुन्ना)

मां—सब के लिए केवल मां थीं; पर—मेरे लिए—वह मां थीं, पिता थीं; पिताजी की मुझे याद नहीं, मैंने मां में ही पिता को पाया था। मैं अपने भाई-बहनों में सबसे छोटा हूँ, इससे निःसन्देह मुझे सबका प्यार मिला—पर मुझे इस बात का एक भ्रम था कि मां सबसे ज्यादा मुझसे प्रेम करती है—पर, उनके चले जाने के बाद यह पता चला कि वे तो सभी से बहुत प्रेम करती थीं। और सभी समझते हैं कि मां का प्रेम उन्हीं पर अधिक था।

मां ने अपने जीवन से जितनी शिक्षा दी, बोलकर उससे कम। मैं बराबर देखता रहता था—वे दिन भर कार्य में लगी हैं, सारी व्यवस्था करती हैं—सभी बातों का—सभी का ध्यान रखती हैं। वे सही अर्थों में निष्काम कर्मयोग की साधना में लगी रहती थीं।

कितनी बातें याद आती हैं। कहाँ से शुरू करूँ—समझ नहीं पड़ता। वे कहतीं, अनेक बार समझातीं—तुमको क्रोध आवे तो उस समय क्रोध मत करो, चार-छः घण्टे रुक जाओ, तुमको पता चलेगा कि तुम जिस बात पर गुस्सा कर रहे थे, वह अनुचित है—तुम विचार करो—पता चलेगा—वह तो तुम्हारा अहंकार मात्र था। वह कहतीं—अपने कर्मचारियों के प्रति प्रेम का व्यवहार करना, उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखना।

मां में पता नहीं क्या खूबी थी कि सभी उनमें अपनी मां या दादी को पाते थे। इलाज के लिए विदेश जाना पड़ा, वहाँ अंग्रेज या विदेशी नर्सें भी उनके पास बैठतीं और उनको मदर ही कहती थीं। भाषा के अभाव में भी वे मनोभावों को खूब समझती थीं। प्रेम की भाषा तो शब्दों से नहीं, मन से प्रकट होती है।

मां ने एक दिन मुझे कहा—"एक बार तुम्हारे पिताजी बैठे हुए अपनी पीठ को खुजला रहे थे, इतने में तुम जब बिल्कुल बच्चे थे, जाकर उनकी पीठ सहलाने लगे, तो उन्होंने कहा—"देखो, यह बच्चा बिना कहे सेवा के लिए आया है। याद रखना, यह तुम्हारी बहुत सेवा करेगा।" मा की सेवा करना, यह तो पुत्र के लिए सौभाग्य की बात है। पर मेरी मां मुझसे सेवा लेना नही चाहती थी—मुझे कभी भी पता नही चला कि मैं सेवा कर रहा हूँ, मां के पास और उनका प्रगाढ़ प्रेम पा रहा हूँ। मा को हमेशा संकोच होता कि मैं अपने छोटे पुत्र से सेवा करवा रही हूँ। सेवा—कैसे सेवा—किसकी सेवा—वह तो मा के प्यार के बरसने के क्षण—जो तन-मन को पुलकित करनेवाले थे।

मां कहतीं—'अभय रहो। यदि अँधेरे मे कुछ तुम्हे दिखाई दे, तो उसे कुछ मानकर डरना मत। भूत तो भय का नाम है। तुम पूरा पता लगाना—तुम पाओगे कि अँधेरे के कारण पेड़ की या कपड़े की झूठी आकृति बन गयी थी।'

मां हमें अपने चरित्र से एक ही पाठ पढ़ाती रही—कर्म ही जीवन है, मां कहती थीं—"प्रार्थना करो; पर, साथ ही पुरुषार्थ भी करो। भगवान् पुरुषार्थ करने वाले की ही प्रार्थना सुनते हैं।" कर्मयोग ही पूजा है, निष्काम भाव से कर्म करते रहो—कर्म करते रहो।

मां की वाणी हमेशा कानों मे गँजती है—"क्रोध मत करना, देते रहना, कर्मयोगी बनना, अभय रहना।"

पहले भगवान् के पास मां के स्वास्थ्य-लाभ के लिए जाता था, अब जाता हूँ उनमें मां को पाने, मा के दर्शन करने, उनके उपदेशों की गूँज-अनुगूँज सुनने! मां! आशीर्वाद दे—मैं तुम्हारे दिखाये गये पथ पर विनम्र हो आगे बढ़ता रहूँ!

प्रार्थना से जुड़े हाथ ॥ करुणा

बीस वर्ष पहले घबराती, लजाती, नववधू के रूप में, मां की बाँहों से छूट अश्रुओं की लड़ियाँ बिखेरती हुई जब मैंने ससुराल में प्रवेश किया, तो वहाँ वात्सल्यमयी मां को द्वार पर स्वागतार्थ देखा, तो सब कुछ भूल गई। उनके नयनों की गहराई और मधुरिमा के आकर्षण में खोकर रह गई। मां और बाबू के अगाध प्यार को पा अभी मेरे पैर जमीन पर ही नहीं पड़ रहे थे कि अल्प समय में ही बापू के स्वर्गवास से पूरा घर शोकाकुल हो उठा। उम्र में मैं इतनी छोटी थी कि उस तूफान में अपने-आपको संयत रखना मेरे लिए असम्भव हो उठा। मैं अपनी सुध-बुध खो चुकी थी, पर उसी समय स्नेह भरा हाथ मुझे सहला कर सान्त्वना दे रहा था। मां का वह विशाल व्यक्तित्व जिसने अपने जीवन की अमूल्य निधि

खोकर भी नई वहू के प्रति उपेक्षा नहीं दिखाई, सचमुच अकल्पनीय था। अपने पीड़ा व अश्रुओं को छिपा वे हम वच्चों के दुःखों को समेटने में तल्लीन हो गईं। अभी अश्रुओं का वेग थम भी न पाया था, मुझे ज्ञान हुआ मैं मां वननेवाली हूँ। इस दायित्व को सम्भालने के लिये मैं अभी तैयार न थी। मां की गोद में सर छुपाकर मैं सिसक पड़ी। मां ने मुझे प्यार से सहलाया और मुस्कुरा कर कहा—"तू अपने लिये न सही, मेरे लिये तो खिलौना ला दे।" मां के चेहरे पर आज वहुत दिनों वाद मुस्कुराहट आई थी और जिसे मैं हमेशा देखना चाहती थी।

एक वार मैंने आगे पढ़ने का मन्तव्य जाहिर किया। तुरन्त अध्यापिका रख दी गई और मेरी गिनती अव मां के और छात्र वच्चों में हो गई थी। मेरी पढ़ाई-लिखाई समय पर हो रही या नहीं, इसका मां को उतना ही ध्यान रहने लगा, जितना मेरी ननदों का हुआ करता।

मां के साथ रहते-रहते मैं इतनी घुलमिल गई थी कि उनकी पसन्द-नापसन्द सभी जरूरतों का मुझे एहसास होने लगा और मुझे भी क्या चाहिए, नही चाहिए इसका मां को पूरा ख्याल रहता। इतना ही नहीं मेरा और मां का साथ देश हो या विदेश—सभी जगह हमेशा वना रहा। उनकी मधुरता, उदार हृदयता और सवको अपना वना लेनेवाले व्यवहार ने मुझे अत्यधिक आकर्षित किया। मां ने कभी अपनी तीनों पुत्रियों और मुझमें कोई भेद न कर मुझे चौथी पुत्री की संज्ञा दी। उनकी नजर में हम सव समान थे। उन्होंने वड़ी वहू के दायित्व को मुझे हमेशा समझाया और साथ ही मुझे अपनी जिम्मेदारियों का भी एहसास कराती रही। मां इज्जत करना और दूसरों की इज्जत करवाना दोनों ही वातों को वखूवी समझती थीं। वड़ों के प्रति आदर-सम्मान की शिक्षा तो उन्होंने सभी वच्चों को दी।

आज मां नहीं रहीं; पर, उनका आशीर्वाद हमारे साथ है। मैं प्रार्थना करती हूँ कि वे मुझे अपने जैसा ही विशाल हृदय, सवको अपने में समेट लेने की क्षमता, प्रदान करें।

काश ऐसा होता ! ॥ शोभा

सृष्टि के आदि से लेकर अन्त तक केवल 'मां' ही 'मां' है। मां के त्याग, वात्सल्य को भुला देना मानवमात्र के लिये संभव नहीं, मानव तो चीज ही क्या है, जव स्वयं ईश्वर भी इस मानव देह में देहधारी वनकर आते हैं, तो 'मां' के प्यार के सम्मोहन से अपने आपको वचा पाना उनके लिये भी संभव नहीं। कृष्ण

यशोदा को छोड़ जब मथुरा चले जाते हैं, वहाँ व्यंजनों से सजी थाल में नवनीत को देख यशोदा के वात्सल्य से वशीभूत हो उनके नयनों से अश्रुधार निकल पड़ती है। वे यशोदा 'मां' के साथ बिताये समय को याद कर उसी में खो जाते हैं। अपने बच्चों पर वात्सल्य उँड़ेलना, उन पर अगाध प्रेम करना, उनके लिये मर मिटना, तो अपने आप में बहुत बड़ी बात है ही ; पर, उससे भी बड़ी बात तब होती है, जब 'माँ' दूसरों के लिये भी उसी विराट् रूप को ले सामने आती हैं, तब उसके वात्सल्य की सुरभि से सारा वातावरण सुरभित हो उठता है। उसकी गरिमा-महिमा में चार-चाँद लग जाते हैं, उसके वात्सल्य की गरमाहट में पूर्ण मातृत्व के दर्शन होने लगते हैं।

आज ऐसी ही मां की याद में मैं खो रही हूँ, जिसने अपने वात्सल्य भाव से सबको अभिसिंचित किया है, कितना पीछे चली जा रही हूँ। ऐसा लगता है कि बीते क्षण आँखों के सामने नाच रहे हैं। छोटी-सी दुल्हन के रूप में जब मैं सकुचाती, लजाती, घबराती हुई अपने सभी सगे-संबंधियों को छोड़ अपनी प्यारी-प्यारी मां की बाँहों से दूर हो, नये माहौल, नये परिवेश में आई, तो न जाने कितने विचारों की लहर मस्तिष्क में उभर रही थी। एक तरफ अपने प्यारों को छोड़ने के दुःख से विह्वल और दूसरी तरफ अपने प्रियजनों से मिलने की उत्सुकता, इन दोनों के बीच अपने आपको सँभालते हुए जब उस दुल्हन को नये परिवेश में वही प्यार, वही ममता, वही मातृत्व, वही वात्सल्य मिला, तो वह भावविभोर हो उठी। उसकी सभी समस्याओं का समाधान हो गया। उसका रोम-रोम खुशियों से प्रफुल्लित हो उठा।

बचपन के कारण कुछ गलत काम भी हो जाते थे, घबराहट में कुछ टूट-फूट भी जाता, और चींटी या कीड़े को देखकर स्वभावतः चिल्ला भी पड़ती, पर मुझे कभी याद नहीं, जब मां ने मुझे फटकारा हो या हल्का-सा भी उनके चेहरे पर क्रोध का भाव उभरा हो। बड़े प्यार से वह समझातीं, अपने पास दुलार से बैठातीं और जो मुझे डराता उसे मीठी झिड़की देतीं, इस तर बहू होते हुए भी कभी सास-बहू का संबंध नहीं रहा। उन्होंने हमेशा मुझे अपनी बेटी ही समझा। शुरू-शुरू में साड़ी पहनाना, कभी ठीक से सजाना-संवारना, गहने पहनाना वे खुद अपने हाथ से करतीं और फिर प्यार से चुम्बन अंकित कर देती, समय-समय पर उनकी इस लाड़ली बहू ने अपने कमरे को ठीक से सजा रखा है कि नहीं, इसका निरीक्षण करना भी वे न भूलतीं और सन्तुष्ट होने पर शाबाशी देना भी।

इस तरह धीरे-धीरे संबंध में प्रगाढ़ता आती गयी। एक अन्तरंग प्रेम हो गया। शादी के डेढ़ महीना बाद ही हम सब महीने भर कश्मीर साथ ही थे। वहाँ पर उनके व्यक्तित्व से मैं प्रभावित हुए बिना न रह सकी। एक खुलापन

था उनके व्यक्तित्व में, मुक्त हँसी, निश्छल मुस्कान जो अनायास ही लोगों को अपनी तरफ आकृष्ट कर लेती थी। मुझे पूरी स्वतंत्रता थी, न पहनने की रोक-टोक, न घूमने की, न खाने-पीने की। सास के रूप में मां और वहन-भाइयों में ननद-देवर और विशाल हृदय पति को पा मैं निहाल हो उठी।

वहां से लौटने के बाद बड़ी प्रसन्नता और हँसी-खुशी से समय बीतने लगा। रात के सन्नाटे में जब पूरा घर निद्रा की गोद में चला जाता, तो मैं और मां कितनी ही बार समय भूल बातों में लग जाते, समय का होश ही न रहता, वे अपनी पुरानी बातें, बाबूजी के समय बिताया समय, छोटे-छोटे बच्चों को बड़े करने में किन-किन कठिनाइयों, मुसीबतों का उन्हें सामना करना पड़ा—सब सुनाती, कभी हम दोनों रो पड़ते। मैं उस महान् नारी के सामने नतमस्तक हो उठती, जिसने इतनी कठिनाइयों और विपत्तियों के समय भी अपने धैर्य को बनाये रखा। उन्हें वैधव्य भी देखना पड़ा, परन्तु वे अपने कर्तव्य-पथ पर सदा अविचलित ही रहीं। अपने नन्हे-नन्हे, प्यारे भोले, उन अबोध बच्चों को उन्हें कभी पिता की कमी महसूस न होने दी, वे खुद ही छत्रछाया बन उन्हें एक ही समय में मां-बाप दोनों का प्यार दिया।

मैंने अपने प्रति उनमें हमेशा एक विशेष आकर्षण देखा, जिसे वे ज्यादा नहीं चाहती थी, पर फिर भी मौके-ब-मौके मन के भाव प्रदर्शित हुए बिना न रहते। जिससे उनके खुद के ही बच्चे मां से कहते—"मां ! भाभी को तुम बहुत चाहती हो।" मां मुस्कुरा कर रह जाती। उनकी वह निश्छल, मन को चुरा लेने वाली मुक्त हँसी, मुझे आज भी भुलाये नहीं भूलती।

जीवन-यज्ञ में स्वार्थों की आहुति कर अपने सन्तानों के सुख-दुःख का ध्यान रखना ही, उनके मार्ग को प्रशस्त देखना ही, उनके जीवन का उद्देश्य बन गया, जिसके लिए उन्होंने अपने स्वास्थ्य पर भी ध्यान नहीं दिया। उनके लिए अपने से भी बड़ी अमूल्य निधि अपनी सन्तानें थीं। वे सहनशीलता की अवतार थी। उनमें जहाँ स्वाभिमान था, वहीं कष्ट सहिष्णुता की अपरिसीम शक्ति भी थी। धैर्य, साहस, सहिष्णुता और तेजस्विता तो मानो उनकी पैतृक सम्पत्ति ही थी।

जब कभी मैं परेशान हो जाती, उद्विग्न हो उठती, तो बड़े प्यार से अपनी गोद में सिर रख स्नेह से सहलाती, मन का दुःख-दर्द पूछती और उसका निदान करने की पूरी-पूरी चेष्टा करतीं। बीमारी के दिनों में तो उनका अत्यधिक स्नेह-प्यार पा हम अपनी बीमारी भूल जाते, अपने कष्ट को भूल वे सुबह से शाम दसों फोन कर लेतीं। "क्या खाया, नींद आई की नहीं, क्या बनवा दूँ ?" उस प्यार को सोच-सोच आज भी आँखें भर आती हैं। अब कौन उस प्यार-दुलार से खाने के लिए पूछेगा, किसे तड़पन होगी हमारे न खाने से ? एक समय भोजन

न करने से वे परेशान हो उठती थीं। कहतीं, मोटापे का कोई डर नहीं, खाना तो समय पर खाना ही चाहिए।

सात्विकता और सादगी उनके जीवन की अमूल्य निधि थी। सादगी तो उनकी देखते ही बनती थी। अपनी सादगी, शिष्टता और मृदुल व्यवहार से उन्होंने सभी को जीत रखा था। बच्चे, परिवारवाले का कहना ही क्या, नौकर, घर के दूसरे कर्मचारियों से भी उनका व्यवहार अत्यधिक मधुर था। और उसी मधुरिमा का पान हमने तेरह वर्षों तक किया, अब वह प्याला सदा-सदा के लिए रिक्त हो गया है, जिसे भरना अब संभव नही। आज उनकी कमी जीवन में एक रिक्तता, एक सूनापन भर देती है, ऐसा लगता है मानो हम अँधेरे रास्ते में गुम हो गये है, जहाँ से निकलना बहुत मुश्किल है, कठिन है। इन ककरीले रास्तों में चलना अब हमें सीखना होगा, अभी तक उलझने का डर नहीं था, पर अब उलझना ही उलझना है।

उनके हृदय की विशालता, महानता को याद कर हृदय हाहाकार कर उठता है। ओफ़! कितनी महान थी वह। मुझे आज भी याद है जब मै दिल्ली से लौटी थी। कितनी दुःखी, निस्सहाय, बेसहारा अनुभव कर रही थीं अपने आपको। मां (मेरी जन्मदात्री मां) की मृत्यु के पश्चात् चारों तरफ अन्धकार-ही-अन्धकार लग रहा था, पर उस समय मा ने खुद अस्वस्थ होते हुए भी मुझे अपनी बाँहों भर लिया था। कितना प्यार, असीम-अगाध प्यार, जिसका वर्णन करना मा के प्यार का अपमान करना है। उस समय मां की बाँहों में खोकर मै सब कुछ भूल गयी थी। 'मां' के शब्द आज भी कानों में टकरा रहे हैं—"एक मां गई, पर दूसरी मां है, वह तुम्हें दोनों मां का प्यार देगी।" ये शब्द अमृत की तरह कानों मे, फिर हृदय की गहराइयों में उतर गये।

पर ईश्वर के खेल का अन्त यही नही होता, उसे तो शायद यह अच्छा नही लगा, क्योंकि खुद दो-दो माताओं के प्यार से वंचित रहा है। जब यशोदा मिली, तो देवकी से दूर और जब देवकी मां मिली, तब यशोदा मां से दूर। तो फिर उसे यह कैसे मंजूर हो सकता था कि मुझे एक ही मां से दो माताओं का प्यार मिले।

मां के प्यार से, उनके वात्सल्य से अभी पूरी तृप्त भी नही हुई थी कि उन्हें अत्यधिक अस्वस्थ रहने के कारण विदेश जाना पड़ा। काल की गति को आज तक कोई नही रोक पाया है। कब दिन बीते, कब रात बीती, कुछ ज्ञान नही था; फिर एकाएक ऑपरेशन की खबर और मां से बीत, अन्तिम बात, अन्तिम परिचय, अन्तिम शब्द, जिनमें था—एक कम्पन, एक घबराहट, एक अनजाना-सा भय! वे शब्द, अन्तिम शब्द आज भी कानों मे गूंज रहे है। कितनी मासूमियत छिपी

थी उनके उस विश्वास में, जब उन्होंने कहा—"तुमने लिखा मैं ठीक हो जाऊँगी, अपने आप चलकर आऊँगी, क्या सचमुच ऐसा होगा ?" वे शब्द आज भी हृदय को बेध कर रख देते हैं। काश, ऐसा होता ! □

अर्चना के रत्न-कण ॥ सरिता

मंजुल मृदुल मुरली के स्वर के समान,
उनका सरस गान गूंजता है कान में,
उनका अनूप रूप भूलता कभी भी नहीं—
चाहे कुछ सोचूं, किन्तु-भाती वही ध्यान में।

त्याग, प्रेम, ममत्व के सोपान का है एक नाम—मां। एकमात्र नाम—मां—जहां न कोई सिद्ध, न महात्मा, न अवतार, न तीर्थंकर, न बुद्ध !

मां ईश्वरीय तूलिका से अंकित संसार की सबसे अनूठी एवं अद्भुत कलाकृति है, जिसे निर्मित कर वह स्वयं भी चकित-विस्मित हो गया।

प्रेम, दया, त्याग एवं क्षमा के ये उदार उदात्त गुण—मां में एक साथ दृष्टि-गोचर होते हैं। ऐसे ही निश्छल प्रेम से ओत-प्रोत थीं—मां !

आज मां हमारे बीच नहीं है, रह गई हैं सिर्फ यादें—करुण यादें, प्रेरक यादें। न जाने कितनी ही ऐसी यादें मेरे मानस-पटल पर उमड़-घुमड़ रही हैं, किन्तु सभी विचारों को, भावनाओं को शब्दों के बन्धन में बांध पाना क्या सम्भव है ? यादों की ये श्रृंखलाएँ अनगिनत हैं, न खत्म होनेवाली एक लम्बी दास्तान। उन्हीं भावनाओं को 'अर्चना के रत्न-कण' के रूप में समर्पित कर रही हूँ।

विधाता का विधान बड़ा ही निर्मम है। मनुष्य को जिसकी चाह होती है, जरूरत होती है, विधाता को भी उन्हीं की ज्यादा चाह होती है, शायद इसीलिए परमपिता परमात्मा ने उन्हें हमसे छीनकर अपने में विलीन कर लिया है।

आज के भौतिक युग में सब स्वार्थ के वशीभूत हैं। मां का सहज, सुन्दर, कोमल वात्सल्यमय प्यार सहज ही याद आता है। मां की ममता की छाँव तले हम स्वच्छन्द पक्षी की तरह विचरते थे। मां का मन इतना विशाल था, जिसकी गहराई की थाह पाना मुश्किल ही नहीं, असम्भव था। वह मां का ममतामय आँचल जो हमारे ऊपर एक छत्र-छाया के समान था, न जाने इस संसार में कहाँ गुम हो गया है।

मुझे याद आता है, मां का अन्तः तेज से देदीप्यमान मुख जिस पर कहीं भी आक्रोश, चिन्ता, दुख या अवसाद की रेखाएँ नहीं थीं। वे थीं तो केवल अपने लिए, दूसरों के सामने था उनका सिर्फ हँसता-मुस्कुराता चेहरा।

मुझे याद है–जब उदित होनेवाला था, मैं उस समय विचलित हो रही थी। मां ने मुझे कितने प्रेम और स्नेह के साथ ढाढस बंधाया था, वह भला मैं कैसे भूल सकती हूँ! मां जो स्वयं इतनी बीमार थीं, डाक्टरों ने उन्हें ज्यादा चलने-फिरने से मना किया था, इसके बावजूद भी वे स्वयं कुर्सी के सहारे चल कर मेरे पास आयी और घंटों पास बैठकर मुझे समझाती रहीं, धैर्य देती रहीं। इतना ही नहीं, डाक्टरों के और परिवार जनों के मना करने के बावजूद भी अस्पताल आयी और ऑपरेशन-कक्ष के समक्ष खड़ी रहीं। जब उन्हें पौत्र-रत्न की प्राप्ति का शुभ-संवाद मिला, तो वे अपनी पीड़ा भूलकर आनन्द विभोर हो उठीं।

ऐसा था––मां का स्वच्छ, पवित्र पारदर्शी हृदय।

प्रेमपास में आबद्ध ।। रवीन्द्र गुप्त

मां की आखों में मैंने हमेशा ममता और वात्सल्य का उमड़ता समुद्र देखा, जहाँ प्यार की लहरें हमेशा किल्लोल करती रहतीं। जब भी मैं कलकत्ता जाता वे मुझे अपने पास बैठाकर सहलातीं। उनका वह मधुर स्पर्श आज भी मुझे रोमांचित कर देता है। जमाई की औपचारिकता को दूर कर वे अपने पुत्र की तरह ही संबोधन करतीं––'रवीन्द्र'! उसके आगे-पीछे बाबू या जी जुड़ा न रहता। इस असीमित प्यार और उनके मधुर संबोधन ने मुझे प्रगाढ़ प्रेमपाश में आबद्ध कर लिया।

पितामहीदेवो भव ।। आदित्य

वन्दनीयां दयामूर्तिं पन्नादेवीं पितामहीम्।
पौत्र आदित्यनामाहं प्रणमामि मुहुर्मुहुः।। (गुरु-कृपा-प्राप्त)

दयामूर्ति पूजनीया दादी को मैं पौत्र आदित्य बारंबार प्रणाम करता हूँ।

मेरे लिए दादी बहुत कुछ थीं; सब कुछ थीं। उन्होंने मुझे कितना स्नेह दिया, प्यार दिया उसे शब्दों में बांधना ऐसा है, जैसे घड़े में सागर को भरना!

दादी तो बहुत दूर की बात है, मेरे लिए 'दादी' शब्द की ही बहुत महत्ता है। 'दा' माने 'दात्री'––या धात्री––पालन-पोषण करनेवाली 'दी' माने 'दीयते'––जो देती ही रही। मेरी दादी मेरे लिए इतना कर गईं कि मैं सात जन्मों तक उस ऋण का शतांश भी नहीं चुका सकता।

मेरे पालन-पोषण में जितना मेरी दादी का हाथ है, उतना मेरी मां का भी नहीं। बचपन से लेकर आज तक मैं अपनी दादी का लाड़ला रहा हूँ। मैंने

दादी के मुँह से कितनी बार सुना है कि मैं उनकी आज्ञा का हमेशा पक्का पालक रहा हूँ। दादी की गोद में बैठना, बड़ा होने तक उनके पास सोना, यह मेरे लिए सबसे बड़ी निधि है। जब मैं छोटा था दादी मुझे कितनी बार कहा करती कि जब तक मैं मालिश कराऊँ—मेरे पास बैठो। मजाल था कि मैं वहाँ से हटूं। घण्टों मैं वैसा-का-वैसा बैठा रहता।

कितनी ही बातें हैं—कहाँ तक याद करूँ—कहाँ तक लिखूं! एक बार मेरे मित्र मुझे बुलाने आये—माँ ने मना कर दिया—दादी के पास जाकर उनकी आज्ञा लेकर चला गया। मेरे लिए दादी की आज्ञा भगवान् की आज्ञा थी। मुझ पर दादी ने एक बार भी गुस्सा नहीं किया—ऐसा था उनका अपार प्यार—अथाह स्नेह! दादी ने मुझे पोता नही माना—हमेशा बेटों में गिना। दादी अब नहीं हैं—मुझे सूना-सूना लगता है, ऐसी निधि खो गई है, जिसकी पूर्ति इस दुनिया में नहीं।

मुझे अपने से शिकायत है कि मैंने कभी उनको 'दादी मा' क्यों नही कहा! 'माँ' की महिमा पर तो यह पुस्तक लिखी जा रही है और उसी शब्द के पहले दादी लगा दिया जाय, तो इस शब्द की महिमा-गरिमा सौगुनी बढ़ जाएगी—

आदित्य नाम पौत्रस्ते
पद्मा देवि पितामहि।
नौमि नम्रत्व भावेन
आशीर्वादाय त्वत्पदे।

दादी मां! मुझे आशीर्वाद दो—आपके श्रीचरणों में मेरा नम्र प्रणाम! ☐

(गुरु-कृपा-प्राप्त)

दादी का आकर्षण ।। अदिति

छोटी-छोटी गइया, छोटे-छोटे ग्वाल,
छोटो सो म्हारो नन्द गोपाल....।

यह लोरी मुझे मेरी दादी सुनाया करती थीं, जब मैं बहुत छोटी थी। मैं बड़ा रस लेकर इसे सुनती। आज तक मुझे यह लोरी याद है। मैं इसे भूलना नही चाहती।

दादी एक बहुत ही सीधी, भली और अच्छी महिला थी। वे हम सब बच्चों को बराबर का प्यार करती थीं। वह हम पर कभी क्रोध नही करती थी। इतनी बीमार होकर भी अगर हम उनके कमरे में हल्ला करते, तो वे हम पर गुस्सा नहीं करती थीं। हमारी बुआएँ, कोई चाचा, बाबा या मा ही टोका करते थे।

मेरी दादी को कहानी कहने का बड़ा शौक था। मैं उनसे बहुत सारी कहा-

नियाँ सुन चुकी हूँ। जब वे डाइलेसेस में जातीं, तो उनका समय कटता नहीं, तब मां उन्हें पुस्तकों से कहानियाँ पढ़ाकर सुनाया करती थीं।

दृढ़ता में मेरी दादी सबसे आगे थी। किडनी की बीमारी से उन्हें नमक खाना और अधिक पानी पीना मना था। हम उनके सामने भर-भर कर ग्लास पानी पीते, परन्तु वे कभी भी नहीं पीती।

उनकी यादास्त बड़ी तेज थी। अगर वे एक फिल्म देखती और देखने के बाद अगर कोई उन्हें उस फिल्म की कहानी पूछता, तो वे एक भी चीज नहीं भूलते हुए सारी कहानी बोल देती।

उनमें एक ऐसा आकर्षण था कि कोई भी, जो उन्हें जानता हो, उनको भूल नहीं सकता। वे बड़ी ही दयालु थीं।

उनके जाते ही घर में सन्नाटा आ गया, हम सब बड़े ही दुःखित हैं——उनके देहान्त पर। पर मुझे यह लगता है कि उनकी आत्मा भगवान् में लीन हो गई है, क्योंकि वे बड़ी ही भगवान् की भक्त थीं।

दादी की याद में ।। अनन्त

मुझ दादी बहुत पसंद थीं। जब मैं छोटा था, तब दादी मुझे अपनी गोदी में बैठाकर खाना खिलाती थीं। जब मम्मी मुझे डाटती थीं, तब दादी मेरी मम्मी को डाँट देती थीं। जब दादी विदेश इलाज कराने गई, तब दादी मेरे लिए बहुत सारा सामान लायी थी। मेरे कमरे की आधी से ज्यादा चीज दादी की ही दी हुई है। दादी हर रात को मुझे कहानी सुनाती थीं। वे मुझे बहुत प्यार करती थीं। जब दादी विदेश अपना इलाज कराने गई थीं, तब मैं दादी के लिए वेल-कम कार्ड बना रहा था। तब फिर मुझे यह दुःखभरी खबर मिली कि दादी भगवान् के पास चली गई।

दादी का प्यार ।। पल्लवी

मुझे मेरी दादी बहुत प्यारी थीं। वह हमें बराबर प्यार करती थी। दादी मुझे तरह-तरह की कहानियाँ सुनाती थीं। दादी मुझे फॉरेन से बहुत सामान लाकर देती थी। दादी बहुत प्यारी और देखने में सुन्दर थीं। दादी हमें कभी नहीं डांटती थीं। दादी हमेशा बीमार रहती थीं।

दादी के देहान्त के बाद दादी-घर बहुत खाली लगता है। मैं रोज दादी के फोटो के सामने पूजा करती हूँ। दादी के बिना मजा नहीं आता है।

प्यारी दादी मां ।। अमता

मेरी दादी मां बहुत प्यारी थी। वह मुझे कहानी सुनाती थीं। मुझे दादी को चुम्मा देने में अच्छा लगता था। वह मुझे बहुत सारी चीजें देती थी। अब वह नहीं हैं। मुझे बहुत सूना लगता है। जब मैं दादी को देखती थी, तब मुझे बहुत अच्छा लगता था। 'लव्ड दादी' एलीट में अमरीका नहीं जानेवाली थीं, लेकिन मैं दादी के जिद से गई। दादी इतनी बीमार थीं, फिर भी मुझे दादी ने अमरीका घुमाया। दादी जैसी महान् नारी मैंने कभी नहीं देखी।

भाभी जो मां थीं ।। सरस्वती भूपाल

भाभी उम्र में मुझसे काफी छोटी थी, पर फिर भी उन्होंने कभी मुझे मां की कमी महसूस न होने दी। जब से वे आईं उनका प्यार का स्रोत अबाध रूप से अविरल बहता रहा। जब भी मैं पीहर जाती, वे मेरे खाने-पीने का पूरा-पूरा ध्यान रखतीं। मेरी सभी सुख-सुविधाओं का उन्हें विशेष ध्यान रहता। इस तरह उनके स्नेह की छाया में पूरी तरह डूब कर रह गई। उनके चेहरे की स्मित-मुस्कान मुझे अनजाने ही आकृष्ट कर लेती। उनका सान्निध्य मुझे सुखद अनुभूति प्रदान करता। तीज-त्योहार के अलावा आये दिन भी वे कभी साड़ी, कभी जरूरत की अन्य वस्तुएँ देना न भूलती।

मां के रूप में तो मैंने भाभी को पाया था। पिता के देहान्त के समय जब मैं दुःख के अथाह सागर में अपने-आपको संभाल नहीं पा रही थी और अश्रु का वेग संभाले नहीं संभल रहा था, तब उसी भाभी ने आ मुझे बाँहों में भर लिया था और इन शब्दों से "बाईजी आज से मैं थारी मां-बाबू दोनों हूँ।" मुझे अन्दर तक भिगोकर रख दिया था। कितना असीम, अगाध प्यार था उन शब्दों में, जो दिल के भीतर तक ठंडक पहुँचा गया। उनके शब्द केवल शब्द ही नहीं थे, बल्कि उन्होंने सही माने में उन्हें चरितार्थ किया था।

आज मैंने "मां-बाबू" दोनों को खो दिया है। दिल को सँभालने की बहुत कोशिश करती हूँ, फिर भी आँसू बहे बिना नहीं रहते। उनकी याद सदा-सदा के लिए अब दिल में एक कसक-सी पैदा करेगी।

ढूंढती हूं उन्हें ॥ श्रीकान्ता

मां जो खो गयी,
कविता में ढूंढती हूं उन्हें।
दिल जो टूट गया,
छन्दों से जोड़ती हूं उसे।
आंसू जो बह चले
रोशनाई बनाती हूं उन्हें।
हृदय जो भीग गया
कागज़ भिगोती हूं उससे।
दुःख के पहाड़ जो गिरे,
आनन्दमूर्ति तराशती हूं उनसे।
मन जो रिक्त हुआ,
विराट् समेटती हूं उसमें।
मां जो खो गयी,
कविता में ढूंढती हूं उन्हें। □

पुण्यात्मा भाभीजी ।। जयदेव कनोई

पुण्यात्मा भाभीजी की तो अब यादें ही रह गई हैं। उनका नश्वर शरीर जरूर हमारे बीच नहीं रहा ; परन्तु, उनका स्नेह व सरल-सहज स्वभाव बराबर हमें उनकी उपस्थिति का आभास दिलाता रहेगा। वे एक मृदुभाषी, कोमल हृदया व धर्मपरायणा नारी थीं। गरीबों व दीन-दुखियों की सेवा में उनका मुक्त हस्त सदा खुला रहता।

भाई साहब के असामयिक देहावसान के गहन गंभीर आघात की पीड़ा को सहन करते हुए वे अपनी पारिवारिक, व्यावसायिक एवं औद्योगिक जिम्मेदारियों के प्रति सदा सचेत रहीं। साथ ही बच्चों को धैर्य-धीरज बँधाते हुए उनका उचित मार्गदर्शन करती रहीं। महात्मा गांधी का परम लोक-प्रिय भजन—

वैष्णव जन तो तेने कहिये
जे पीर पराई जाने रे।

उन पर पूर्णतः साकार एवं सार्थक सिद्ध होता है।

स्मृति के गवाक्षों से ।। राधेश्याम कनोई

परिवार की वरिष्ठ सदस्या होने के नाते भाभीजी (पद्मादेवी कनोई) मेरे अत्यन्त समीप तो थी हीं, किन्तु १९४८ से १९५३ के बीच एक साथ रहने के कारण हम एक-दूसरे के समीपतर तथा पुनः समीपतर हो गए। तब मेरा परिवार भी उनके परिवार के साथ २३८, चित्तरंजन एवेन्यू व बालीगंज स्थित मकान में रहता था। भाभीजी अत्यन्त सरल स्वभाव की महिला थीं। मनसा, वाचा, कर्मणा से वे हमें अपने निकट समझती थी। उसे उनकी महानता, विशाल हृदयता, औदार्य और समदर्शिता ही मानता हूँ।

भाभीजी छल, कपट, प्रपंच, स्वार्थपरता आदि से सर्वदा कोसों दूर रहीं। अपने सेवक-सेविकाओं के साथ भी उनका व्यवहार बड़ा सहानुभूतिपूर्ण था। उनके दुःख से वे द्रवीभूत हो जाती थीं और यथाशक्ति उनके कष्टनिवारण में सहयोग प्रदान करती थीं। १९६२ में जब प्रांतीय तनाव की स्थिति उत्पन्न हुई तब भी भाईजी-भाभीजी ने न केवल हम लोगों को साथ रखने का प्रस्ताव किया, बल्कि इसके लिए प्रेम-पूर्ण दबाव भी दिया। अपनापन की उनकी अनेक घटनाएँ आज अनायास ही स्मरण हो आती हैं।

विगत ६-७ वर्षों से वे अस्वस्थ रहने के उपरान्त भी वे नहीं चाहती थीं कि उनके कष्ट से परिवार के अन्य लोग व्यथित हों। मुरली, ओ३म तथा अन्य सन्तानों ने तन-मन-धन से उनकी जो सेवा की उसका उदाहरण इस स्वार्थी जगत्

में कम ही मिलता है। यद्यपि आज उनका पार्थिव शरीर हमारे बीच नहीं है, तथापि स्मृतियाँ हमारा पथ-प्रदर्शन करती हैं और भविष्य में भी करती रहेंगी।

मेरा पिघलता हठ ॥ श्यामसुन्दर कनोई

पूजनीय चाचाजी मेरे गुरु थे, चाची में मैंने ममतामयी मां, स्नेहमयी भाभी और एक सच्चे मित्र के दर्शन किये। हम एक ही उम्र के थे, किन्तु पद में बड़ी मेरी भाभी स्वरूपा चाची को मैं अपने मन की सारी बात कह देता। वह मेरी सारी उलझन, समस्याएँ हँसते-हँसते दूर कर देती। मैं महा जिद्दी था, किसी बात पर अड़ जाता तो क्या मजाल कोई मना ले, पर मेरा हर हठ उस वात्सल्य-मयी देवी के आगे फौरन पिघल जाता, मैं झट उनकी बात मान जाता। उनके स्नेहासिक्त डाँट के आगे मेरा हठीला स्वभाव भी नहीं ठहरता। चाची भी मेरी कोई बात नहीं टालतीं। पैंतीस वर्षों के सान्निध्य में मुझे जो स्नेह और ममता, अनुराग और अपनत्व प्राप्त हुआ, उसकी गाथा कहाँ तक लिखूं !

अन्तरंगता ॥ कमला देवी कनोई

ममतामयी मां के प्यार से जहाँ मैं सराबोर हो उठती, वहीं गुरु की-सी शिक्षा से अनुगृहीत विशाल हृदया मां के समक्ष बैठ मन की सारी भ्रांतियां दूर हो जातीं और खुले मन से घण्टों समय भूल हम बातों में संलग्न हो जाते। कभी शुरू होता भजनों की लयबद्ध कड़ियों का कार्यक्रम। कभी मन की अन्तरंग बातों का सिलसिला और कभी जीवन को धन्य बनानेवाली उनकी नसीहत।

सिर्फ हम दोनों ही नहीं, हमारे बच्चे भी उनके स्नेहनीर से अभिषिक्त होते रहे। बहुओं पर भी उनका असीम अनुराग था। उन्हें खोकर सभी उस ममता-मयी मां के स्वरूप से वंचित हो गये हैं।

ममतामयी मां ॥ गौरीशंकर कनोई

गणेशवाड़ी चाय बगीचे से जब मैं पहली बार कलकत्ते के कोलाहलपूर्ण दम-घोंटू वातावरण में कदम रख रहा था, तो यह शहर न जाने कितना पराया-सा लग रहा था, उसमें चाची मां बनकर प्यार से माथे पर हाथ फेरती हुई अगवानी के लिए खड़ी थीं। सभी की कुशल-क्षेम पूछती हुई वह कब मेरी ममतामयी मां बन गईं मुझे नहीं मालूम ! धीर-गंभीर चाची गृहस्थी के कर्मों को तन्मयता से करतीं, अन्नपूर्णा बन सदा हमारी इच्छा का ध्यान रखतीं एवं मुस्कुराती रहतीं। यदा-कदा अवकाश मिलने पर अध्ययन में भी रुचि लेतीं।

अगस्त १९५० में मैं ज्वर-ग्रस्त हुआ। डाक्टर किष्टो वावू (के० के० दत्त) का इलाज चल रहा था। वुखार उतरने का नाम ही नहीं ले रहा था और वाद में पता चला कि टायफायड हुआ है। कुछ दिनोपरान्त चाची और मुरली के भी टायफायड हो गया। अव घर में तीन-तीन प्राणी वुखार में पड़े थे, क्लोरो-माईसेटिन केपसूल लगातार दिए जा रहे थे। लेकिन डेढ़-दो महीना निकल जाने पर भी मेरा वुखार उतरने का नाम ही नहीं ले रहा था।' मुरली और चाची, की तवीयत थोड़ी-थोड़ी ठीक हो चली थी, डाक्टर ने उन्हें पथ्य लेने को कह दिया था। हमारी शुश्रूषा के लिये एक नर्स थी। उसी से मालूम हुआ कि काकी मा को डाक्टर ने पथ्य लेने को कहा है, लेकिन वह इसीलिए नहीं ले रहीं, क्योंकि अभी डाक्टर ने मुझे ऐसी इजाजत नहीं दी थी। मैंने सिस्टर से कहा कि वे मुझे चाची के पास ले चलें, इस पर नर्स ने मुझे विस्तर से न उठने की कड़ी ताकीद दी। उसने स्वयं ही अपने ऊपर यह भार ले लिया कि वह चाची को खाने के लिए मना लेंगी। मैं चाची के स्वास्थ्य के प्रति चिन्तित हो उठा और उनकी ममता के आगे श्रद्धा-वनत हो सिस्टर के भोजन के लिए वाहर जाते ही चाची को मनाने के लिए आगे वढ़ा। दो कदम भी न चल पाया था कि चक्कर खाकर दरवाजे की चौखट पर गिर पड़ा। जव होश आया तो देखा नर्स सामने खड़ी है और चाची सिरहाने वैठी मेरे माथे पर हाथ फेर रही हैं। मैंने पूछा—तुमने पथ्य क्यों छोड़ रखा है, पहले ही इतनी कमजोर हो, यदि कुछ हो गया तो? मैं इतना कह उनकी गोद में मुंह छुपाकर रोने लगा और वे मुझे समझाती-वहलाती रहीं।

स्नेहमयी चाची जिसे प्यार से 'मां' कहता अस्वस्थ रहा करतीं। एक वार मैं अपनी पत्नी विमला के साथ उनसे मिलने गया। डायलिसीस का दिन न होने की वजह से मां (चाचीजी) मुरली के कमरे में वैठी मिलीं। देखते ही मां ने कहा आओ गौरी। प्रणाम करके हम दोनों मां के पास ही वैठ गये। हम उनकी तवीयत के वारे में कुछ पूछते, उसके पहले ही वह हमसे सारे परिवार के हालचाल पूछती रहीं और मैं वैठा सोचता रहा कि इतनी खराव तवीयत होने के वावजूद भी वीमारी का जिक्र तक नहीं।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते

की अनुपम मूर्ति 'वन दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।' जीवनपर्यन्त साधना करती रहीं।

चाची अपनी लम्वी वीमारी में नाप-तौल मात्र से मिलते जल को अमृत मान कर अपनी मृदु वोली से अनगिनत लोगों के दुःखों पर मरहम-पट्टी करतीं एवं मुस्कु-राती रहीं।

किसी प्राणी को मन, वचन और कर्म से कष्ट दिया हो नहीं। वे सदैव परमपिता परमेश्वर के द्वारा मानवमात्र को दिये गये आत्मज्ञान [illegible] में अटूट विश्वास रखते बिना फलेच्छा "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" में निहित आदर्श का अनुसरण करती हुई प्रभु के चरणों में लीन हो गईं।

स्नेह भरी बातें ॥ ईश्वरी कनोई

सन् १९२१ की बात है, मैं अध्ययनार्थ चाचीजी के पास कलकत्ता भेजा गया। मेरे साथ महावीर भी आया। कलकत्ता उन दिनों [illegible] से आना एवं वह भी हवाई जहाज से, एक बहुत बड़ी बात समझी जाती थी। कलकत्ता आने पर बड़ाबाजार के मकान में चाचाजी के पास रहते थे। बहुत ही सादगी का जीवन था। कभी दिन में भूख लगती, तो शर्मा की दुकान से सिंघाड़े मंगवाकर खाने की इच्छा होती, पर पाकेट में पैसे रहते नहीं। चाचाजी से मांगना होता, पर मांगने के पहले आपस में झगड़ा होता, वह कहता—तू जाकर मांग, दूसरा कहता—मैंने पहले दिन मांगा था, आज तेरी पारी है। धीमे पाँव जाते, मांगते। और चाचाजी हमें दे देते। जिस दिन चाचीजी मंगवातीं उस दिन चाचीजी के कमरे में ही बैठ कर नाश्ता होता, तश्तरी की जरूरत नहीं पड़ती, पत्तों में ही नाश्ता हो जाता था। बहुत आनन्द आता, जो आज चांदी की रकाबी में भी नहीं आता है।

बड़ाबाजार के मकान में चाचीजी एक बार अस्वस्थ हुईं, बहुत सर में पीड़ा थी। उस दिन मैं सुबह से शाम तक इनका सर दबाता रहा। इनकी पीड़ा देखी नहीं गई, मैं सर दबाते जा रहा था, रोते जा रहा था। उस दिन की सेवा से चाचीजी बहुत प्रसन्न हुईं। शाम को चाचीजी घर आयीं, तो बेहोशी अवस्था में ही चाचाजी को कहा कि मेरी सम्पत्ति में से आधी ईश्वरी को एवं आधी कृष्णा को दे दें। कितना महत्व था। कभी कोई गलती करते, तो चाचीजी के सामने डर लगता, हम उस दिन छिपते फिरते। हालांकि चाचीजी कभी भी ऊँचे स्वर में नहीं बोलतीं, जब पास जाते तो सिर्फ आंख के इशारे से मुझे बतातीं कि आज तूने गलती की है, पर मैंने माफ कर दिया—कितनी सहनशीलता थी।

आज भी कभी आपस में चर्चा होती है तो मुझसे चाचीजी के जीवन का ज्वलन्त उदाहरण—जो मिठास, धैर्य से भरा था, दिये बिना नहीं रहा जाता। चाचीजी जब अस्वस्थ हुईं, मैं बहुत कम मिलने गया, इसका मुख्य कारण था कि मन में इतना मोह था कि सामने जाकर आँखें रो देंगी, हिम्मत ही नहीं होती। आज चाचीजी हमारे बीच नहीं हैं, पर जितना इनसे सीखा है, उतना ही जीवन का लक्ष्य मानकर चलूं तो भी जीवन आसान लगेगा।

मेरी अभिभाविका—चाचीजी ॥ महावीर प्रसाद कनोई

जब मेरी उम्र करीब नौ वर्ष की थी, तभी मुझे कहा गया कि अध्ययन करने के लिए आसाम छोड़कर कलकत्ता जाना है, तब एक खुशी, कुतूहल, साथ ही घबराहट मिला-जुला अनुभव हुआ। कलकत्ता महानगर सब कुछ नया था। यहाँ चाचाजी लालचन्दजी एवं ममतामयी चाचीजी मिल गईं, तो घर का ही स्नेह-प्यार पुनः मिल गया। ऐसा मुझे लगा कि घर छोड़कर भी घर में ही आ गया हूँ।

चाचीजी को मैं अपनी प्रथम अभिभाविका मानता हूँ। चाचीजी एवं चाचाजी की छत्रछाया में पढ़ाई करने का सुअवसर मिला और साथ ही मिली जीवन की दीक्षा। समय पर उठना, अपना कार्य करने में सावधानी रखना, स्वावलम्बी बनना, कार्यरत रहना और छोटे-बड़े के प्रति स्नेह, आदर, शिष्टता का भाव रखना—यानी मेरे लिए पूज्य चाचीजी—केवल चाचीजी ही नहीं थीं, बल्कि मेरे लिए 'पथ-दिगदर्शिका' थी। चाचीजी स्नेहिल थीं, सर्वदा कर्त्तव्य के प्रति जागरूक थीं और सद्‌गुणों की पुजारिन थीं।

पाँच-छः वर्षों पश्चात् हमलोग अलग रहने लगे थे, तो भी इनका प्यार और प्रोत्साहन मुझे हमेशा मिलता रहा। मैं जब बी० ए० में उत्तीर्ण हुआ, तब चाचाजी प्रेमाविभूत हो बधाई देनेवालों में अग्रणी थे एवं चाचीजी की खुशी का भी कोई पार नहीं था।

इधर मेरी पत्नी सुलोचना के प्रति चाचीजी का अथाह स्नेह था—दोनों में प्रगाढ़ आत्मीयता थी। चाचीजी मेरे परिवार, मेरे बच्चों से भी निविड़ भाव से जुड़ी हुई थीं।

मैं जब उनसे मिलता, तो उनका वह अभिभाविका का स्वरूप मेरे सामने सदैव मूर्तिमान हो जाता और मैं श्रद्धा से विनम्र हो जाता। आज चाचीजी मेरे साथ नहीं हैं, फिर भी उनकी प्रेरक बातें मुझे याद आती हैं और आती रहेंगी।

चाची मां ॥ जगदीश प्रसाद कनोई

वसुन्धरा, वसुमती, धरती, धरित्री आदि नामों में जो त्याग, सहनशीलता, ममत्व, जीवनदायिनी तत्व और विराटता है, इन्हीं कारणों से इसे मां कहते हैं। इसीलिए मनुष्य मां के सम्मुख नत-मस्तक होता है। मुख पर अनवरत मुस्कान, हृदय में अपार ममता और विचारों में अटूट विश्वास तथा दृढ़ संकल्प—ये ऐसे गुण थे, जिनके कारण चाची को "चाची मां" कहने के लिए प्रेरित हुए थे।

कनोई परिवार की इस समृद्धि, सम्पन्नता तथा प्रसिद्धि में जितने लोगों ने योगदान किया है, उनमें चाची मां का वहुत वड़ा हाथ रहा है। मिष्ठभाषी इतनी थीं कि कुछ ही पलों में अपरिचित और अनजान भी उनके अपने वन जाते थे। हर समय अधरों पर मोहनी मुस्कुराहट खेला करती। वे वड़ी ही उदार थीं। गरीव, असहाय और अभावग्रस्त मनुष्य सदा उनके कृपाप्राप्त वने रहते। धार्मिक भावना तो उनमें कूट-कूट कर भरी थी। पजा-पाठ, दान-दक्षिणा और साधु-सन्तों की सेवा-सत्कार में लगी रहतीं, किन्तु परिवार के सभी कार्यों की ओर उनका ध्यान रहता। उनके मुखमण्डल पर अद्भुत तेजस्विता, आत्मविश्वास और गहन चिन्तन-रेखा जगमगाती रहतीं। हम लोग उनके पास जाते ही उनके एक अपूर्व जादू से मुग्ध हो पास घण्टों बैठे रहते। उनकी वातें, उनके उपदेश-आदेश और जीवन-संवंधी सुझाव-सलाह हमारे लिए ब्रह्म वाक्य जैसे थे।

चाची मां आज हमारे बीच नहीं हैं, पर उनकी ममता, विशालता, उदाहरता, आत्मविश्वास, अपनापन आदि सभी मानो सजीव हो पग-पग पर हमारा मार्ग निर्देशन कर रहे हैं। हृदय-मन दोनों पूछते हैं—वे चाची मां, हम सबकी मा, कहाँ गईं ? वे हमारे लिए वसुन्धरा, वसुमती और धरित्री थीं !

मामीजी में मां ।। श्री प्रकाश भूपाल

'मातृदेवो भव' अर्थात् मां देवता होती हैं—यह लिखनेवाले के लिए देवता का सम्मान सर्वोच्च रहा होगा। पर मेरे लिए 'देव' एक कल्पना है, एक विश्वास है, विश्वास से उपजी हुई एक शक्ति है, इसे मैंने साक्षात् देखा नहीं है। और वहुतों का तो देवता पर विश्वास ही नहीं होता है। अतः जो वस्तु देखी ही न हो, जिसका कोई प्रमाण न हो, उससे 'मा' की तुलना करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। मां का जो स्वरूप मैंने देखा है, वही मेरे लिए सर्वोच्च है, उससे ऊँची मेरे लिए कोई चीज नहीं है, वह अतुलनीय है।

मुझे दो माताओं के सान्निध्य का सुअवसर मिला है। एक वह माता, जिसने मुझे जन्म दिया और मेरे वाल्यकाल की सव प्रतारणाएँ सहीं। दूसरी मेरी मामीजी जिनके पास मैं वारह साल की उम्र से रहा और मेरे याद रखने वाले सारे दिन जिनकी गोद में वीते, जिन्होंने मुझे कभी भी अपने वच्चों से अलग नहीं समझा, उनसे कंही ज्यादा प्यार दिया, अपना समझा। ऐसे कितने ही मौके आये जव उन्होंने मेरे लिए मेरे मामाजी से भी झगड़ा मोल लिया, अपना धर्म-कर्म भूलकर भी मेरा पक्ष लिया। अपने वच्चों के लिए सव कुछ करना

तो मातृधर्म होता ही है, पर दूसरों को अपनों से ज्यादा समझना ही इस धर्म की पराकाष्ठा है। शायद इसीलिए हर स्त्री को बंगला भाषा में मां कहा जाता है, क्योंकि मां से ज्यादा सम्माननीय कोई शब्द अभी तक इजाद नहीं हुआ है।

मैंने अपनी मामीजी में जो विश्वास, लगन, सेवा-भावना, त्याग, सहनशीलता देखी है, वह एक मां में ही पायी जा सकती है, और कहीं नहीं। उनके सान्निध्य में रहने का, उनसे कुछ पाने का सुअवसर मिला, इसका मुझे फक्र है। जटिल से जटिल परिस्थिति में भी वे सदा अडिग रहीं और उनके इस गुण का लाभ हम लोगों को समुचित मिला। उन्होंने कठिनाइयों से लड़ते रहने की हमें शिक्षा ही नहीं दी, इसे हमारे जीवन एक अभिन्न अंग बना दिया।

मेरी मामीजी स्नेह का तो स्रोत थीं। जो भी उनसे एक बार मिला, उनका हो गया, उनके मातृस्वरूप प्रेम में खो गया। एक प्रत्यक्ष प्रमाण यह था कि भाषा कभी भी उनके मातृभाव में बाधक नहीं बन सकी। सामनेवाला कहीं का भी क्यों न हो—चाहे वह अंग्रेज हो या अमरीकन—जिनका उनसे अपने इलाज के दौरान काफी मिलने का मौका पड़ता रहा, उनके मातृभाव से प्रभावित हुए बिना न रह सका और वह उन्हें 'मां' छोड़कर अन्य किसी शब्द से सम्बोधित न कर सका।

मैं तो यह कहने को तैयार हूँ—मां, मां ही होती है और कुछ होती है, तो मां पद्मादेवी होती हैं।

क्रिकेट का धूम धड़ाका ।। पुरुषोत्तम कनोई

'बड़ी मां' के बारे में सोचते ही उनका ओजपूर्ण व्यक्तित्व, तेजस्वी, ममतापूर्ण चेहरा आँखों के सामने नाचने लगता है। वे साक्षात् ममता और करुणा की देवी थीं। हम बच्चों पर तो उनके स्नेह की वर्षा हर पल, हर क्षण अनन्य रूप से होती रहती थी, जिसमें भीग हम निहाल रहते थे।

क्रिकेट का मौसम और हम सब बच्चों की चिल्लपों, भागा-भागी, दौड़ा-दौड़ी। हम बच्चों की पूरी टीम बालीगंज में इकट्ठी हो जाती। रविवार के दिन तो पूरा ही धावा बोला जाता। खेल के दौरान कितने ही गमले और खिड़की के काँचों की शामत आती, यह कहना मुश्किल है। पर 'बड़ी मां' के चेहरे पर कभी क्रोध के भाव न होते। वहाँ तो होती वही चिर-परिचित मधुर मुस्कान। वे इतना होने पर भी हमेशा हमें खेलने के लिए प्रोत्साहित करतीं। डाँटना तो उन्हें आता ही न था, पर फिर भी हम बच्चों ने उनकी आज्ञा का उल्लंघन कभी नहीं किया। आज भी जब क्रिकेट की उस दुनिया में पहुँचता हूँ, तो बीते दिन सामने आ जाते हैं।

परिवार की कर्णधार ।। परसराम बावरी

बाल्यकाल से ही इस बालिका में शिष्टता, सौम्यता और अल्हड़ता थी और साथ ही प्रखर बुद्धि। वह एक आदर्श पत्नी, आदर्श माता थी। ३४ वर्ष की उम्र में उनपर इतना बड़ा वज्रपात हुआ कि पूरा परिवार एक बार हिल उठा। पर इस गंभीर नारी ने परिस्थिति को समझते हुए समस्त परिवार, कारबार की बागडोर अपने हाथ में ले ली। डूबते हुए परिवार को इस विषम परिस्थिति से उबार लिया। अपने परिवार की एकता और अनुशासन बनाये रखने के लिए उन्होंने अपार धैर्य और साहस का परिचय दिया।

मधुर मुस्कान ।। आनन्दी बावरी

जब मैं कलकत्ते में रहती हम घण्टों फोन पर बातें करती, समय का ज्ञान ही नहीं रहता। मैं उनकी बहन थी, अन्तरंग सखी थी, फिर भी अपना दुःख, व्यथा या कष्ट के भाव वह कभी प्रकट नहीं करतीं। चेहरे पर कभी भी उदासी नहीं रहती, हमेशा एक चिरपरिचित मधुर मुस्कान बिखरी रहती। बच्चों पर उनका अगाध प्रेम था। उनका सब काम वे अपने हाथों से ही करतीं। कभी आया पर निर्भर नहीं रहतीं। रात के अन्धकार में भी अगर बच्चे के लिए दूध गर्म करना हो, तो वे खुद ही करतीं। मैं अक्सर उनसे मिलने जाती, मुझे याद नहीं कभी बिना भोजन किये बगैर उन्होंने मुझे जाने दिया हो। कभी-कभी बिना भूख के भी उनकी ज़िद के सामने मुझे हार माननी पड़ती।

हँसमुख चेहरा ।। रुकमनी देवी हँसारिया

पानी बाई बहुत ही दयालु एवम् हँसमुख व्यक्तित्व वाली थीं। वह जब भी हमारे यहाँ आती थीं, उनको देखकर पूरे परिवार में खुशी की लहर दौड़ जाती थी। यद्यपि आज वह हमारे साथ नहीं हैं, पर फिर भी उनका हँसता हुआ चेहरा आज भी हमारी आँखों के आगे घूम रहा है।

बहन में छिपा मातृत्व ।। गौरीशंकर हँसारिया

मेरी बाई थी तो मेरी बहन—पर, साथ-साथ छिपाये थी—मातृत्व की विशालता, उनका असीम अनुराग सदा मुझ पर तथा मेरे परिवार पर—सब के बारे में छलकता रहता था। हम जब भी कलकत्ता जाते, बाई अत्यधिक आदर-सत्कार करतीं, मुस्करा कर पूछतीं तथा वहीं रहने का मधुर आग्रह भी करतीं। उनके प्यार भरे आग्रह की उपेक्षा करना मेरे लिये यदा-कदा असम्भव हो उठता और मुझे वहीं रुकना पड़ता।

मेरी सेहत का उन्हें बहुत ध्यान रहता। मेरी पत्नी और मेरे बच्चे उनकी स्नेहिल-धारा से सदा सिंचित-पुलकित होते रहे।

मां.....सी ।। निर्मला

हम अपने जीवन में अनगिनत लोगों के सम्पर्क में आते हैं, पर उनमें से कुछ हमारे दिल मे एक ऐसी अमिट छाप छोड़ जाते हैं, जिन्हें भूल पाना हमारे लिए संभव नहीं। मां...सी भी मेरे जीवन में उसी तरह आई। उनका प्यार आज भी मेरे रोम-रोम में बसा है। वे मुझे मेरी मां से भी ज्यादा प्यार करती थीं।

आज जब सोचने बैठती हूँ, तो अनगिनत स्मृतियाँ मानसपटल पर उभर आती हैं। वे हर चीज की पूरी-पूरी जानकारी हासिल करना पसन्द करती, काम को अधूरा छोड़ना उन्हें पसन्द न था। एक बार मैं स्वेटर बुन रही थी, उन्होंने स्वेटर के बारे में—जैसे घर बन्द करना, डिजाइन बनाना के बारे में—कुछ जानकारी हासिल करना चाहा। मैंने कहा—"लाइये मैं बना देती हूँ।" पर उन्होंने स्वयं सीखना चाहा और कहा कि आज तो तुम बना दोगी, पर जब तुम नहीं रहोगी, तो कौन बनाएगा ? इस तरह किसी भी चीज के लिए दूसरों पर निर्भर करना उन्हें पसंद नहीं था।

सन् १९८३ के जून का वह दिन आज भी मेरी स्मृति में कौंध जाता है, जब मेरे लड़के की सगाई पक्की हुई थी। मां कलकत्ते में नहीं थीं, मैंने मांसी को ही सबसे पहले फोन किया था, उस समय उनकी डाइलिसिस चल रही थी, इसलिए बात न हो सकी। मेरा मन बड़ा आकुल-व्याकुल हो रहा था, उसी समय फोन की घण्टी ने मुझे चौंका दिया। फोन पर मांसी मुझे बधाइयां दे रही थीं। मैं हतप्रभ-सी रह गई। मैंने मांसी से कहा, डाइलिसिस के बाद आपकी तबीयत इतनी खराब हो जाती है, आप कल बात कर लेतीं। पर उनका यह जवाब—"खुशी के इस मौके पर मैं कलतक कैसे इन्तजार कर सकती थी।" मेरे रोम रोम को आज भी रोमांचित कर देता है।

मेरी समधिन—मेरी सहेली ।। सुशीला पंसारी

जब-जब उनकी याद आती है, तो कवि की यह पंक्ति 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो !' मन, मस्तिष्क पर अंकित हो जाती है। वे श्रद्धा-पात्र तो थी हीं, साथ ही अपनत्व एवं आत्मीयता की मूर्ति, मेरी समधिन, सहेली और सलाहकार भी थी। उनके निर्मल हृदय का प्रकाश उनके गंभीर एवं मूक चेहरे को सदैव ही देदीप्यमान करता रहता था। ममत्व की वह प्रतिमा मेरे सम्पूर्ण परिवार को अपने परिवार का ही अंग बना चुकी थी। शारीरिक और मानसिक कष्टों की सदैव अवहेलना

करती हुई वे दूसरों के कार्य में हर्ष एवं उल्लास के साथ सम्मिलित होती रहीं। वह इस दुनिया में नहीं हैं, परन्तु उनकी स्मृति आज भी हृदय पर अंकित है।

संगम ॥ ओमप्रकाश धानुका

भारत मां की पवित्र भूमि ने युगों-युगों से हर युग में अपनी-सी मां उत्पन्न कर पीढ़ी-दर-पीढ़ी को आगे बढ़ना सिखाया है। आधुनिक युग में, नारी की हर महानता, व्यावहारिकता, सहनशीलता, दयालुता, कठोरता का पर्याय बन-- सब को प्यार के आंचल में छिपानेवाली 'एक मां' श्रीमती पन्नादेवी से मेरा सम्पर्क कम, पर बड़ा करीब रहा। जब कभी भी मुझे उनसे संक्षिप्त वार्ता का मौका मिला, मैं तथा मेरे परिवार के अन्य लोग उनके शान्त, सुमधुर व्यवहार से प्रभावित हुए बिना न रह सके। शालीनता और दृढ़ता का अनोखा संगम, मातृत्व और पितृत्व का अनोखा मिश्रण, शासन और मैत्री का अद्भुत मिलन-- मैं देख पाया तो उनमें।

चिर स्मरणीया समधिन ॥ श्रीमती दयाकान्ति देवी

भगवान् काल का चक्र अप्रतिहत अबाध है। इसकी परिधि से बाहर कोई वस्तु या व्यक्ति हो ही नहीं सकता। इसी कालक्रम से सबका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। जैसा की गीता में भगवान् ने कहा है—

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इति। इसमें किसी का वश नहीं। संसार का यह एक अनिवार्य अङ्ग है। अतः विवेकी वह है, जो इसे सहर्ष स्वीकार करता है।

संसार के इस आवागमन में बहुत-सी चीजें भुला दी जाती हैं! और कुछ बहुत दिनों तक स्मरण रहती हैं। किन्तु काल के इस आवरण में स्मरण रहनेवाली बहुत कम चीजें या व्यक्ति हुआ करते हैं। अपने विशेष गुणों से कालजयी व्यक्तित्व अपना अमिट छाप छोड़ जाता है, कुछ सीख दे जाता है और एक आदर्श स्थापित कर जाता है। ऐसे ही चरित्रों में से हमारी समधिन स्वर्गीया पन्नादेवीजी थीं। उनकी सामाजिकता, सरलता, मृदुभाषिता, वाग्मिता, समता आदि कतिपय ऐसे विशेष गुण थे, जिससे उनकी स्मृति सदा सजीव बनी रहती है।

मेरा जब भी कलकत्ता रहना होता था, तब कुछ समय उनके पास भी व्यतीत होता था। कभी भगवान् के विषय में भी चर्चा होती थी, उन्हें काफी ज्ञान था तथा कोई-न-कोई भजन के माध्यम से भगवान् के स्वरूप का वर्णन भी करती थीं। मुझे भी इसी प्रकार का शौक था, बहुत ही अच्छा लगता था। हर-एक व्यक्ति

से मिलती थीं, चाहे वह छोटा हो या बड़ा। बहुत मिलनसार स्वभाव था। और घर के हर व्यक्ति से काफी लगाव था, सब छोटे-बड़े उनका सम्मान करते थे।

कुछ व्यक्तियों में कोई-न-कोई विशेषता होती है, जिससे उस व्यक्ति को हर-एक याद करता है। ऐसी ही हमारी समधिन पद्मादेवीजी थीं।

मेरी प्यारी समधिन ।। कला बजाज

मेरी समधिन श्रद्धा की प्रतिमूर्ति थीं। यों तो नारी श्रद्धा की अविरल सुरसरिता (गंगा) होती है, किन्तु वह तो इसकी सजीव प्रतिमूर्ति ही रही हैं। स्मरणमात्र से गला रुँध जाता है और कपोल श्रद्धाश्रु से भींग जाते हैं। भला मैं उन्हें भूल भी कैसे सकती हूँ! उनका सबके साथ श्रद्धा और स्नेह से मिलना, नम्रता और मृदुता से सम्बोधित करना आज भी आँखों के सामने चलचित्र-सा प्रतिभासित होता है। साधारणत: बीमार अवस्था में लोग चिड़चिड़े स्वभाव के हो जाते हैं और मुखमण्डल पर उदासी एवं अवसाद की रेखा खिंची रहती है। किन्तु उस अवस्था में भी वे सौम्य एवं माधुर्य की प्रतिमूर्ति बनी थीं। मैं जब भी उनसे मिलने जाती, वे बड़े ही उल्लास और शांतभाव से मिलती थीं। थोड़े में हम कह सकते हैं कि वे मानव रूप में देवी थीं और मैं सदा उनके नम्र व्यवहार पर नतमस्तक रहूँगी। उनकी स्मृति में अब मैं भगवान् से यही प्रार्थना करती हूँ कि उस दिवंगत महान् आत्मा को शांति प्रदान करे। आज वे हमारे साथ नहीं हैं, किन्तु साथ रह गई हैं—उनकी मधुर यादें। मैं उनके चरण कमलों में श्रद्धांजलि अर्पित करती हूँ—

दया, धर्म, करुणा, मृदुता संकलित थे तेरे अधीन।
अर्पित तेरे चरणों में शत-शत प्रणाम समधीन।।

इच्छा-मृत्यु ।। किरण बजाज

उस रात शोभा की सास का पार्थिव शरीर न्यूयार्क से बम्बई आ रहा था। एयरपोर्ट पर मुरली भैया से मुन्ना भैया तक के शून्य चेहरों को देखकर मेरा हृदय थर-थर काँप रहा था। शोभा ने आज अपनी दूसरी मां खोदी थी। पूरी रात होटल में हम स्तब्ध रहे। तड़के देवी मां को अन्तिम गन्तव्य पर जाना था।

मां से मेरा परिचय शोभा की शादी के समय से ही है। जब भी मैं कलकत्ता गई, उनसे मिलने अवश्य गई। उनके पास बैठकर बड़ा अच्छा लगता था। वे थोड़ा बोलतीं, किन्तु आँखों से अपना प्यार ढुलकाती रहतीं। जब मैं उठने को होती, तो कहतीं—"आप जाएँगी!" मानों कह रही हों अभी और बैठिये ना।

वह सचमुच घर की श्री थीं। मां का प्यार बच्चों पर स्वाभाविक है, पर ऐसी मां की मिशाल अभी तक देखने में नहीं आई। पिछले छः वर्षों से भीष्म-पितामह की तरह शरशय्या पर लेटे-लेटे बच्चों पर अपना प्यार बरसाती रहीं। उन्हें हौसला देती रहीं। घर-परिवार में ही नहीं, व्यवसाय में भी पुत्रों का पथ-प्रदर्शन करती रहीं। शरीर से त्रस्त होकर भी खुद का रोना उन्होंने कभी नहीं रोया। अपने जीवन के ढलते सूरज को अस्त होने से बचाये रखा। फिर एक दिन, चुप-चाप इच्छा-मृत्यु को बुला लिया।

इतना वात्सल्य ।। उषा गुप्ता

संसार में मातृप्रेम सबसे श्रेष्ठ है, हर मनुष्य के हृदय में अपनी जननी के प्रति। मनुष्य के हृदय में अपनी जननी के प्रति स्वाभाविक प्रेम होता है।

मां दया, करुणा और त्याग की मूर्ति थीं। उनका हृदय विशाल था। मुझे उनसे मिलने का कई बार सौभाग्य प्राप्त हुआ। कुछ ही समय में मुझे उनसे इतना ममत्व मिला कि मुझे कभी अपनी मां की कमी महसूस नहीं हुई। उन्होंने मुझे इतना स्नेह और वात्सल्य दिया, जितना कि मेरी अपनी मां ने भी नहीं दिया होगा। वे निःस्वार्थ भाव से सबकी सेवा करने को तत्पर रहती थीं और बड़े-से-बड़ा त्याग करने में भी नहीं हिचकती थीं। हम सभी को उनके दिखाए मार्ग पर चलना चाहिए और मुझे पूर्ण विश्वास है कि उनका आशीर्वाद सदा ही हमें मिलता रहेगा।

उषा से अस्ताचल ।। श्याम माथुर

मैं आज जो कुछ अपने संस्मरणों में लिखने जा रहा हूं, वह एक ऐसी मां के साथ बिताये समय की दास्तान है, जिन्होंने समय के तूफान में अपने परिवार की परवरिश अपने आँचल की छाँव में छुपाकर ही नहीं—वरन् भगवान् श्रीकृष्ण की तरह गिरिराज को ऊँगली पर उठाकर की थी। कितने ही वज्रपात हुए, लेकिन सारा परिवार मां के द्वारा उठाये गए गोवर्धन के नीचे—अपने अस्तित्व को कायम रख सका—टिक सका।

ऐसी मां को सिर्फ दयामूर्ति की उपमा देना मां की महत्ता को कम करना है। तभी तो मैंने अपनी इस मां को सर्वदा सूर्य के रूप में देखा है और उपमा भी अगर दूगाँ तो सूर्य की ही उपमा दूंगा। सूर्य का दूसरा नाम है जीवन और जो जीना सिखाये, वह है सूर्य। इसके आलावा सब शून्य है। हर वस्तु का विकल्प होता है, लेकिन सूर्य का कोई विकल्प नहीं होता। ऐसी ही थीं मेरी मां, जिनका कोई विकल्प नहीं था और न होगा। वह अपने-आप में एक ही थीं अनुपमा मां।

उषाकाल का सूर्य जैसे ही अपनी लालिमा बिखेरता है, महक उठती है सारी

धरती, खिल उठते हैं फूल-पत्ते और जाग उठती है सारी प्रकृति, मन्दिर, मस्जिद और गिरजों में गूंज उठती है प्रभु-पूजन की गूंज। बस ऐसी ही थीं मेरी मां।

उषाकाल था उनका कृपामय रूप—एक दयामयी मां। जिसके लिये सब फूल याने सब बच्चे बराबर थे, चाहे वे अपने हों या मुझसा—जिसे मां ने जन्म अवश्य नहीं दिया, लेकिन खिलने और महकने का हक सदा प्रदान किया। भगवान सूर्य की तरह मां के जीवन में भी विभिन्न रंग भरे थे।

पहले उषा की लालिमा का स्वरूप और फिर अपना वह स्वरूप जिससे नजर मिलाना तक मुश्किल हो जाये। मैंने मां को देखा है—बिल्कुल इसी तरह जिन्दगी को अलग-अलग रंगों में सँजोते। कभी शीतलता का उषायी रंग, तो कभी तेज सूर्य की प्रखर किरण। अगर सूर्य का स्वरूप सिर्फ उषाकाल ही रह जाये तो प्रकृति अपूर्ण रह जायेगी। वर्षा के लिये समुद्र को चाहिए तेज धूप जो उसके जल को वाष्प का रूप देकर बादलों के साथ मिला दे और इसी प्रक्रिया से जीवनदायीनी वर्षा लाती है खुशहाली का पैग़ाम।

मां का भी तेज स्वरूप हालांकि वर्षा की शीतलता लिये रहता था, लेकिन एक कुशल शासक की भाँति शीतल वर्षा से पहले वाष्प बनाने की क्षमता का परिचय देने मे कभी नही चूकती थीं और कारण था कि उनके अद्‌भुत व्यक्तित्व के सामने किसी की दाल नहीं गलती थी।

मां की प्रेरणा बेटे के लिये सिर्फ व्यवसाय-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं थी, उनका क्षेत्र सूर्य के प्रकाश की भांति ही विस्तृत था—विशाल था।

बड़े बेटे को पन्द्रह दिनों के लिये एन० सी० सी० कैम्प में भेजने पर सहमति देनेवाली मां ही हमें साधु-संतों की जीवनी पढ़ने की भी प्रेरणा देती थीं। आज भी वह पुस्तक "भारत के जगमगाते रत्न" मेरे पास यादगार रूप में मौजूद है। जिसे मां ने मुझे पढ़ने एवं संतों के जीवन से शिक्षा-ग्रहण करने की प्रेरणा हेतु दी थीं।

बच्चों के जन्म-दिन पर मां का रूप कुछ और ही रहता था। हमें खुलकर धमा चौकड़ी का अवसर मिलता था। खोई बैंग की खोई जब तक हम मां पर नही डाल लेते मजा ही नहीं आता और मां भी मेरी इस शैतानी को सहर्ष स्वीकार कर लेती बस हँसतीं और हँसती ही रहती थीं।

मां के संस्मरणों को अगर मैं लिपिबद्ध करना आरम्भ करूँ, तो इक्कीस वर्ष का लम्बा इतिहास शायद कभी सम्पूर्ण ही नहीं कर पाऊँगा। लेकिन छोटी-छोटी बातें और यादें—मां का वह अपनापन कभी भूल नही पाता। 'फेट' मे जाने के लिये घर के बच्चों के साथ, मुझे भी खर्चे के लिये रुपये देना मां कभी भूली हों, मुझे याद नहीं। जब देने की बात चली तो मुझे याद आ रहा है १९७८ मे जब सारा दक्षिण कलकत्ता पानी में डूब रहा था, उस समय मां को अपने बच्चों के

साथ-साथ बाढ़ग्रस्त विभिन्न मुहल्लों में रहनेवाले असहाय लोगो की भी चिन्ता सताने लगी। देखते-ही-देखते रोटियाँ बनने लगी और पोलेथीन वेग मे पैक हो मुहल्ले में बटँने लगीं। ऐसी थी मेरी मा!

सूर्य उगता है, चमकता है और अस्ताचल को चला जाता है। मेरी मा मेरा सूर्य भी आया, चमका और अस्त हो गया। लेकिन उनकी यादे, उनका व्यक्तित्व, उनकी शिक्षा—सब कुछ आज भी मेरे पास है, एक अक्षुण्ण निधि के रूप में।

उनके आदर्शों का मूक छात्र मैं उनके दिवंगत शात मुखमण्डल को निहारता रहा—बगैर अश्रु प्रवाहित किये; लेकिन, अस्ताचल को गया मेरा सूर्य कल नही उगेगा—बस इसी व्यथा ने नम कर दी—मेरी आँखे।

मातृत्व का वह स्वरूप, जो देवों से तुलनीय है ।। मुरारीलाल अग्रवाल

पूजनीया, स्वर्गीया पन्नादेवी कनोई, जिन्हें मैं 'मां' कहकर ही सबोधित करता था और करता रहूँगा। इसका कारण कोई दबाव या जोर नहीं, बल्कि उनके व्यक्तित्व की विशालता है। प्यार, उत्सर्ग, ममता की वह देवी, जो परिवार के करीब आये किसी भी व्यक्ति को पारिवारिक स्वरूप दे देती थी।

मुझे उनका कुछ विशेष मातृ-स्नेह प्राप्त हुआ है। उन्होंने एक बार कहा था कि मेरे चार नही, पाँच लड़के हैं। और उन्होने यह भी शिक्षा दी थी—रोज की दिनचर्या में धैर्य रखकर कार्य करना चाहिए। दूसरों मे दोष देखने की जगह खुद के अन्तर में झांकना चाहिए।

एकबार की घटना है, मैं सपत्नीक लंदन में था। दीपावली पर कलकत्ते बच्चों के पास न पहुँच सकने के कारण मेरा मन क्लान्त था। उस समय मां, परिवार के कई सदस्यों के साथ वही थीं। शाम को बुलावा आया कि वे याद कर रही हैं। जाकर देखा तो विश्वास नहीं हुआ कि हमलोग लंदन के किसी फ्लैट मे हैं। वहाँ तो पूरी दीपावली की तैयारी, दीपों की कतार, लक्ष्मी-छवि व अन्य पूजा-सामग्री के बीच, मुझे व मेरी पत्नी को प्राथमिकता देते हुए निष्कपट प्रेम-भाव का समावेश कर मन का सारा विषाद क्षणों में दूर कर दिया। लक्ष्मीपूजन में निमग्न कान्तिमय मुखमंडल की तरफ देखकर मुझे प्रतीत हुआ कि हम व्यर्थ में छवि-आराधना कर रहे है, जबकि साक्षात् लक्ष्मी समक्ष विद्यमान हैं। सत्य के अद्‌भुत खोज पर पुलकित मन से मैंने उनके इस स्वरूप को शतशत प्रणाम किया।

उनकी चिर-स्मरणीय यादों ने भौतिकता से जूझने की अद्‌भुत शक्ति दी है, और वह भी मुस्कुराते हुए! मुझे उनके नजदीक फल की इच्छा न करते हुए कर्म करने का ज्ञान मिला।

सिद्धि की साधना व उसकी प्राप्ति की बातें सुनने में तो आती है, लेकिन उसकी उपलब्धि पूजनीया मां में साक्षात् विद्यमान थी।

स्त्रीत्व का रूप धारण करते हुए, उन्होंने महापुरुषों के समकक्ष अपने आपको रखा और इस कथन को पूर्णतः सत्य साबित कर दिया कि अच्छा काम, लगन, लक्ष्य, प्रयत्न, सहिष्णुता, नेक विचार अपने-आपको आगे ले जाते हैं। वे उस राजहंस की तरह थीं, जो लाखों कंकड़ों के बीच एक मोती ही चुनता है, कड़ी मेहनत से—

हर मील के पत्थर पे,
है लिख दी ये इबादत भी।
मंजिल नहीं मिलती,
नाकाम इरादों से।।

महान् देवतुल्य लोगों की संगत भगवान् भी करना चाहता है, इसीलिए ज्यादा अच्छे लोगों को अल्प आयु देता है और उन्हें जल्द ही अपने पास बुला लेता है। इच्छाओं की पूर्णतः प्राप्ति व परिवार के लोगों से जो आदर, सत्कार, सेवा, निष्ठा उन्हें प्राप्त हुई, यह अपने-आप में एक इतिहास है।

व्यावहारिकता, खुलापन, कठिनाइयों से जूझने की शक्ति, उनके परिवार को उन्हीं से तो मिली है। वे एक खुली किताब थी, जिनके जीवन का एक-एक शब्द कोई भी पढ़ सकता है और अगर उसका एक शब्द भी फलीभूत कर सके, तो अद्भुत लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। किसी ऐसे ही महापुरुष के वाक्य उन्होंने अपने आप पर उतारे थे—

हैं बहुत कठिनाइयां इन्सान के आगे,
सब कुछ है गवारा मुझे ईमान के आगे।
रौशनी बदनाम न हो जाये कहीं इस डर से,
रख दिया मैंने दिया तूफान के आगे।।

आज वे हमलोगों के बीच नहीं रहीं, उन्हें हम कैसे श्रद्धांजलि देकर अपने भावों को अभिव्यक्त करें! तो आइये, उनके नामरूपी सूर्य की उपासना के लिए हम सब ऐक्यबद्ध हो जाएँ। उनके जीवन को आदर्श बनाकर अंशतः ही सही, अपने-आपको अनुरूप ढालने का प्रयत्न करें। मैं तो यही कहूँगा कि वे एक ऐसी प्रबल शक्ति हैं, जिनकी साधना कर आज भी उनसे पुनः आशीर्वाद पाया जा सकता है।

काश! मैं अपने समय का एक शतांश भी उनके लिए किये गये किसी काम में लगा सकूं, तो मेरा जीवन धन्य हो जाएगा।

बचपन में सामूहिक तौर पर गाया जानेवाला देश को मां मानकर देश-

वासियों द्वारा दिया गया सम्मान आज कनोई परिवार की सिर्फ मां ही नही, हम सबकी मां के लिए दें—

> मिटाने को माता के क्लेश,
> हृदय में लिए अमर संदेश,
> नया युग करना है निर्माण,
> पुरानी नींव नया निर्माण।
> नया युग करना है निर्माण॥

अपनत्व का अहसास ॥ महावीर प्रसाद अग्रवाल

भाभी का ३१ वर्षों का सान्निध्य मेरे जीवन में कितनी रोशनियाँ, कितने गुण भर गया है, इसका अहसास अब उनके जाने के बाद हो रहा है। उनके जीने का अन्दाज साधारण व्यक्तियों से अलग था। उनमें साहस और विनम्रता कूट-कूट कर भरी थी। प्रतिकूल परिस्थिति में भी उनका धैर्य सदा बना रहता। अपने कर्त्तव्य-पथ से वे कभी विचलित न होतीं। विषम से विषम परिस्थिति भी उन्हें डिगाने में समर्थ न हुई। अपने दायित्व को उन्होंने हमेशा बखूबी से निभाया।

मेरे ऊपर उनका असीम अनुराग था। हर दिन जब मैं खानेपर आता, तो घण्टों उनसे बातें होतीं। मेरी सभी समस्याओं का समाधान उनके पास होता, चाहे वे घर की हों या ऑफिस की। उनके इस अपनत्व को पा मैं उनसे इस तरह जुड़ गया था कि आज अपने-आपको बिल्कुल अकेला महसूस कर रहा हूँ।

शक्ति-स्रोत ॥ गोपाल कृष्ण वर्मा

मां एक उदार, सहनशील और परोपकारी महिला थी। अपनी मान-मर्यादा का उन्होंने कभी उल्लंघन नही किया। उनकी बातों मे हमेशा वजन रहता। वे जो कुछ कहतीं, सोच-समझ कर कहती। उनकी सूझ-बूझ बड़ी गजब की थी। न्यायोचित बात कहने में वे कभी नही हिचकतीं। स्वयं व्यथित होते हुए भी वे शक्ति-स्रोत थीं, उनके पास जाकर हर कोई स्वयं में साहस का अनुभव करता था। उनका व्यवहार हम सभी के प्रति आदर एवं प्रेम से भरा होता था। वास्तव में वह एक ममतामयी मां थीं।

आपने जो हमें अपने कर्त्तव्य-पथ पर समस्त विघ्न-बाधाओं को लांघते हुए अग्रसर होने की प्रेरणा दी और दी थीं आत्मबल, उनका उपयोग सदैव सभी परिस्थितियों में हम करेंगे, ऐसा आपको विश्वास दिलाते हैं और दिलाते हैं याद, आपकी अपनी मातृभक्ति में आस्था, क्योंकि मां आप सिर्फ मां थीं।

मां की तस्वीर ।। जे० पी० माथुर

मां की तस्वीर सब समय मेरे ब्रिफकेश में रहती है। मेरा ऐसा विश्वास है कि इस ऑफिस में मैंने जो भी कठिन-से-कठिन कार्य किया, उन सब कार्यों की सफलता का कारण मां ही हैं। मां हमें हर क्षेत्र में प्रोत्साहन देतीं। ऑफिस की स्वच्छता व सफाई की तरफ भी हमारा ध्यान आकृष्ट करती थीं। जब तक वे स्वस्थ रहीं हर दुर्गापूजा की छुट्टियों मे उन्होंने स्वयं खड़े होकर सफाई का निरीक्षण किया।

एक बार कलकत्ते शहर में जब हमारे घर के अन्दर तक पानी भर आया, तो मां ने हमारी परेशानी को समझते हुए, तीन दिन तक लगातार कमर तक पानी में नौकर के हाथ हमारा भोजन भिजवाया। इतना ही नहीं, जब पहली बार वे कश्मीर भ्रमण के लिये गई तो भी उन्होंने हमें याद रखा और मेरी धर्मपत्नी के लिये सुन्दर-सा कश्मीरी साल लेक आईं, जो आज भी उनकी याद दिलाती है और वर्षों तक दिलाती रहेगी।

कोमल हृदया ।। घनश्याम सुरोलिया

श्रीमती पन्नादेवी कनोई को जितना मैंने देखा और जाना मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि उनमें एक महान् नारी के सभी गुण विद्यमान थे। वे एक आदर्श पत्नी, ममतामयी मां व कोमल हृदया मालकिन थीं।

एक बार फिर मां को खो दिया ।। तनमय मित्रा (गोरा)

खून के रिश्ते से भी बड़ा होता है स्नेह का रिश्ता—यह शिक्षा मैंने श्रीमती पन्नादेवी के सान्निध्य में ही पाई, जिन्हें सब श्रद्धा से मां पुकारा करते थे। अपने बच्चों की तो बात ही क्या दूसरा कोई भी उनके निकट गया वह उनके प्रेमपाश में ऐसे बंधकर रह गया मानो परिवार का ही एक अंग हो। परिवार के सदस्य की भांति ही हमारे हर मंगलकार्य में वे उपस्थित रही। जिस समय मेरे ताऊजी (गुरुजी) का स्वर्गवास हुआ, वे अत्यन्त अस्वस्थ थीं, पर फिर भी वे उनके अन्तिम दर्शनार्थ वहाँ आईं और सान्त्वना देकर हमें अपने कर्त्तव्य का बोध

कराया। उस शोक-वेला में भी दूसरों को स्नेह से अभिषिक्त करने की उनकी अनुपम क्षमता को हमने अनुभव किया।

ताऊजी के देहान्त के कुछ महीनों उपरान्त ही हमारी माताजी का स्वर्गवास हो गया। उस समय उन्होंने हमें आश्वासन दिया—"तुमने एक मां को खो दिया, पर दूसरी मां तो है।" अत्यन्त अस्वस्थता में भी वे हमारी सब खबर रखती थीं। उनके जाने के बाद ऐसा अनुभव हो रहा है। मानो हमने फिर अपनी मां को खो दिया है। अब तो कोई नहीं, जो हृदय से लगाके ममतामय शब्दों से पूछेगा—तुम कैसे हो?

ममता की गंगोत्री ।। सुरेशकुमार अग्रवाल

९ वर्ष पहले लाडनूं से मैं घर-परिवार को छोड़कर महानगर कलकत्ता में आया था। डरा-डरा, संकोच-भरा और घबड़ाया हुआ ट्रेन से उतरते ही मैं उसी दिन कनोई-निवास में मां को प्रणाम करने गया, उसी समय एक ही क्षण में सब कुछ बदल गया—ऐसा लगा जैसे अपने ही घर में आ गया हूँ। मां ने मुझे एकदम मां का प्यार दिया और मैं घर का एक मेम्बर (सदस्य) बन गया, जैसे मुन्ना और बब्लू।

रात-दिन वहीं रहना, सोना-उठना, काम करना—मां की सभी पर प्यार की छाया एक-सी रहती थी। छोटे-बड़े सभी एक जैसा स्नेह पाते थे—ऐसा लगा जैसे ये ममता की गंगोत्री थी। पर उनका रोब भी था, सभी काम नियम से होते, मर्यादा से होते, छोटे-बड़े की मर्यादा कायम रहे, ऐसा सुशासन मैंने देखा।

उनके चले जाने से सब कुछ अभी खाली-खाली लगता है। उनकी बातें हमारा पथ-प्रदर्शन करेंगी, प्रभु से यही विनय है।

अचम्भा ।। डॉ० जयन्त बसु

मां प्यार ही प्यार थी। उनमें एक अद्भुत विलक्षण तेज था। उनमें ऐसा अपनत्व एवं ममत्व था, जो सबको आकृष्ट कर लेता था। मेरे उस परिवार से इतने घनिष्ठ संबंध हो गये कि मैं उस परिवार का एक सदस्य बन गया। मां के स्नेहपाश का बंधन कितने प्रगाढ़ थे, उसका अहसास अब मुझे होता है। मां एक प्रखर और बुद्धिमती महिला थीं। उनका साहस, विश्वास, सहनशक्ति देख डा० हो मैं भी आश्चर्य चकित रह जाता था। इतना प्रेम, मृदुव्यवहार, अपनत्व मुझे शायद ही किसी दूसरे रोगी से मिल पायेगा।

चिरस्थाई स्मृति ।। डॉ० असीम कुमार विश्वास

इतिहास में हमें अनेक-अनेक महान् नारियों का परिचय मिलता है, जिन्होंने शौर्य, वीर्य, साहित्य तथा कला में अपने लिए उच्च स्थान बनाया—जिन्होंने देश के लिये युद्ध किया, समाज-सेवा में अपना जीवन व्यतीत किया, उत्तम कोटि के साहित्य व संगीत की रचना को, किन्तु श्रीमती पन्नादेवी कनोई ने तो समाज में रहकर हर स्तर के व्यक्तियों के हृदय में एक विशेष स्थान बनाया। इस तरह के उदाहरण अधिक नहीं देखे जाते। स्नेह, ममता, प्रेम से मनुष्य को अपने कितने करीब लाया जा सकता है, उन्हें बिना देखे विश्वास नहीं होता। अत्यधिक अस्वस्थता की अवस्था में भी उनमें ये गुण पूर्णरूप से विद्यमान थे। भले ही वेदना से अश्रु वह जायें, पर उनके चेहरे की मुस्कुराहट उसी तरह बनी रही। इस तरह का रोगी मेरे डाक्टरी जीवन में कभी नहीं आया।

हमलोगों ने हमेशा उनमें मातृत्व के दर्शन किये और उनकी वही छवि हमारी स्मृति में चिरस्थायी रहेगी।

एक पवित्रात्मा ।। डॉ० एन० सेन

मैं पन्नादेवी कनोई को ३० वर्षों से जानता रहा हूँ। ये पवित्रात्मा, उदार और सहिष्णु महिला थीं। बीमारी की अवस्था में भी इनमें अद्‌भुत धैर्य और साहस था। इनकी उदारता और दानशीलता से अनेक लोग लाभान्वित हुए हैं।

मेरी दृष्टि में मां ।। रबी राय

मां के सामान सुन्दर, स्नेहिल, माधुर्यमय व्यक्तित्व मैंने पहले किसी और में नहीं देखा। मेरा शीश स्वयं ही श्रद्धा से उनके सामने झुक गया।

मैंने इस परिवार में संगीत-शिक्षा का प्रारम्भ किया या नहीं, यह तो मुझे नहीं मालूम, पर मां ने मुझे इस विषय मे हमेशा प्राथमिकता दी। उन्होंने हमेशा मुझे अपनी बहू-बेटियों को गाना सिखाने के लिये कहा। एक बार उन्होंने मुझसे भजन लिखने की इच्छा व्यक्त की।

उदारहृदया मां ने मुझे कभी पराया नहीं समझा। उनके मधुर वाणी व व्यवहार को शब्दों में नहीं पिरोया जा सकता। जब भी मुझे उनसे बातें करने का अवसर मिला, मुझे परम आनन्द की अनुभूति हुई। उनके सान्निध्य को पा मेरा हृदय शान्ति से भर उठता। उनसे बातें करके ऐसा लगता मानो उनमें अन्तःज्ञान का अथाह सागर है। मुझे ऐसा लगा मानो उनकी साहित्य में विशेष रुचि थी, साथ ही अन्य विषयों में भी उन्हें अच्छा ज्ञान था।

धैर्यवान एवं गम्भीर महिला थीं। उनके समझाने का तरीका बिल्कुल अलग होता। वे हमेशा हमें इज्जत देकर बात करतीं। इतने वर्षों में कभी उन्होंने हमें डूंगर महाराज नहीं कहा, हमेशा—'डूंगर महाराजजी कहकर बुलातीं।'

अमिट छाप ।। कन्हैयालाल शर्मा

२३ वर्षों से मैं इस परिवार में कार्यरत हूँ। इस दौरान कई ऐसे मौके आये, जब मैंने कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी उन्हें शान्त व धैर्य से परिपूर्ण देखा। उनके सान्निध्य में रहकर हमलोग काम करके अपने-आपको गौरवान्वित समझते थे और हमारे कार्य करने की शक्ति उनकी देख-रेख में द्विगुणित हो जाती थी। ऐसा था उनका अद्वितीय प्रभाव एवं तेज, जो सब पर एक अमिट छाप छोड़ जाता था। मां वास्तव मे वन्दनीया थी।

अमूल्य धरोहर ।। रामोतार वर्मा

मांजी का व्यवहार हमारे साथ सदा बहुत ही मृदु होता था। हम जब भी जाते वे हमें पूरा आदर-सम्मान देतीं, बैठने को कहतीं और हमारे हालचाल पूछती। उनके इसी सौम्य व्यवहार के कारण सभी कर्मचारियों की उनके प्रति अगाध श्रद्धा थी। कभी जरूरत पड़ने पर वे मदद के लिए सदा तत्पर रहतीं। हमें वे परिवार का ही अंग समझती थी।

उनकी मृत्यु की खबर सुन मैं बिल्कुल स्तब्ध रह गया, मुँह से शब्द ही न निकले। पृथ्वी घूमती हुई-सी नजर आने लगी। हमने उनसे जीवन में काफी कुछ सीखा है, जो हमारी अमूल्य धरोहर है और वह है सबसे समान रूप से प्यार करना, सहनशीलता, परोपकारिता। आज उन्हीं का वह प्रेम और प्यार है, जिसके कारण यहाँ से वही घनिष्ठ संबंध बने हुए हैं।

ममता की प्रतिमूर्ति ।। अब्दुल हमान मोला

आज के करीब बाईस-तेईस वर्ष पहले मैं एक सामान्य दर्जी के रूप में इस परिवार में आया। मां के स्नेह, प्रेम व ममता से परिपूर्ण व्यवहार मिलने के कारण मुझे उनमें अपनी खोई हुई मां मिल गई। मां ने मुझे पुत्र के समान स्नेह दिया। हर विपत्ति में उन्होंने आगे बढ़कर मेरी आर्थिक सहायता की। धर्मपरायणा मां हर धर्म के प्रति श्रद्धा रखती थीं। मैं मुसलमान था, पर फिर भी मुझे उनका भरपूर स्नेह और आशीर्वाद मिला। आशा करता हूँ, जब तक मैं जीवित रहूँगा मां के इस परिवार से मेरा संबंध रहेगा। मां को खोकर एक बार फिर मैं मातृ-हीन हो गया हूँ।

साक्षात् मां ।। संतू सिंह

मां में हम साक्षात् अपनी मां को देखते थे। उन्होंने कभी हमें कर्मचारी होने का अहसास नहीं होने दिया। वे हमारी जरूरतों का ध्यान रखतीं। हम सब उनके परिवार के ही सदस्य के समान थे, अब मांजी नहीं रहीं। हम सब अपने-आपको अनाथ महसूस कर रहे हैं।

विशाल हृदया ।। जोर सिंह राजपूत

मैं ३६ साल से इसी कनोई परिवार में दरवान का कार्य कर रहा हूँ। हर समय मैंने अपने-आपको मां की छत्रछाया में बिल्कुल सुरक्षित महसूस किया। वे हमारी हर छोटी-से-छोटी जरूरतों का ख्याल रखतीं। पुराने नौकर, ड्राइवर व दरवान जो भी शुरू में नियुक्त किये गये थे, वे आज तक कार्य कर रहे हैं। यही उनकी विशाल सहृदयता का परिचय है। अपनी दयालुता के कारण उन्होंने हमारे दिलों में एक श्रेष्ठ मां का स्थान बना लिया था, जिसे हम कभी भूल नहीं सकते।

बेफिक्र थे हम ।। शम्भू

जब तक मां थीं, तब तक हमें कोई चिन्ता-फिक्र नहीं थी। किसी तरह का डर नहीं था। किसी चीज की जरूरत होने पर हम बेझिझक उनके पास पहुँच जाते। उनके रहते हमें कभी कोई कमी महसूस नहीं हुई।

मातृत्व से देदीप्यमान ।। गोपाल चन्द्र बैरा

अपने जन्म के सोलह दिन बाद ही मैंने अपनी मां को खो दिया था। जब मैंने श्रीमती पन्नादेवी को देखा, तो मुझे प्रतीत हुआ कि मां का असली स्वरूप यही है और मां ऐसी ही होती है। उनका चेहरा मातृप्रेम व मातृशक्ति से देदीप्यमान था। इतनी कम उम्र में मां को खोकर मैं बहुत दुखी हूँ।

मां'र भालो'वासा ।। मोलीना

मां आमाके खूब भालो वासतो। कभी दूसरा कोई डाँटता, तो भी अपने पास बुला सान्त्वना दितो। आमी मां काछे मोनेर सब कोथा बोलताम। आज के मां नाई। बाड़ी फाका-फाका लागछे। निजेर मोनेर दुःख बोलते पारी ना।

सर्वगुणसम्पन्ना—मां ।। रामू

मां, आपके जीवन-प्रसंग लिखने के समय आँखों से आँसू उमड़ पड़ते हैं। मां, आप के दर्शन के लिये अन्तरात्मा हमेशा करुण क्रन्दन करती रहती है। लेकिन, जिस तरह पिंजरे में बन्द पक्षी तड़पता है, उसी तरह मैं तड़पकर रह जाता हूँ।

आप एक देवी के रूप में इस कलियुग में अवतरित हुईं, क्योंकि देवियों में जितने गुण पाये जाते हैं, वे सभी आप में विराजमान थे। मां हर गरीब के दु:ख-सुख में हाथ बँटाती थीं।

आपके आशीर्वाद हम सब पर सदा बरसते रहें—यही प्रभु से प्रार्थना है।

मां भी : गुरु भी ।। लाल बहादुर सिंह ड्राइवर

समाज में और अपने कर्मचारियों में मां आपका नाम और यश फैला हुआ है। आज हर कर्मचारी आपकी याद में आँसू बहा रहा है। मुझे उस दिन की बात याद है, जब मैं उनको एक समय विक्टोरिया ले जा रहा था। ट्राफिक के पास गाड़ी रुकी हुई थी, उसी समय एक भिखारी आकर मां-मां बोलने लगा। पास में बैठे बच्चे कहने लगे—दादी देख कैसा गन्दा है भिखारी! मां ने जवाब दिया—बेटे, सभी एक हैं। भगवान् के दरबार में सबका एक-सा ही स्थान है। यहाँ पैसे को लेकर बड़े-छोटे का झूठा भेद कर रखा है। लेकिन उनके यहाँ सभी को सिर झुकाकर ही जाना पड़ता है। यह सुनकर मुझे बहुत ज्ञान मिला। उस दिन से मेरे लिए मां ही नहीं—वे गुरु भी हो गईं।

यह है—मां की अमर कहानी।

जीवन क्या है ? ।। शोभा

बिखराव

टकराव

द्वन्द्व

वैमनस्य कालुष्य

अभाव दारिद्र्य

दुःख प्रलोभन

जीवन क्या है

धूप-छांव

आंख मिचौनी

दुःख-सुख

पर दूर क्षितिज से

गुंजरित अन्तर्ध्वनि

ना

जीवन है

मां का आंचल

प्यार की गरिमा

ममत्व

प्रगाढ़ आलिंगन

मां का अद्भुत चुम्बन ।। □

देहि सौभाग्यमारोग्यं देहि मे परमं सुखम्
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि ।।

मातृ-नीराजना

तव च का किल न स्तुतिरम्बिके
सकलशब्दमयी किल ते तनुः।
निखिलमूर्तिषु मे भवदन्वयो
मनसिजासु बहिःप्रसरासु च ॥



मातृभूमिः देवो भव

पत्र-प्रतिलिपि

अपनी धरती से रागात्मक लगाव ही राष्ट्रीयता की आधारशिला है, इसे भारतीय जनमानस आरम्भ से ही जानता है। जब वैदिक काल के ऋषि ने "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' कहकर अपना परिचय दिया, तब से आज तक तुषारकिरीटिनी, अनेक सरिताओं की मुक्तावली से सज्जित, हर शस्य परिधान से शोभित भारतमाता की प्रतिमा प्रत्येक भारतीय के मनमन्दिर में प्रतिष्ठित रही और आज के लोकतंत्र में भी वह अखण्डित है।

राष्ट्र न केवल पर्वत, समतल तथा नदीनिर्झरों की समष्टि है, न इस परिवेश से विच्छिन्न मानव-समूह की अनियन्त्रित भीड़ मात्र। वास्तव में वह तो इस भौगोलिक इकाई से रागात्मक जीवन-विकास पानेवाले मानवों का परिवार है, जो अपनी भूमि की रक्षा के लिए प्राणों की बलि देने को तत्पर रहता है।

दीक्षान्त के उपरान्त ऋषि-गुरु अपने को अनेक आदेशों से अनुशासित करता था। उसी में आदेश है 'मातृदेवो भव !' माता को देवता मानो।

मैंने इस अनुशासन में भूमि जोड़कर अपने (विक्रम) विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण के अन्त में कहा है, "मातृ भूमिः देवो भव"। मुझे प्रसन्नता है कि वह वाक्यांश सबको राष्ट्रीयता का पर्याय जान पड़ा।

'शुभास्ते पन्थानः सन्तु'

—महादेवी वर्मा

मङ्गलाशीष

माता का हृदय, वीर का संकल्प,
दक्षिण के मलयानिल की मधुरता,
वे पवित्र आकर्षण और शक्ति-पुंज
जो आर्य-वेदिकाओं पर मुक्त एवं उद्दाम दमकते हैं,
वे सब तेरे हों,
और वह सब भी तेरा हो
जिसे अतीत में, कभी किसी ने स्वप्न में भी न सोचा हो—
तू हो जा भारत की भावी सन्तान,
स्वामिनी, सेविका, मित्र एकाकार!

—स्वामी विवेकानन्द

तेरे ही लिए मां

तेरे ही लिए मां, यह देह और प्राण समर्पित हैं।
तेरे ही शोक में ये आंखें बरसेंगी, यह वीणा तेरा ही गीत
गायेगी।

यद्यपि ये बाहु अक्षम हैं, दुर्बल हैं, फिर भी तेरा ही
कार्य-साधन करेंगे।

यद्यपि इस असि पर जंग चढ़ गया है, फिर भी प्रयत्न रहेगा
कि इससे तेरे बन्धन टूटें।

ए मां, यद्यपि मेरे रक्त से तेरा कुछ बननेवाला नहीं है,
तब भी,

तेरा तिलभर कलंक धोने के लिये तथा तेरी यातना का
दावानल बुझाने के लिए यह न्योछावर है।
ए जननी, यद्यपि मेरी इस वीणा में कुछ बल नहीं, फिर भी,
क्या जाने मां,

संभव है यह वीणा-तान सुनकर कहीं कोई तेरी एक संतान
ही जाग उठे।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

काली मां

सारी आवाजें	:	हे भयंकर औ' कोमल औ' दिव्य हे समग्र बलि की रहस्यमयी माँ, हम सजा रहे तुम्हारे मन्दिर की गहन वेदियाँ, कुंकुम-अक्षत और पवित्र पत्रों से, लाते हम तेरे लिए सारी भेंट जीवन-मरण की, उमा ! हेमवती !
कुमारियाँ	:	हम ला रहीं तेरे वन से बेर औ' कलियाँ।
वधुएँ	:	हम ला रहीं उल्लास वधू की प्रार्थना का।
माताएँ	:	हम ला रही मातृत्व की सुमधुर पीड़ा।
विधवाएँ	:	और हम निराशा के कटु जागरण।
सारी आवाजें	:	लाते हम तेरे लिए सारे आनन्द औ' सारे दुःख, अम्बिका ! पार्वती !
कारीगर	:	हम ला रहे धरती की निम्न श्रद्धांजली।
किसान	:	हम ला रहे अपने मेमने और गेहूँ की बालें।
विजेता	:	और हम अपनी तलवारें व प्रतीक परिश्रम के।
विजित	:	और हम हार की लज्जा व व्यथा।
सारी आवाजें	:	लाते हम तेरे लिए सम्पूर्ण विजय औ' सारे आँसू, गिरिजा ! शाम्भवी !
विद्वान्	:	हम ला रहे प्राच्य कलाओं के रहस्य।
पुरोहित	:	हम ला रहे पुरातन विश्वासों के खजाने।
कवि	:	और हम हृदय का सूक्ष्म संगीत।
देर भक्त	:	और हम निजकर्मों की निद्राहीन पूजा।
सारी आवाजें	:	लाते हम तेरे लिए समस्त यश औ' सारी महिमा, काली ! महेश्वरी !

—सरोजनी नायडू

मां कह एक कहानी

"मां, कह एक कहानी।"
"बेटा, समझ लिया क्या तूने
मुझको अपनी नानी?"

"कहती है मुझसे यह चेटी,
तू मेरी नानी की बेटी!
कह मां, कह लेटी ही लेटी,
राजा था या रानी?
राजा था या रानी?
मां कह एक कहानी।"

"तू है हठी मानधन मेरे,
सुन उपवन में बड़े सबेरे
तात भ्रमण करते थे तेरे,
जहां सुरभि मनमानी।"
"जहां सुरभि मनमानी?
हां, मां यही कहानी।"

"वर्ण-वर्ण के फूल खिले,
झलमलकर हिम-बिन्दु खिले थे,
हलके झोंके हिले-मिले थे,
लहराता था पानी।"
"लहराता था पानी?
हां, हां, यही कहानी।"

"गाते थे खग कल-कल स्वर से,
सहसा एक हंस ऊपर से,
गिरा, बिद्ध होकर खर-शर से,

हुई पक्ष को हानि!"
"हुई पक्ष की हानि?
करुणा-भरी कहानी!"

"चौंक उन्होंने उसे उठाया,
नया जन्म-सा उसने पाया।
इतने में आखेटक आया,
लक्ष्य-सिद्धि का मानी!"
"'लक्ष्य-सिद्धि का मानी?'
कोमल-कठिन कहानी!"

"मांगा उसने आहत पक्षी,
तेरे तात किन्तु थे रक्षी।
तब उसने, जो था खगभक्षी—
हठ करने की ठानी।"
"हठ करने की ठानी?
अब बढ़ चली कहानी!"

"हुआ विवाद सदय-निर्दय में,
उभय आग्रही थे स्वविषय में,
गयी बात तब न्यायालय में,
सुनी सभी ने जानी!"
"सुनी सभी ने जानी?
व्यापक हुई कहानी।"

"राहुल, तू निर्णय कर इसका—
न्याय पक्ष लेता है किसका?
कह दे निर्भय, जय हो जिसका।
सुन लूँ तेरी बानी।"
"माँ मेरी क्या बानी?
मैं सुन रहा कहानी!"

कोई निरपराध को मारे,
तो क्यों अन्य उसे न उबारे?
रक्षक पर भक्षक को वारे,
न्याय दया का दानी!"
"न्याय दया का दानी?
तूने गुनी कहानी!"

(यशोधरा)
—मैथिलीशरण गुप्त

मां अपने आलोक निखारो

मां अपने आलोक निखारो,
नर को नरक-त्रास से वारो।

विपुल दिशावधि शून्य वगंजन,
व्याधि-शयन जर्जर मानवमन,
ज्ञान-गगन से निर्जर जीवन,
करुणा करो उतारो, तारो।

पल्लव में रस, सुरभि सुमन में,
फल में दल, कलरव उपवन में,
लाओ चारु-चयन चितवन में,
स्वर्ग धरा के कर तुम धारो।

—निराला

मुझको कहते हैं माता

अरे, मुझको कहते हैं माता।
क्या जानेगा मेरे जी को, जो तू हुआ विधाता ?

जिस स्वरूप को प्रेम-योगिनी बन कर खूब सँवारा,
उसे आज जी के टुकड़े पर, मैंने बरबस वारा।

रुमझुम करते दोनों आये, यशुदा-सुत, मम लाला,
मैं तो प्रथम गोद में लूंगी, अपना प्रसव-कसाला;

सुत, मेरे जीवन, सुख, धन, यौवन की कुरबानी है,
मेरे रक्त-बिन्दुओं की यह दुनिया लासानी है।

मुझसे मेरे पुनर्जन्म का बचपन खेल रहा है,
मेरे जी का टुकड़ा हंसकर मुझे ढकेल रहा है।

× × ×

कल मैंने रोते पाया, फिर घुटनों के बल चलता,
फिर चन्दा के लिये दौड़ जाने पर खूब मचलता,
फिर मैंने शाला में जाते देखा धीरे-धीरे,
प्रश्नों से गुरु को तँगवाते देखा धीरे-धीरे,
धीरे से वह दिन भी देखा––बढ़ी नर्मदा तेरा,
मृगनाथ के विन्ध्य-शिखर पर दौड़ चढ़ा हँस-हँसकर,
फिर देखा सामन्त जनों में, मेघ-गर्जना करते,
फिर देखा, विजयश्री को, घायल होकर भी वरते

× × ×

अरी सीपियों, तुमने बूंदों से मोती रच डाले,
किन्तु बिन्दु से सिन्धु लाड़ला मेरा भी तो देखो!
'जग जादू का नहीं?' भूल मत कहना ऐसा फिर से,
मानव-बूंदों की यह प्रभुता, किस जादू से कम है?
अरे-किन्तु मैं फूल न जाऊँ, भूल न जाऊँ पथ से,
कोई रहे विश्व का, मुझ दुखिया का यह लल्ला है

× × ×

इसे देखती, कहती–––"मैं हूँ विश्व बनाने वाली"
इसे पिलाती कहती––"मैं ही विश्व जिलाने वाली"
इसे अँगुलियों चला––"अहा! मैं विश्व चलाने वाली",
ब्रह्मा, विष्णु मुझी में हैं, मैं? जगज्जननि हूँ क्या मैं?

× × ×

मैं इसकी जग––जननी हूँ, जग धात्री हूँ, जग माँ हूँ,
इस मधुमादक भूतकाल की, परम पुण्य–गाथा हूँ
यह मेरा मन-मोहन है, मुरलीधर है, गिरधर है,
मेरे घर की ज्योति, ज्योति के किस नश्वर का वर है
मैं इस परम ज्योति की पगली नम्र भार-वाहक हूँ,
हूँ, प्राणों के मूल्य ज्योति की मैं ग़रीब गाहक हूँ

—माखनलाल चतुर्वेदी

बालिका का परिचय

यह मेरी गोदी की शोभा
सुख सुहाग की है लाली।
शाही शान भिखारिन की है
मनोकामना मतवाली॥

दीप-शिखा है अन्धकार की
घनी घटा की उजियाली।
ऊषा है यह कमल-भृंग की
है पतझड़ की हरियाली॥

सुधा-धार यह नीरस दिल की
मस्ती मगन तपस्वी की।
जीवन ज्योति नष्ट नयनों की
सच्ची लगन मनस्वी की॥

बीते हुए बालपन की यह
क्रीड़ापूर्ण वाटिका है॥
वही मचलना, वही किलकना
हँसती हुई नाटिका है॥

मेरा मन्दिर, मेरी मसजिद
काबा-काशी यह मेरी।
पूजा-पाठ, ध्यान-जप-तप है
घट-घट-वासी यह मेरी॥

कृष्णचन्द्र की क्रीड़ाओं को
अपने आँगन में देखो।
कौशल्या के मातृमोद को
अपने ही मन में लेखो॥

प्रभु ईसा की क्षमाशीलता
नबी मुहम्मद का विश्वास।
जीव दया जिनपर गौतम की
आओ देखो इसके पास॥

परिचय पूछ रहे हो मुझसे,
कैसे परिचय दूँ इसका।
वही जान सकता है इसको,
माता का दिल है जिसका॥

—सुभद्राकुमारी चौहान

स्वर्ण-तरणि मां...

स्वर्ण-तरणि मां चरण-तरण को भव वरुणालय।
निज अक्षय मणिदीप तिमिर जिससे मन का क्षय॥
कोटि स्वर्ग-अपवर्ग मातृपद पर न्योछावर।
जननी ही निज तीर्थ प्रकट जिससे तीर्थंकर॥

—अतुलकृष्ण गोस्वामी